सीमान्तों के अन्वेषक

श्यामाचरण दुबे

संकलन-संपादन

लीला दुबे–सुधीश पचौरी

सीमान्तों के अन्वेषक : श्यामाचरण दुबे

लीला दुबे–सुधीश पचौरी

वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली-110002

सीमान्तों के अन्वेषक श्यामाचरण दुबे

संकलन-संपादन
लीला दुबे सुधीश पचौरी

ISBN-81-7055-528-0

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1997
© लेखकाधीन
मूल्य : 250.00
आवरण चित्र : मुकुल दुबे

निधि लेजर प्वाइंट, दिल्ली-110032
द्वारा कम्पोज

शुभम ऑफसेट, दिल्ली-110032
द्वारा मुद्रित

SEEMANTO KE ANVESHAK
SHYAMACHARAN DUBE
by Leela Dube & Sudhish Pachori

29 दिसम्बर, 1952—युवा प्रो. श्यामाचरण दुबे

प्रो. श्यामाचरण दुबे : संक्षिप्त परिचय		9
भूमिका	लीला दुबे	13
खण्ड : 1 : प्रो. दुबे स्मृति		
स्मृति कादम्बिनी	सुमति मुटाटकर	23
एक प्रतिभा पारखी एवं सहृदय समाजशास्त्री	कैलाश नाथ शर्मा	32
सागर के वे दिन	फ्रेंसीन कृष्णा	35
प्रो. दुबे : स्मृतियों में	प्रेमशंकर	39
एस. सी. दुबे से श्यामाचरण दुबे तक	ब्रजराज चौहान	46
प्रोफ़ेसर डीलक्स	रमानाथ मिश्र	53
दुबे जी आपसे नाराज़ हैं	गणेश मंत्री	59
भारतीय भाषा और परंपरा के प्रहरी	बैद्यनाथ सरस्वती	61
श्यामाचरण दुबे : स्मृति-चित्र	निर्मला जैन	65
नीर-क्षीर विवेक	बिशन टंडन	69
पथ-प्रदर्शक के बिना हम	सौमेन्द्र मोहन पटनायक	73
अभी उनकी बहुत ज़रूरत थी	प्रोफ़ेसर सच्चिदानंद	76
'मैं पूर्वाशा का दुर्वासा हूँ'	सावित्री दूबे	82
इतने सारे पेरों के बावजूद	प्रभाष जोशी	88
त्वमेव गुरुश्च पिता त्वमेव	योगेश अटल	92
मेरे मित्र श्यामाचरण दुबे	ब्रह्मदेव शर्मा	105
वह हँसी बहुत कुछ कहती थी	नामवर सिंह	109
समान—धर्मा समाजशास्त्री	पूरनचंद्र जोशी	112
विचारवान विद्वान, सहृदय मित्र एवं शिक्षक	सुरेशचंद्र शुक्ल	120
व्यक्ति की अस्मिता के प्रबल समर्थक	नन्दू राम	124
स्वायत्त समाजविज्ञान के अन्वेषी	गिरीश्वर मिश्र	132
अपने समय और समाज से जुड़ी बौद्धिकता	मैनेजर पाण्डेय	136
आदर्श समाज वैज्ञानिक	आनन्द कुमार	148
दुबे जी की याद	मृणाल पाण्डे	154
विवेक-युक्त मन व विद्वेष-रहित वाणी	नंद चतुर्वेदी	157
शील की भव्यता	राजकिशोर	163
कभी न थकने वाले हमारे मार्गदर्शी मित्र	शोभिता जैन	166
रिश्तों को बरतने का तरीक़ा	मुहम्मद तालिब	169
डॉ. श्यामाचरण दुबे : स्मृति	कृष्णनाथ	171
अब मैं जा सकता हूँ	सुधीश पचौरी	174
अन्तिम धरोहर	दयाकृष्ण	178

खण्ड : 2 : प्रो. दुबे के निबंध और व्याख्यान
भारतीय समाज : परम्परा और गतिशीलता 183
सांस्कृतिक बहुलतावाद 186
इतिहास का बोझ 194
लोक-साहित्य और संस्कृति 197
लोक-कलाओं का भविष्य 205
आदिवासी धरोहर 213
साहित्य की मेरी पहचान 220
भारतीय संस्कृति : परिवर्तन की चुनौतियाँ 225
इक्कीसवीं सदी की चुनौतियाँ 229

खण्ड : 3 : प्रो. दुबे से वार्ताएँ
सहिष्णुता और हमारा लोकतंत्र 235
'यह कैसा राष्ट्रीय विकास है ?' 237
'मैं प्रश्न खड़े करने में विश्वास रखता हूँ' 243
'कुछ को सँजोना और कुछ को खारिज करना होगा' 246
'संसार को अलविदा कहते समय····' 249

परिशिष्ट
1. लेखक परिचय 252
2. प्रो. श्यामचरण दुबे की संदर्भित पुस्तकें 255

प्रो. श्यामाचरण दुबे : संक्षिप्त परिचय

प्रो. श्यामाचरण दुबे में अभिव्यक्ति की असाधारण क्षमता थी, वे कुशल शब्द-शिल्पी थे। यद्यपि कई दशकों से मानवविज्ञान और समाजविज्ञान के क्षेत्रों में सक्रिय प्रो. दुबे का यह परिचय उनके योगदान को देखते हुए अपर्याप्त है, फिर भी यह उनके एक विशेष गुण को रेखांकित करता है। गूढ़ प्रत्ययों और जटिल विचार-प्रक्रियाओं को प्रो. दुबे सहज और बोधगम्य बना देते थे। प्रो. दुबे ने एक अध्येता, विश्लेषक और शिक्षक के रूप में अपना सारा काम हिन्दी और अंग्रेज़ी, दोनों ही भाषाओं में किया। उन्हें एक विचारवान मानवविज्ञानी, मनस्वी समाजशास्त्री, संस्कृति के प्रखर अध्येता और आलोचक तथा साहसी राजनीतिक विश्लेषक के साथ-साथ प्रभावशाली वक्ता के रूप में भी जाना जाता रहा है।

1920 के दशक के उत्तरार्द्ध में उनके परिवार में एक छोटा-सा उपक्रम आरम्भ हुआ। मूल रूप से मध्यप्रदेश के बुन्देलखंड क्षेत्र का तीन सदस्यों का यह छोटा-सा परिवार दक्षिण-पूर्वी मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ अंचल की सुदूर ज़मींदारियों में रहता था। राष्ट्रवादी माता और कोर्ट ऑफ वार्ड्स के प्रबन्धक पिता के पुत्र (प्रो. श्यामाचरण दुबे : जन्म 25 जुलाई, 1922) की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के ऐसे प्राथमिक विद्यालय में प्रारम्भ हुई जहाँ टाट-पट्टी पर विद्यार्थियों को बैठना पड़ता था। इस परिवार ने 'सेवक' नामक एक पत्रिका निकालना शुरू किया। यह पत्रिका साधारण काग़ज़ पर हाथ से लिखकर निकाली जाती थी। माता-पिता इस पत्रिका के संरक्षक थे, और परिवार के एकमात्र नन्हे बालक पर इसके सम्पादन और विषय-सामग्री जुटाने का दायित्व था। यद्यपि 'सेवक' की पाठक-संख्या परिवार तक ही सीमित थी, लेकिन बालक श्यामाचरण दुबे के अक्षर-विश्व में प्रवेश की यह शुरुआत थी।

कुछ ही दिनों बाद, जब इस 'नन्हे लेखक' की आयु केवल सात-आठ वर्ष की थी, उसे अपनी माता का विछोह सहना पड़ा। परिणामस्वरूप बाद की पढ़ाई या तो दादी के घर रहकर, या ऐसे स्कूल में हुई, जहाँ छात्रावास थे। छुट्टियों में गरमी के लम्बे दिनों और जाड़े की सुनसान रातों में, जीवन के कड़वे-मीठे अनुभवों के साथ पिता और पुत्र अपने सपने सँजोते रहते थे। बालक श्यामाचरण को छपे हुए शब्दों के रूप में एक सच्चा मित्र, कल्पना का धरातल, विश्वसनीय साथी और संरक्षक मिला। उसने पढ़ने को अपना ध्येय बना लिया। प्रारम्भ हिन्दी की पत्रिकाओं और पुस्तकों से हुआ जो आगे चलकर अंग्रेज़ी के ग्रन्थों तक पहुँच गया। अध्ययन की इस चाह में किस्से-कहानियाँ और लोककथाओं से लेकर श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियाँ और विश्व-साहित्य के मानक ग्रन्थ—सब शामिल थे। नतीजतन श्यामाचरण दुबे के लेखन में संवाद की एक सार्थक और अद्भुत क्षमता उसी काल में लक्षित होने लगी।

प्रो. दुबे ने, जब वे हाईस्कूल में थे, फिल्म पत्रिकाओं के लिए लिखना शुरू किया। जबलपुर के मॉडल हाईस्कूल में पढ़नेवाले चौदह वर्षीय छात्र के लिए अपने लिखे शब्दों को

पत्रिकाओं में छपा हुआ देखना सचमुच रोमांचकारी अनुभव था। कुछ ही वर्षों में उन्होंने 'हंस', 'विशाल भारत' और 'मॉडर्न रिव्यू' जैसे प्रतिष्ठित पत्रों के लिए गम्भीर लेख लिखना आरम्भ कर दिया। इन लेखों में छत्तीसगढ़ के आदिवासियों और ग्रामीणों की लोकसंस्कृति, परम्पराएँ, गीत आदि से सम्बन्धित सामग्री थी। लेख छपते गये और तरुण लेखक को ख्याति मिलती गयी।

आगे चलकर नागपुर विश्वविद्यालय से राजनीति विज्ञान में प्रथम श्रेणी में ऑनर्स स्नातक उपाधि पानेवाले श्यामाचरण दुबे ने मानवविज्ञान को पी-एच. डी. हेतु शोध के लिए चुना। उनके इस फ़ैसले पर विश्वविद्यालय में काफी आश्चर्य हुआ, क्योंकि एक स्थापित विषय में दो दशकों के बाद प्रथम श्रेणी में ऑनर्स स्नातक होनेवाले वे पहले छात्र थे। मानवविज्ञान में अपने शोध-कार्य के लिए उन्होंने छत्तीसगढ़ में बसनेवाली कमार जनजाति को अध्ययन का विषय बनाया। इस तरह बालक श्यामाचरण के सपनों को युवा श्यामाचरण ने अपने परिश्रम से पी-एच. डी. शोध-प्रबन्ध में यथार्थ रूप दिया। 'द कमार' नामक उनका शोध-प्रबन्ध जनजातियों-सम्बन्धी अध्ययन-क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। आज़ादी के संक्रमण के दौर में 'द कमार' पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर काफ़ी चर्चित हुई। इस प्रकार 25 वर्ष की उम्र में श्यामाचरण दुबे ने सांस्कृतिक संवाद की कला में अपनी क्षमता का परिचय दिया। अपने बाल्यकाल से युवावस्था तक आते-आते श्यामाचरण दुबे मानवीय संवेदनाओं को समझने और उन्हें अभिव्यक्त करने में सिद्धहस्त हो चुके थे। इसे उन्होंने अपने लेखों और शोध-ग्रन्थ से प्रमाणित कर दिया था।

कमार जनजाति पर अपने शोध-प्रबन्ध के बाद दुबेजी ने भारतीय ग्रामीण व्यवस्था का अध्ययन आरम्भ किया। इस क्षेत्र में 'इंडियन विलेज' (भारतीय ग्राम) उनकी सशक्त रचना थी। आन्ध्र प्रदेश के शामीरपेठ गाँव को आधार बनाकर उन्होंने भारतीय ग्रामीण जीवन-पद्धति और सामाजिक व्यवस्था का तानाबाना 'इंडियन विलेज' में प्रस्तुत किया। दक्षिण एशिया के किसी गाँव का इतना विस्तृत और गहरा अध्ययन पहली बार किया गया। यह पुस्तक विश्व-विख्यात हुई।

'इंडियन विलेज,' जिसका अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है, और देश-विदेश में कई संस्करण भी निकले हैं, सिर्फ़ एक ग्रन्थ ही नहीं था, ग्रामीण जीवन के अध्ययन के लिए यह पुस्तक प्रस्थान-बिन्दु बनी और दो दशकों तक समाजशास्त्रियों के लिए मार्गदर्शक साबित हुई। इसमें ग्रामीण जीवन के अनेक पक्षों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण है जिनकी ओर पहले किसी ने ध्यान नहीं दिया था।

नियोजित विकास की प्रक्रिया का सूक्ष्म अध्ययन 'इंडियाज़ चेंजिंग विलेजेज़' में किया गया था। विकासशील देशों में इस पुस्तक का व्यापक उपयोग हुआ और भारत के सामुदायिक विकास-कार्यक्रम पर इसकी स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। बाद में प्रो. दुबे ने नौकरशाही (प्रशासन-तन्त्र), संचार, विकास और शिक्षा पर अनेक गवेषणात्मक लेख लिखे। इनका योगदान इतना महत्त्वपूर्ण था कि उनसे इन क्षेत्रों में अध्ययनकर्ताओं की नयी पौध विकसित हुई। प्रो. दुबे ने इन विषयों में अध्ययन की नयी सम्भावनाएँ खोजीं और उन्हें नये आयाम दिये। उनके इस योगदान ने तथ्यों के सरलीकरण के बिना ही संश्लेषण की नयी क्षमता विकसित की है। अपने

क्षेत्र में पाँच दशक तक सक्रिय रहे प्रो. दुबे का यह योगदान अप्रतिम है। अपनी पुस्तक 'माडर्नाइज़ेशन एंड डेवलेपमेंट : सर्च फॉर ऑल्टरनेटिव पेरेडाइम्स' में उन्होंने आर्थिक और सामाजिक विकास का गम्भीर अध्ययन कर विकास की नयी धाराएँ विकसित की हैं। यह पुस्तक युनाइटेड नेशंस युनिवर्सिटी के तहत ज़ेड प्रेस द्वारा प्रकाशित की गयी है।

शब्दों को अभिव्यक्ति देने की कला भी प्रो. दुबे के पास थी। 1952-1953 में स्कूल ऑफ ओरियंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज़ और लन्दन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स द्वारा संयुक्त रूप से लन्दन में आयोजित गोष्ठियों में एक ऊर्जावान भारतीय मानवशास्त्री के रूप में हिस्सा लेकर उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति-क्षमता को प्रमाणित किया। इसी के बाद उन्हें 'तकनीकी विकास' की मानव-समस्याओं पर पेरिस में 'यूनेस्को' द्वारा आयोजित विशेषज्ञों की गोलमेज़ कॉन्फरेन्स में आमन्त्रित किया गया। 1950 से लेकर 1995 के अन्त तक प्रो. दुबे ने देश और विदेशों में आयोजित अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों, परिचर्चाओं और सम्मेलनों में भाग लेकर अपने विचार प्रस्तुत किये। पेरिस में ही एक बार फिर 'विकास और संस्कृति' पर विचार करने के लिए जमा हुए समाजवैज्ञानिकों के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यदल का अध्यक्ष उन्हें बनाया गया था। दशकों तक समाजविज्ञान के क्षेत्र में प्रो. दुबे द्वारा की गयी अनवरत साधना को यह अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता और सम्मान था।

किसी भी वक्ता का श्रोताओं से तादात्म्य होना आवश्यक है, और वह सफल शिक्षक तभी माना जायेगा जब उसे सुनकर लोग उसका अनुसरण करें। प्रो. श्यामाचरण दुबे इस कसौटी पर भी खरे उतरे। विभिन्न विषयों के अध्येताओं का उनके बारे में यही अनुभव है कि वे सबसे पहले एक शिक्षक थे। उन्होंने लखनऊ से लन्दन, नागपुर से सागर और उस्मानिया से कार्नेल तक अपने-आपको सार्थक और सशक्त ढंग से अभिव्यक्त करने में सफलता पायी। प्रो. दुबे ने माओवादियों के तर्क, मनुवादियों के आत्म-संवाद, डुर्खिम के सिद्धान्तों की मौत पर शोक, गांधीवाद के प्रतिवाद, हो ची मिन्ह की प्रशस्ति, पं. नेहरू के खंडन, सी. राइट-मिल्स के अक्षम्य अपराध और लोहिया के विचारों की अनसुनी पर विलाप जैसी अनेक प्रतिक्रियाओं को धैर्य पूर्वक सुना। उन्होंने छात्रों से ज़्यादा-से-ज़्यादा अध्ययन, विचार और सार्थक संवाद का आग्रह किया जिससे जीवन और विचारों का सिलसिला निरन्तर प्रवहमान रहे। प्रो. दुबे एक सफल शिक्षक इसलिए थे कि उन्होंने बिना किसी पूर्वाग्रह के संवाद के माध्यम से अपने विद्यार्थियों से मानवीय और वैचारिक तादात्म्य स्थापित किया। दरअसल, संवाद की संस्कृति में उन्हें अटूट विश्वास था।

प्रो. दुबे एक मानवशास्त्री और सामाजिक विज्ञान के विद्वान् होने के साथ-साथ संस्थाओं के निर्माता और कुशल प्रशासक भी रहे। पहले उन्होंने राष्ट्रीय सामुदायिक संस्थान को एक सक्षम प्रशिक्षण और अनुसन्धान केन्द्र बनाया। इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी, शिमला, के निदेशक के रूप में भी उन्होंने अपनी इस क्षमता का परिचय दिया और उनके कार्यकाल में यह संस्था शोध एवं विचार तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिचर्चाओं का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में उनके कार्यकाल का आज भी आदर से स्मरण किया जाता है। मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा अनुदान आयोग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने विश्वविद्यालयों और कॉलेजों के पाठ्यक्रमों का आधुनिकीकरण कराया।

अपनी लोकतान्त्रिक भावना के साथ-साथ एक प्रशासक के रूप में प्रो. दुबे अकादमिक स्वायत्तता के पक्षधर रहे। उन्होंने सत्ताधीशों की सनक के मुक़ाबले अपने अकादमिक सहयोगियों की अभिव्यक्ति की आज़ादी को ज़्यादा तरजीह दी। इस सन्दर्भ में उनके स्वाभिमान को कभी-कभी विद्रोही तेवर भी माना गया, पर वे अपनी निष्ठा से डिगे नहीं। एक प्रशासक और विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सलाहकार के रूप में प्रो. श्यामाचरण दुबे को एक साहसी और मानवीय गुणों से सम्पन्न व्यक्ति के रूप में याद किया जाता है।

दशकों तक विभिन्न क्षेत्रों में काम करनेवाले प्रो. दुबे का अपनी मातृ-भाषा से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा। हिन्दी साहित्य के प्रति अपार रुचि और आस्था के साथ उन्होंने हिन्दी में अपना लेखन ज़ारी रखा। अपने लेखन-काल के प्रारम्भ से लेकर आज तक हिन्दी की श्रेष्ठ एवं प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में सांस्कृतिक और साहित्यिक विषयों पर लिखे उनके विभिन्न लेख इसके जीवन्त प्रमाण हैं। सन् 1960 के प्रारम्भ में उनकी 'मानव और संस्कृति' पुस्तक का प्रकाशन हुआ, जिसका तीन दशकों के बाद भी पुनर्मुद्रण हो रहा है। 1988 में दिल्ली आने के बाद हिन्दी के साथ-साथ प्रो. दुबे अंग्रेज़ी में भी लिखते रहे। उनकी पुस्तक 'इंडियन सोसायटी', जिसका अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ है, के अलावा उनके अंग्रेज़ी में लिखे कई लेख और ग्रन्थ भी चर्चित हुए लेकिन अपनी मातृभाषा के प्रति उनका लगाव जीवन के अंतिम दशक में और ज़्यादा बढ़ गया था।

1990 से लेकर 1994 तक की अवधि में उनकी तीन पुस्तकें 'परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति,' 'शिक्षा, समाज और भविष्य' और 'संक्रमण की पीड़ा' प्रकाशित हुईं। 'परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति' के लिए उन्हें ज्ञानपीठ ने मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित किया। प्रो. दुबे की आख़िरी तीन पुस्तकें 'विकास का समाजशास्त्र,' 'समय और संस्कृति' और 'भारतीय ग्राम' ('इंडियन विलेज' के अनुवाद का उद्धरित संस्करण) उनके निधन के चार दिन बाद प्रकाशित हुईं। जो योजनाएँ पूरी नहीं हो पायीं, उनमें प्रमुख हैं 'परम्परा और परिवर्तन,' यह निबंधों का संग्रह और 'साहित्य और समाज के अंतर्संबंधों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण'। पहला लगभग तैयार था, दूसरे के लिए निबंध तैयार हो रहे थे। और भी बहुत सारी सामग्री अप्रकाशित रह गयी।

प्रो. दुबे का ख़ास विषयों पर बेझिझक लिखना, अपने सिद्धांतों व आस्थाओं पर अटल रहकर किया संस्थाओं का संचालन, आदिवासी उपयोजना तैयार करने के लिए दिया नेतृत्व, इन्हें देखते हुए यह कहना होगा कि वे निस्संदेह सामाजिक सरोकारों को प्रधानता देते थे। गुणवत्ता के महत्त्व को मानने के साथ ही उनकी संवेदनशीलता तथा भारतीय समाज का वस्तुनिष्ठ अभ्यास उन्हें कमज़ोर वर्गों के पक्ष में खड़ा करते थे और वे, दोनों में अंतर्विरोध न हो, इसके उपाय खोजते रहते थे।

अपने विचारों, अनुभवों और विस्तृत अध्ययन के माध्यम से एक मानवविज्ञानी, समाजशास्त्री और सजग साहित्यकार के रूप में प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे का अपने विषय, भाषा और संस्कृति के क्षेत्रों में योगदान निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है।

भूमिका

मेरे लिए प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे की मृत्यु अप्रत्याशित थी। वे बीच-बीच में काफी अस्वस्थ रहते थे, जाने से पहले एक वर्ष के दौरान उन्होंने कम-से-कम चार-पाँच बार मुझसे कहा होगा, "लीला, लगता है मैं बहुत समय तक जीऊँगा नहीं।" 1995 के जनवरी-फरवरी में सौरभ मेक्सिको जाने की तैयारी कर रहे थे, उन दिनों अचानक उनके मुँह से निकल जाता था, "मुझे नहीं लगता मैं इसे देख पाऊँगा।"

शायद वे भीतर से कमजोरी महसूस कर रहे थे। बीच-बीच में उन्हें घबराहट और साँस की तकलीफ़ भी हो जाती थी। लेकिन काम की, लिखने की, प्रकाशन की योजनाएँ बनती रहतीं। अनेक आलेख व भाषण मस्तिष्क में घूमते रहते, जिनमें से कुछ वाक्य सुनाते भी जाते। कमारों में दुबारा पचास वर्ष बाद जाकर जो कुछ देखा था उसके आधार पर अपनी 'कमार' पुस्तक के दूसरे संस्करण के लिए एक अध्याय सोच रहे थे, राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' पर एक टिप्पणी दिमाग में जम रही थी। 'यदि जिन्दगी एक बार और जीने को मिले' पर भी लिखने का इरादा था, जो विषय मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था, मैं कहती थी इस विषय पर मत लिखो। पर उन्होंने उसे मस्तिष्क में जमाना शुरू भी कर दिया था।

प्रवास की बात आती तो मैं रोकने की या कम करो कहने की कोशिश करती, पर वे कहते, "मैं ठीक हूँ, यहाँ निष्क्रिय बैठकर क्या करूँगा?" या "अब मैंने हाँ कह दिया है, हाँ कहकर पीछे हटना अच्छा नहीं लगेगा।" हवाई अड्डे पर या रेलवे स्टेशन पर कुर्सी की व्यवस्था करने के लिए कहती तो बिगड़ते, "मुझे कमजोरी व असहायता का प्रदर्शन अच्छा नहीं लगता। मैं चला जाऊँगा, कोई-न-कोई पहचान का मिल ही जायेगा।"

साक्षात्कार के लिए बहुत सारे, ज्यादातर कम उम्र वाले लड़के-लड़कियाँ आते रहते। जब वे समय माँगते, मैं कहती, "मना कर दो, ये लोग बीस-पच्चीस मिनट माँगकर आते हैं, पर डेढ़-दो घंटे ले लेते हैं, इतना श्रम मत करो," तो हँसकर कहते, "लीला, मेरे दो-चार वाक्य बोलने से यदि कोई कुछ रुपये और नाम कमा ले तो क्या बुरा है? मुझे तो सिर्फ कुर्सी में बैठना है।" विचार की प्रक्रियाँ से भी थकान हो सकती है, यह मानने को वे तैयार नहीं थे। रात में जब भी नींद खुलती कुछ लिखना, पढ़ना या सोचना शुरू कर देते।

इसीलिए पाँच जनवरी को दिल का दौरा पड़ने के बाद अस्पताल में भरती हुए तब भी मैं चिंतित थी पर तैयार नहीं थी। लगता है उन्हें अपने जाने का आभास हो गया था—बहुतों को उन्होंने यह सूचित भी किया, कभी स्पष्ट रूप से, कभी मज़ाक़ में, कभी व्यंग्य करते हुए, कभी चलते-चलाते। परंतु मुझसे केवल एक ही बार कहा था, "कल रात मुझे लगा अब जाता हूँ" पर वह भी इस तरह जैसे संकट टल गया हो। हाँ उसी सुबह चाय पीते समय मेरी ओर ध्यान से देखकर बोले, "Leela think of me as a good man", मैं नाश्ता देने, फिर डॉक्टर व

बड़े बेटे को टेलीफोन कर बुलाने की जल्दी में थी, नहीं समझ पाई कि वे यह बात भविष्य के संदर्भ में कह रहे थे। अभी भी सोचकर पीड़ा होती है कि मैं क्यों उन्हें समझ नहीं पाई और यह कहकर आश्वस्त नहीं किया कि "ofcourse you are a good man.".

इन बीस-पच्चीस दिनों में, खासतौर पर जब बीच में आठ-दस दिनों के लिए घर आये थे तो कितनी ही बार उन्होंने कहा होगा, "you are a good woman", पर अपने जाने की बात कभी नहीं कही। मैं सोचती हूँ कि वे शायद अपना संतुलन नहीं खोना चाहते थे, न ही व्यथित होना चाहते थे। उनका व्यथित होना दोनों स्थितियों में संभव था—यदि मैं नासमझ, भावशून्य बनी रहती तो या रोना-धोना मचाती तो। अब तो केवल अनुमानों के साथ ही रहना है। वैसे वे छोटी-छोटी बातों पर खीझते थे, पर कठिन परिस्थितियों को शांति तथा धैर्य से झेलना, उनके विषय में बात न करना व स्थितप्रज्ञ से बने रहना उन्होंने अपने व्यक्तित्व में आत्मसात कर लिया था। ऐसे समय में विषय बदलकर तरह-तरह की बातें करते रहते थे। जिंदगी के पचास वर्षों में घटी घटनाओं को मन में दोहराने पर यही समझ में आता है। वे स्नेह के भूखे थे, थोड़े से प्यार से भी उन्हें जीता जा सकता था, पर दया तथा करुणा से दूर भागते थे। हालाँकि सहानुभूति तथा ध्यान की अपेक्षा अवश्य करते थे।

शायद यह भी हुआ होगा कि मैंने ही अपनी विचारशक्ति को सुन्न कर दिया हो। उनके प्राण जाने के पाँच-दस मिनट पहले ही जब मैं उनसे मिलने गयी थी, उन्होंने गर्दन हिलाकर सूचित किया था कि वे अब बच नहीं सकते। लगा कि आँखें कुछ नम थीं। फिर भी मैंने सिस्टर से ज़िद नहीं की कि मैं थोड़ी देर और वहीं रुकना चाहती हूँ, और उन्हें छोड़कर गहन चिकित्सा कक्ष से बाहर निकल आयी। रो अवश्य रही थी पर यह नहीं सोचा कि अंत हो रहा है। उन्हें अकेले छोड़कर चली आयी। लोग कहते हैं अपनों को हृदयगति बंद होकर जाते देखना अत्यधिक कष्टदायक होता है। पता नहीं, मेरे लिए तो उनके जाते समय पास न होने के कारण हुई छटपटाहट से मुक्ति पाना ही असंभव हो गया। डॉक्टर ने सांत्वना दी कि उन्हें होश में सबसे आखिर में मैंने ही देखा, पर उससे क्या फ़र्क़ पड़ सकता था। उन्होंने मुझे बाहर जाते हुए देख ही लिया था। यह बात मुझे लगातार सालती रही।

सौरभ चार दिन बाद पहुँचे। यह पूछने पर कि क्या तुम चाहते कि हम तुम्हारे लिए रुके रहते, उनने फौरन ही जवाब दिया, "नहीं माँ, मेरे पिता गरिमा और आत्मसम्मान के साथ जिए थे; मैं कभी नहीं चाहता कि उनके निर्जीव शरीर को मेरे आने की प्रतीक्षा करनी पड़े।" वैसे अपनी आखिरी बीमारी में प्रो. दुबे ने नहीं कहा कि मुझे सौरभ को देखना ही है। एक तो जाने की बात वे मुझसे करते नहीं थे, और शायद यह भी चाहते होंगे कि बेटे की स्मृति में पिता का गरिमामय रूप ही रहे। जाने के कुछ ही दिन पहले, जब वे घर में थे, तब सौरभ का फोन आया था तो उन्होंने ही उठाया था और सौरभ और ईशिता से बहुत प्यार से बातें की थीं। उनके काम के बारे में पूछा था, ऑपरेशन की संभावना की बात बतायी थी, अभी आने की आवश्यकता नहीं है यह भी कहा था। मैं जब कमरे में गयी तो शरारत भरी मुस्कान के साथ बोले, "मैंने सौरभ, ईशिता से खूब प्यार से बातें कीं, तुम्हें नहीं बुलाया, आज मैं ही बात करना चाहता था।" सौरभ ने आने पर बताया कि उस दिन की डैडी की बातें आशीर्वाद व शुभकामना (benediction) की तरह लगी थीं। क्या पता था कि उनसे फिर मिल नहीं पाऊँगा।

जो मिलने आते उनसे भी ज्यादातर हँसकर बातें करते—अस्पताल में जिन्होंने उनकी देखभाल की थी उन केरल पुत्रियों की, डॉ. पद्मावती की जिनसे उन्होंने कहा था कि "वैसे मैं शांत प्रकृति का आदमी हूँ, पर आज भी यदि मुझे फिर दलिया मिला तो मैं ट्रे फेंक दूँगा, मुझे कुछ और मिलना चाहिए", टी.वी. पर आने वाले बेवकूफी के इश्तेहारों की, राजनीति में चलने वाली उथल-पुथल की, साहित्यकारों की तथा साहित्य की; जो लोग आते उनकी रुचि और योग्यता पर बातें निर्भर होतीं। सूज़न विश्वनाथन मिलने आई; उसने जब नींद आने के लिए ध्यान व मनन करने के लिए कहा और रमण महर्षि का अपना अनुभव बताया तो उत्साह से बोले, "भारत सचमुच महान देश है। क्रिश्चन रमण को देखते हैं, मुसलमान संगीतकारों को काली के दर्शन होते हैं, हिंदू मरियम में मीनाक्षी को देखते हैं। यदि हम एक-दूसरे की आस्था को समझ सकते हैं तो हमारी इस भूमि पर लड़ाइयाँ होने की आवश्यकता ही क्या है?" पर सूज़न ने जब हाथ मिलाकर कहा, "मैं फिर आऊँगी आप से मिलने" तब "अवश्य आना" तो कहा पर बिना उसकी तरफ देखे। जैसे उन्हें मालूम हो कि यह मौका नहीं आएगा।

फिर से अस्पताल और एक हफ्ते में सब कुछ समाप्त। इन्हीं सब घटनाओं के कारण मुझे एक अकथनीय अपूर्णता के एहसास ने घेर लिया। श्यामाचरण दुबे का जीवन अभी समाप्त नहीं हुआ है, अभी वे हैं, इस अनुभूति की आवश्यकता मुझे तीव्रता से महसूस होने लगी।

इलाहाबाद में कुछ ही महीने पहले दिये हुए साक्षात्कार—जो उनके जाने के बाद दुबारा छपा—से स्पष्ट हो गया था कि दुबे जी लंबी बीमारी में घिसट-घिसटकर मृत्यु की ओर बढ़ने से बचना चाहते थे। वे अपने पूरे होशोहवास में जाना चाहते थे, अपना आत्मविश्वास बरकरार रखते हुए। और, यह उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही था। कभी भी बहस या बद्मज़गी होती तो वे कहते थे, "लीला, एक बात का ख्याल रखना, मेरे आत्मविश्वास को धक्का मत पहुँचाना। यदि मैंने अपना आत्मविश्वास खो दिया तो फिर मैं कुछ नहीं कर पाऊँगा।" एक तरह से वे जो चाहते थे वही हुआ था। साक्षात्कार पढ़कर कुछ सांत्वना तो मिली पर फिर भी दुबे जी के जाने के साथ मैं समझौता नहीं कर पा रही थी।

संवेदना के पत्रों को पढ़कर उनके जवाब देते हुए मुझे लगा कि पचास वर्षों के वैवाहिक जीवन के बाद भी मैं खुद दुबे जी के व्यक्तित्व की बहुत सारी बारीकियों से, उनके साथ बने लोगों के संबंधों से, उन्होंने जो प्यार, सहानुभूति तथा समर्थन लोगों को दिया था उनसे, तथा उनके कार्य के बहुत सारे पहलुओं से काफी हद तक अनभिज्ञ रही थी। वैसे यह कोई अचरज की बात नहीं थी, शायद सभी पति-पत्नियों के विषय में यह कहा जा सकता है। दूसरों की प्रतिक्रिया का सही अंदाज व्यक्ति के जाने के बाद ही लग पाता है। परंतु इसके अलावा दुबे जी के संबंधों का दायरा बहुत बड़ा था, व्यक्तित्व बहुआयामी था, वे अनेक विषयों पर लिखते, बोलते, पढ़ते रहते, एक समय अनेक संस्थाओं से जुड़े होते, अनेक निर्णयों में शरीक़ रहते थे। जगह-जगह जाते, कितने ही लोगों से मिलते जिन्हें मैं जानती भी नहीं थी। आने वालों के साथ तक मैं बैठ नहीं पाती थी। विषय एक होने पर भी मेरा कार्य क्षेत्र भिन्न था। जिसमें मैं बहुत व्यस्त रहती थी।

एक विशेष बात यह भी थी कि बीच-बीच में बहुत समय तक हम दोनों को अलग-अलग रहना पड़ा था। वे लंदन में थे तब मैं हैदराबाद में थी। वे मसूरी, शिमला, दिल्ली,

जम्मू व फिर भोपाल में थे। तब हम लोग साल में कुछ समय ही साथ रह सके थे। मसूरी व शिमला से वे सर्दियों में सागर अवश्य आते, मैं छुट्टियों में उनके पास चली जाती। मैं आणंद व जयपुर में थी तब वे जम्मू व फिर दिल्ली में थे। मैं दिल्ली आयी तो वे कुआलालुंपुर चले गये। वे जब भोपाल गये तब मैं पहले मैसूर गयी और फिर दिल्ली आ गयी। उन दिनों वे मजाक में कहा करते थे कि "जब से लीला ने लक्षद्वीप के मातृवंशी मुसलमानों पर काम करना तथा उनके बारे में लिखना शुरू किया है तभी से हम लोग इस तरह से रह रहे हैं। लक्षद्वीप में पारिवारिक जीवन तो है नहीं, ज्यादातर पति-पत्नी साथ-साथ नहीं रहते, अपने-अपने माँ, भाई, बहनों के साथ रहते हैं। पति पत्नी के घर जाकर रात गुजारता है। लीला ने यह क्षेत्र अपने मानव वैज्ञानिक काम के लिए चुना तो अल्लाह ने कहा, 'तुम यह कर रही हो, देखना तुम्हें भी अस्थायी पति ही मिलेगा, तुम्हारी भी विजिटिंग मैरेज ही हो जायेगी।' "

इतनी वैयक्तिक बातें मैं क्यों लिख रही हूँ? मैं यह बताना चाहती हूँ कि जब कुछ लोगों ने, जिनमें नंद चतुर्वेदी जी प्रमुख थे, दुबे जी की स्मृतियाँ इकट्ठी करने के विषय में लिखा, मुझे जैसे एक सहारा मिल गया। शायद इसी से उनके अस्तित्व का आभास भी बना रहेगा। मेरे विचार, कार्य, योजना उन्हीं के इर्दगिर्द घूमते रहेंगे, और जो लिखा जायेगा उससे उनकी एक नहीं शायद अनेक तस्वीरें उभरकर सामने आयेंगी।

सुधीश जी, सौरभ और बद्रीनारायण जी के साथ बैठकर रूपरेखा बनायी। धीरे-धीरे काम का ढाँचा तैयार हुआ, कुछ लोग बाहर हुए, कुछ और जुड़ गये। जिन्होंने नहीं लिखा उनकी अपनी समस्याएँ रही होंगी। मुझे संतोष है कि हम जिन्हें चाहते थे उनमें से तक़रीबन सबने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया व लिखा। प्रो. दुबे के व्यक्तित्व को छोटी-छोटी बातों तथा घटनाओं की सहायता से उभारा गया है, और उनके कार्यों व कृतियों का भी ईमानदारी से मूल्यांकन किया गया है। कोई भी व्यक्ति दोषरहित नहीं होता और हमने भी प्रो. दुबे को उच्चासन पर बैठाने के इरादे से यह उपक्रम नहीं किया। परंतु औरों ने उन्हें किस रूप में देखा, क्या व कैसे समझा, उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर जो प्रकाश डाला, और उनकी कृतियों, भाषा तथा कार्य का जो समाकलन किया वह सब एक जगह लाकर एक अच्छा दस्तावेज़ अवश्य बना पाये हैं। साथ ही इस पुस्तक में प्रो. दुबे के नौ भाषण/लेख जिनमें से कुछ कभी किसी संग्रह में नहीं छपे, और पाँच साक्षात्कार भी हैं। इस तरह इस पुस्तक में हमने औरों के आलेखों तथा टिप्पणियों के अलावा खुद प्रो. दुबे के अपने विचारों को भी पाठकों के सामने रखा है।

हमारे लिए यह गर्व की बात है कि इस संकलन के लिए लिखने वालों में जाने-माने समाजशास्त्री, मानव-वैज्ञानिक, वरिष्ठ साहित्यकार तथा समीक्षक व आलोचक, निर्भीक व सृजनशील पत्रकार, संस्कृति के अध्येता, सधे हुए मनोवैज्ञानिक व लीक से हटकर काम करने वाले दर्शनशास्त्री, शिक्षाविद्, साहित्य में गहरी रुचि रखने वाले कार्यरत पदाधिकारी, आदिवासियों के कल्याण के लिए प्रतिबद्ध भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व सदस्य, प्रसिद्ध संगीतशास्त्री, ऐसे अनेक लोग शामिल हैं। इन सबों का अपने-अपने क्षेत्र में एक स्थान है।

जहाँ मैं कृतज्ञ हूँ कि इन्होंने मेरी विनती स्वीकार की, वहीं इस सहयोग को मैं इस बात का निश्चित प्रमाण भी मानती हूँ कि इन सब के मन में दुबे जी की एक खास जगह थी, और

उनके प्रति विशेष स्नेह था। पुस्तक समय पर निकालने की बंदिश के कारण मैं लोगों के पीछे पड़ी रही पर अंत में यश हाथ में आया इसका मुझे संतोष है। जो लिखा गया है उससे दुबे जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के विभिन्न पहलू तो उजागर होते ही हैं, साथ ही लिखने वालों की प्रतिभा, समझ, संवेदनशीलता तथा साफ़गोई का भी परिचय मिलता है।

संपादित पुस्तक में लेखकों ने क्या कहा है, इसका संक्षिप्त ब्यौरा देने का चलन है, खासतौर पर अकादमिक पुस्तकों में। परंतु इस पुस्तक के लिए यह न संभव है न आवश्यक। तथ्य की गलतियों को या अवधान की कमी के कारण रह गयी भाषा की त्रुटियों को ठीक करने के सिवा इन लेखों को छूने की धृष्टता हमने नहीं की है। जो कुछ लेखकों की लेखनी से उतरा है वही पढ़ने में इस संग्रह की सार्थकता है। इन आलेखों तथा टिप्पणियों में आत्मीय संबंधों के तार हैं, निजी व्यक्तिगत अनुभव हैं, प्रतिक्रियाएँ तथा निरीक्षण है, अपनी-अपनी दृष्टि है और अपना-अपना ज्ञान संचय है।

दुबे जी के बारे में जो अनेक बातें कही गयी हैं उनमें से कुछ हैं—प्रतिभा के पारखी, पर साथ ही अपनी सहृदयता के कारण कुछ अयोग्य व्यक्तियों को भी लाभ पहुँचाने में सहायक, स्वप्नजीवी व योजनाविलासी परंतु भलमनसाहत के कारण व्यावहारिक कठिनाइयों का ठीक-ठीक अनुमान लगा पाने में कुछ हद तक अक्षम, ज्ञान के साथ सामाजिक दायित्व को भी महत्त्वपूर्ण मानने वाले और समाजविज्ञानों के देशजीकरण की आवश्यकता समझने वाले, अपने को हानि पहुँचाने वालों या उपेक्षा करने वालों के प्रति भी प्रतिशोध की भावना से मुक्त, दूसरों की विचारधारा का पर्याप्त सम्मान करने वाले, पीढ़ियों के अंतराल को पाटने में सक्षम, शिक्षा के क्षेत्र में बड़े-छोटे का भेद न करने वाले, समकालीन साहित्य के आतुर अध्येता, एक अत्यंत यशस्वी शिक्षक, विषय के नये-नये आयामों को पाठ्यक्रम में लाने के लिए उत्सुक, संयत लेखन तथा सौष्ठवपूर्ण व सृजनात्मक समुचित भाषा के धनी, सामाजिक वास्तविकता के प्रति संवेदनशील व सामाजिक समस्याओं से उपजी चुनौतियों को स्वीकारने वाले, समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य के योगदान का महत्त्व जताने वाले, समाजवैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में सामाजिक सरोकारों के प्रति सचेत, एक बुद्धिजीवी के रूप में अनेक धरातलों पर सहजता से जी सकने वाले, प्रभावी वक्ता और साहित्य में मानवीय, सामाजिक तथा व्यक्तिगत संवेदना की अभिव्यक्ति को समझने वाले। पूरनचंद्र जोशी तथा कुछ हद तक अन्य समाजशास्त्रियों ने प्रो. दुबे के योगदान की चर्चा के दौरान समाजशास्त्र की आंतरिक स्थिति का जो खाका खींचा है वह हिंदी जगत् के लिए एक आवश्यक देन है। ब्रह्मदेव शर्मा ने जो शिकायत दर्ज की है कि दुबे जी के व्यापक चिन्तनमूलक कार्यआयाम और विचरणवृत्ति के कारण वे आदिवासियों के लिए जो कर सकते थे, नहीं कर पाए, उसमें उनका दुबे जी की कार्यक्षमता में विश्वास ही प्रकट होता है।

न कहने का इरादा होते हुए भी मैं कुछ कह ही गयी। शायद यह मेरे विषय की परंपरा का प्रभाव है। अंत में मैं कुछ बातें स्पष्ट कर देना चाहती हूँ। मुझे नहीं मालूम इनकी आवश्यकता है या नहीं, मैं चाहती हूँ—कहूँ।

मेरी बड़ी बहिन सुमति ताई ने अपनी 'स्मृति-कादंबिनी' वैयक्तिक धरातल पर लिखी है जिसमें मेरे विषय में भी बहुत कुछ कह दिया है। मुझे बहुत संकोच हो रहा था पर उनकी आज्ञा

थी कि वे जो लिखेंगी उसमें सत्य का उल्लंघन न हो रहा हो तो कुछ भी बदला नहीं जायेगा। वे मेरी सबसे बड़ी बहिन हैं, उनकी आज्ञा की अवमानना करने की हिम्मत मुझमें नहीं है। वैसे यह अच्छा है कि उन्होंने साफ लिख दिया है कि मेरा विवाह मेरे बहनोई ने तय किया था, जो कि बिल्कुल सच है। विवाह अंतर-उपजातीय, अंतर-भाषीय होने के कारण कौतूहलवश कितने ही लोग अक्सर पूछ लेते थे, "क्या आपका प्रेमविवाह था?" प्रो. दुबे जवाब देते, "बिल्कुल नहीं, सच पूछो तो मेरे दिमाग में अपनी भावी पत्नी के बारे में जो कल्पना थी, वह एक लंबी, छरहरे बदन की, हल्की साँवली पर नमकीन लड़की की थी और यह देखिए मैंने क्या कर लिया।" यदि मैं अपने लिए कहूँ तो यही कहना चाहूँगी कि मेरे दिमाग में जो कल्पना थी वह बहुत बुद्धिमान, पढ़ने-लिखने में गहरी रुचि रखने वाले तथा सामाजिक सरोकारों का महत्त्व समझने वाले व्यक्ति की थी। विवाह के बाद जब पहली बार नागपुर से दुबे जी के पिता छत्तीसगढ़ में जहाँ थे वहाँ गयी तो पुस्तकों का भंडार देखकर चकित रह गयी। राजनीतिशास्त्र की पुस्तकों—जिनमें मार्क्स तथा मार्क्सवाद, समाजवाद की पुस्तकें प्रमुख थीं—का होना तो स्वाभाविक ही था पर अंग्रेज़ी व हिंदी साहित्य भरा पड़ा था। हिंदी पुस्तकों के विषय में सुझाव मिलते गये और मैं पढ़ती गयी।

नंदूराम जी ने लिखा है कि यदि यह कहा जाये कि प्रोफ़ेसर दुबे एक जातिविहीन एवं वर्गविहीन व्यक्ति थे तो यह अतिश्योक्ति नहीं होगी। समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान का एक बहुत जटिल प्रश्न यह है कि अहं, आत्मभाव तथा व्यक्तित्व के बनने में किन कारकों का योगदान रहता है व समाजीकरण की प्रक्रिया किस तरह से चलती है। दुबे जी निश्चित ही जाति-व्यवस्था में निहित असमानता तथा शोषण के खिलाफ थे, और चयन समितियों एवं लोक-सेवा आयोग के साक्षात्कारों में खुलकर आदिवासियों तथा दलितों को विरासत में मिली असुविधाओं तथा असमर्थताओं के विषय में बात करते व फिर उनके संदर्भ में अपना मूल्यांकन प्रस्तुत करते थे। यह कहना कठिन है कि यह सब करते हुए वे भूल जाते हों कि उच्च वर्ण-वर्ग के होने के नाते उनका कर्तव्य बनता है कि वे सदियों से चली आ रही असमानताओं को दूर करने का प्रयत्न करें। कुछ हद तक नंदूराम जी का कहना सही होगा क्योंकि यह अवश्य था कि व्यवहार में दुबे जी जाति पर आधारित भेदभाव के सख्त खिलाफ थे। सागर में हमारा ड्राइवर और आया, दोनों दलित थे। एक बार एक बुजुर्ग प्रोफ़ेसर ने कहा, "दुबे जी, सुना है आपके घर में हरिजन काम करते हैं, रसोईघर में भी जाते हैं।" दुबे जी ने जवाब दिया, "जी हाँ, और आवश्यकता पड़ने पर वे खाना भी बनाते हैं। किंतु आप तो आर्यसमाजी हैं, आपको इस बात से क्यों परेशानी होनी चाहिए?"

इसके साथ ही वे दूसरों के विश्वास व आस्था का सम्मान करना भी जानते थे। भोपाल में उन्होंने ही बताया था, "लीला, देखो, विद्यानिवासजी केवल फल और दूध की मिठाई ले सकते हैं, वह भी चीनी के बर्तनों में नहीं।" मसूरी में राष्ट्रीय संस्थान के किसी सेमिनार में पाकिस्तान से एक शिया पठान अपनी बीवी के साथ आये थे। बीवी 20–21 साल की रही होगी, पहली बार अपने देश के बाहर निकली थी और वह भी मुहर्रम के दिनों में। उसकी परेशानी जानकर प्रो. दुबे ने अपने एक शिया सहयोगी के यहाँ उन्हें निमंत्रित करवाया। मेरे साथ भेजा। वहाँ बाकायदा मरसिया पढ़ा गया व ज़रूरी कार्य पूरे हुए। खुद जब यूनेस्को के

काम से पाकिस्तान गये थे तब लाहौर में अखबारों में उनका नाम पढ़कर नूर मोहम्मद कुंजड़ा, जिसकी माँ नरसिंहपुर में दुबे जी के पुश्तैनी घर पर सब्जी लेकर आती थी, रात के बारह बजे बुलाने आया, "भैया घर चलो, आपकी भौजी और भतीजी-भतीजे इंतजार कर रहे हैं।" दुबे जी गये और आधी रात में भौजी के हाथ का बनाया हुआ हलुआ खाकर, बच्चों को प्यार और रुपये देकर वापस आये।

लगता है नामवर जी ने दुबे जी को अपनी तीसरी आँख से देखा था। शायद माँ की गोद में मिली असीम सुरक्षा से बहुत जल्दी वंचित होने के कारण दुबे जी हमेशा अपने को असुरक्षित पाते रहे। बहुतों ने लिखा है कि उन्हें बच्चों से बहुत प्यार था। इसका एक कारण यही रहा होगा कि बच्चे निश्छल प्यार देते हैं, उनकी दृष्टि आलोचनात्मक नहीं रहती। बड़ों से ज्यादा बच्चों के साथ दुबे जी अपने को मुक्त और जुड़ा हुआ पाते थे। वे सच में प्यार के भूखे थे। थोड़ी-सी देखभाल, आत्मीयता के दो शब्द, मिलने पर खुशी का इजहार, ऊष्मा भरा ध्यान उनके अंतर्मन को स्पर्श कर जाता था। खुश होकर बताते रहते, "तुम नहीं थीं और मेरे इंसुलिन का समय हो गया था। सामने वाली नीलम ने मुझे बहुत जल्दी अच्छा नाश्ता खिला दिया।" "मैं बिजली बंद हो जाने से लिफ्ट में अटक गया था तो मिसेज राजाराम ने अपने घर ले जाकर मुझे काफी पिलाई," "मैं घूमता हूँ तो पारुल खेल छोड़कर आकर नानाजी कहकर मुझसे लिपट जाती है," "तुम्हारी सूज़न बहुत अच्छी है, पहली बार मिली थी पर टैक्सी में मैं आगे बैठा था तो पीछे से पीठ पर हाथ रखकर उसने पूछा, लीलाजी ने बताया आपकी तबियत ठीक नहीं है, अब कैसा लग रहा है?" कहीं से होकर आते तो इस तरह की बातें अवश्य बताते। ऐसी बातों से वे लोगों से जुड़ जाते थे। माथे पर चिंता दर्शाते हुए रखे हाथ का स्पर्श भी उन्हें याद रहता।

परंतु असुरक्षा की भावना एकदम निजी थी। वैसे उनमें आत्मविश्वास, स्वाभिमान, निर्भीकता, अपनी धारणाओं पर दृढ़ रहने का साहस और किसी के भी सामने सिर ऊँचा रखकर बात करने की क्षमता—ये गुण प्रचुर मात्रा में थे। ऐसे मौकों पर वे पद के टिकने की परवाह नहीं करते थे। जैसा कि एक मित्र ने कहा है, उनमें एक तरह का शालीन अक्खड़पन था। इस अक्खड़पन का अनुभव वे जिन पदों पर भी रहे वहाँ के लोगों को हुआ। सुरेश शुक्ल जी ने लिखा है कि दुबे जी को और बड़े पद मिलने चाहिए थे। शायद हाँ, शायद नहीं। कहना कठिन है। पर यह बात जानने योग्य है कि वे जिन पदों पर भी रहे वहाँ से या तो समय के पहले ही चले आये जैसे जम्मू यूनिवर्सिटी से या ग्रामीण विकास के राष्ट्रीय संस्थान से और शिमला और भोपाल में एक-एक ही टर्म रहे। शायद बहुत जल्दी पता हो जाता था कि दुबे जी किसी की भी बात बगैर छानबीन के मानने वाले नहीं हैं, न ही वे किसी के दबाव में आ सकते हैं। शिमला में रहते हुए जब आपात्काल की घोषणा हुई तो उन्होंने फेलोज की सभा में कहा था, "जो हुआ है उसकी आँच आप लोगों पर नहीं आयेगी इसकी ज़िम्मेदारी मेरी है, आप जो कहना चाहते हैं कहिये, पर इन दीवारों के भीतर।" जैसा कि रमानाथ मिश्र ने लिखा है, 'विचारों की स्वतंत्रता, भरपूर खुली बहस, खुला बौद्धिक वातावरण फेलोज को 26 जून, 1975 के बावजूद मिला।' उन्हीं दिनों दिल्ली में शिमला संस्थान के अतिथि गृह में ऐसे लोगों का इज़्ज़त के साथ स्वागत किया जाता था जिनके ऊपर सरकार की कड़ी नज़र थी। जो विद्यार्थी मिलने व बात करने आते वे विभिन्न पार्टियों के व विभिन्न मतों के होते थे।

प्रो. दुबे के अधूरे काम को पूरा करने की समस्या सुलझाना कठिन है। अंग्रेज़ी में या हिंदी में जो पूरे-पूरे लिखे हुए निबंध—प्रकाशन के लिए तैयार या उनका प्राथमिक प्रारूप हैं—उन्हें तो संपादित कर छपवाया जा सकता है। दुबे जी के शिष्य, योगेश अटल, जिनके आलेख को पढ़कर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अपने गुरुजी के कितने निकट थे, इस काम की कुछ जिम्मेदारी सँभाल ही लेंगे। परंतु बहुत कुछ ऐसा था जो उनके दिमाग़ में जम गया था या जम रहा था। वे कागज पर टीप-टीप कर कम ही लिखते थे, दिमाग में जमाकर फिर लिखते थे। केवल कुछ शब्द या वाक्य लिखे हुए कार्डों से, जो ज्यादा नहीं हैं, वे क्या व किस तरह कहना चाहते थे, यह समझना असंभव है। दुबे जी के दिमाग़ के साथ ही वह सब लेखन और लेखन की तैयारी भी नष्ट हो गयी है।

जिन्होंने अपने आलेखों से इस पुस्तक को संभव बनाया उन्हें मैं एक बार फिर धन्यवाद देती हूँ। इस पुस्तक की योजना बनाने में व कुछ समय तक उससे जुड़े रहकर बद्रीनारायण तिवारी ने जो कुछ सहायता की उसके लिए मैं उनकी कृतज्ञ हूँ। सुधीश जी ने प्रारंभ से लेकर अंत तक अनेक प्रकार से सहयोग दिया है, जिन्हें गिनाना संभव नहीं है। उनके बिना न समय-समय पर आवश्यक संगठनात्मक कार्य हो पाता, न मानसिक बल मिलता और न ही कुछ लोगों से संपर्क होता। कुछ आलेख तो सुधीश जी के बिना मिल भी नहीं पाते। इन दिनों उन्हें पारिवारिक परेशानियों में से गुजरना पड़ा पर उसके बावजूद उन्होंने पूरा सहयोग दिया। उनका अनुभव तथा शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता बहुत काम आयी।

मेरी मित्र, जिनकी मैं बड़ी बहन हूँ, सावित्री दूबे ने इस पुस्तक से संबंधित सभी कार्यों में बहुत मदद की है; मैं उनकी अत्यंत आभारी हूँ। समय-समय पर राजकिशोर जी से जो सहायता मिली उससे मेरा काम सुलभ हुआ। इस कार्य में श्री वीरेन्द्र जैन के अपूर्व योगदान के लिए हम उनके अत्यंत ऋणी हैं, उसका स्रोत चाहे उन्हें प्रो. दुबे से मिले अपनेपन में ही क्यों न हो। वाणी प्रकाशन ने थोड़े समय में उत्तम श्रेणी में रखने योग्य और खासतौर पर प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे के गुणवत्ता के मापदंड पर खरी उतर सके, ऐसी पुस्तक प्रकाशित की इसके लिए श्री अरुण महेश्वरी व उनके सहयोगी बधाई के पात्र हैं।

इस पुस्तक ने मुझे मेरे दुःख से उबारा है। मैं और एक वर्ष प्रोफ़ेसर दुबे के साथ बिता पायी हूँ। आशा है यह पुस्तक सामाजिक-वैज्ञानिकों, साहित्यकारों तथा सजग पाठकों के लिए उपयोगी तथा रुचिकर सिद्ध होगी।

लीला दुबे

डी-504, पूर्वाशा,
मयूर विहार, दिल्ली-110091

खण्ड—एक

(प्रो. दुबे स्मृति)

स्मृति कादम्बिनी

□ सुमति मुटाटकर

प्रोफेसर श्यामाचरण दुबे की प्रज्ञा-प्रतिभा, संवेदनशीलता, आत्मविश्वास, सब-कुछ असामान्य ही था। आयु व अनुभव के साथ यह सब वर्धमान होता गया, नये आयाम जुड़ते गये। कथ्य का तथ्य अधिकाधिक सारवत् होता गया।

अंत तक 'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'—इस औपनिषदिक व्रत का मानो अपने स्वभाव-धर्म के अनुरूप वे पालन करते रहे। स्वाध्याय के अंतर्गत सर्वग्राही अध्ययन तथा अपना चिन्तन; और प्रवचन के अन्तर्गत लेखन, ग्रन्थ-निर्माण व इतर और वक्तव्य, इन दोनों में सक्षम, प्रभावी अभिव्यक्ति—ऐसा स्वयंपूरक उनका दायरा रहा है।

प्रो. दुबे का बहुआयामी व्यक्तित्व विविध भूमिकाओं में, विषय के ख्याति-प्राप्त विद्वान् आचार्य, सहृदय मार्गदर्शक, मौलिक ग्रन्थों-लेखों के निर्माता, प्रमुख संस्थाओं के प्रधान निदेशक, प्रशासक, विचार-गोष्ठियों में संचालक, वक्ता, आदि-आदि में वर्चस्विता, कुशलता, लोक-संग्रह की दृष्टि जैसे विशिष्ट गुणों से भरपूर, सामने आया। अपने क्षेत्र में वे बहुचर्चित व अग्रगण्य रहे।

अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त समाजशास्त्री प्रो. श्यामाचरण दुबे की प्रशंसा, मूल्यांकन, विश्लेषण, टीका-टिप्पणी सब-कुछ होते रहे। अपने क्षेत्र में वे कभी पुराने, उपेक्षित नहीं हुए, सदा Currency में ही रहे। यहाँ तक कि कुछ विश्वविद्यालयों में तो विभाग के शैक्षणिक कार्यक्रम के लिए प्रस्तावित ग्रन्थ-सूची में प्रो. दुबे का नाम न होना ही चर्चा का विषय बन गया।

मैं सोचती हूँ कि भविष्य में जब अधिक वस्तुनिष्ठ पुनरावलोकन होगा, तब उनकी उपलब्धियों पर अधिक प्रकाश पड़ेगा। मूल्यवत्ता अधिक उजागर होगी।

हमारे परिवार में प्रो. दुबे की प्राथमिक भूमिका थी 'जामाता' की; इसी से उद्भूत थे विविध रिश्ते, जिनके अनुसार उनके लिए संबोधन अपने-आप विकसित हुए, जैसे—श्याम दादा, श्याम भैया, श्याम बाबू, श्याम, कभी-कभार दुबे साहाब, दुबे जी। अपना अहं, अपनी प्रतिष्ठा, अपने महत्त्व आदि का अहसास उन्हें था, पर इसके कारण पारिवारिक भावात्मकता में, आत्मीयता में कोई कमी नहीं आयी। हलके-फुलके हास-परिहास, गहन-गंभीर चर्चाएँ सभी में वे सम्मिलित होते; रोचक कथा-कहावतें कहते; अपनी संभाषण पटुता और तत्काल सर्जना से प्रभावित करते। सह-भोजन, खान-पान का आनंद उठाते—तो हमारे परिवार में श्यामाचरण दुबे सम्मिलित हो गये।

हम सब भाई बहनों के साथ उनके आत्मीयता के संबंध बने जो समय के साथ और गहरे होते गये। प्रत्येक के साथ चर्चा के विषय भिन्न होते। मुंबई में रहनेवाले डॉक्टर भाई के साथ चिकित्साशास्त्र में हुए नये आविष्कारों तथा उनके व्यवसाय के नैतिक पक्ष पर बातें होतीं। उनकी पाकशास्त्र में निपुण पत्नी के बनाए हुए व्यंजनों के वे प्रशंसक थे। मंझली बहन उषा

समर्पित भाव से विकलांग बच्चों और महिलाओं के कल्याण-कार्य में वर्षों से कार्यरत हैं। संघर्ष के साथ-साथ सफलता व पारितोषिक भी उन्हें मिले हैं। अपनी समस्याओं, अनुभवों के बारे में वे श्याम से चर्चा करतीं, उनके लेखों व पुस्तकों को चाव से पढ़तीं। श्याम को अटूट विश्वास था कि किसी भी संकट के समय वे उपस्थित हो जाएँगी। सबसे छोटी बहन विमल (विद्या पंडे) विश्व हिंदू परिषद् के साथ आस्थापूर्वक जुड़ी हुई हैं और कार्य कर रही है। उनके साथ वे धर्म, राजनीति भारत की मिली-जुली संस्कृति इत्यादि अनेक विषयों पर बिना उनकी आस्था को धक्का पहुँचाए संवाद करते रहते।

मैं लीला की सबसे बड़ी बहन, मैं उन्हें 'श्याम' कहती; मेरे पति उन्हें 'दुबे साहाब' कहते। मेरा और मेरे पति का आदर करना, हमारे आशीर्वाद की चाह रखना, यह तो उनकी भावात्मकता थी। पर मेरे साथ प्रो. दुबे की कुछ विशेष आत्मीयता संभवतः मेरी निरंतर विद्याव्यसनी-वृत्तियों के कारण प्रारंभ से ही रही। फिर, मेरी साधना और अध्ययन का विषय संगीत होते हुए भी संगीत के सामाजिक मूल्यों की ओर भी मेरा कुछ रुझान रहा है यह भी हमारे अंतःसंबंध का कारण रहा।

श्याम के व्यक्तित्व व कृतित्व के बारे में मेरे मन में कौतुक (मराठी में आश्चर्य व आह्लादमिश्रित प्रशंसा जो अपने से छोटों के लिए रहती है) का भाव रहा। इस अवसर पर अपने स्मृति-कोश में से कुछ एक प्रसंगों को मुक्तक शैली में चित्रित कर रही हूँ जिनके द्वारा उनके स्वभाव, गुण और उनकी अंतरंगधर्मिता का भी दर्शन हो।

हमारे परिवार में प्रवेश—सन् 1945 में

मैं लखनऊ से नागपुर गरमी की छुट्टियों में आयी थी। पिताजी ने समाचार दिया कि लीलम् (लीला) ने अपना वर चुन लिया है, शादी तय हो गयी है। मैंने उत्तेजना के साथ कहा, 'अरे वाह! कौन है लड़का, कैसा है?' जानकारी मिल गयी। नाम—श्यामाचरण दुबे, Political Science में B.A. (Hons) 1st Class Ist, शोधकार्य कर रहा है, बहुत अच्छा, बुद्धिमान, होनहार है; नाक-नक्श, डील-डौल बहुत अच्छा है...।

हमारे परिवार में कुछ नाटकीय प्रतिक्रिया रही। हमारी ताईजी को यह कतई गवारा नहीं हुआ। उन्होंने पिताजी से कहा—'बालाजी, यह तो लीलम् ने ठीक नहीं किया। हमारी जाति में क्या अच्छे लड़के नहीं हैं? लोग टीका-टिप्पणी करेंगे। आपने क्यों नहीं रोका?' पिताजी ने आश्वस्त भाव से कहा—'हमारा अपनी बेटियों पर पूरा विश्वास है, वे कोई ऐसा-वैसा काम नहीं कर सकतीं। लीलम् ने सोच-समझकर ही निर्णय लिया है। लड़का बुद्धिमान्, होनहार है। परिवार अच्छा है, भार्गव ब्राह्मण है, पिता अच्छे ओहदे पर हैं।'

अब आयी पचासी वर्षीय दादाजी की बात। बाकी दो बहनों की तुलना में लीलम् उनकी दृष्टि में सरल, निरीह थी; उनकी विशेष लाडली भी थी। लीलम् ने ऐसा बाग़ी कदम कैसे उठाया? धक्का तो उन्हें पहुँचा ही होगा। सुनकर उन्होंने थोड़ा सोचा और कहा—'रामजी की इच्छा।' उसके बाद उनकी अनपेक्षित टिप्पणी थी—'शास्त्र में कहा है कि यदि उचित समय पर पिता अपनी पुत्री का विवाह नहीं करवाते और ऐसी स्थिति में लड़की अपने-आप वर चुन लेती है तो दोष पिता को जाता है। रामजी उसे सुखी रखें।'

हमारी सबसे छोटी बहन विमल, जिसका विवाह पहले ही हो चुका था, के घर में मेरी प्रथम भेंट श्यामाचरण से हुई। साँवला वर्ण, आकर्षक नाक-नक्श, भरा-पूरा डील-डौल, बुद्धिमत्ता से दमकता हुआ चेहरा, शिष्ट और सुसंस्कृत ढंग से आदरपूर्वक अभिवादन तथा व्यवहार, सब-कुछ अच्छा लगा। बातचीत हुई। मेरे पूछने पर अपना कार्य, आगामी योजना के बारे में अपने विचार उन्होंने बताये। मन पर जो प्रभाव पड़ा, इतनी कालावधि के अंतराल पर भी वह आज भी याद है। तीक्ष्ण बुद्धि, विचारों में व प्रस्तुति में स्पष्टता, आत्मविश्वास व पुरोगामिता का दर्शन उस तेईस वर्षीय युवक में मुझे हुआ। पिताजी के पूछने पर मैंने यही बताया।

इधर हमारी लीलम्—गोरा गुलाबी रंग, चेहरे पर बुद्धि की चमक, लुभावनी, निश्चल कोमलता; सोचा ही नहीं था कि इसके अन्तस् में विरोध की संभावना के बावजूद इतनी निडरता, अपने भविष्य को स्वयं दिशान्वित करने की दृढ़ता हो सकती है। पिताजी को कह देना कि 'उसे लोगों के सामने अपना प्रदर्शन करवाने की इच्छा नहीं है, और न वह लेन-देन में विश्वास रखती है इसलिए उसके लिए वे वर की चिंता न करें, वह स्वयं ढूँढ़ लेगी,' बावन वर्ष पूर्व की मान्यताओं के अनुसार धृष्टता ही थी। मेरे मन में आया कि इसने तो भई करके दिखा दिया।

सुदूर अतीत में मन चला गया। अकोला शहर; बड़ा 'बेबी शो' (Baby Show), दस महीने की लीलम् को प्रथम पारितोषिक की घोषणा, प्रधान प्रायोजक का गोरी-चिट्टी, गोल-मटोल लीलम् को हथेली पर रखकर ऊपर उठाकर चारों ओर घुमाना, हमारे माता-पिता की, हमारी खुशी····। मन वर्तमान में लौट आया। एम. ए. की छात्रा लीलम् का अपने कॉलेज के सामने खड़े श्याम को दूर से देखकर उसकी असाधारण बुद्धि व कर्तृत्व का अंदाज़ा लगाना, अपनी सहेलियों से जानना कि यह वही शोध-छात्र है जिन्होंने बी. ए. ऑनर्स (एम. ए.) में प्रथम श्रेणी में प्रथम पद प्राप्त किया था! उनके विषय में अपने बहनोई—विमल के पति, जो उस समय वकालत पढ़ रहे थे—से पूछताछ करना, वे चूँकि पहले से ही श्याम को जानते थे, उनका अपनी तरफ से श्याम के पास प्रस्ताव लेकर जाना, और कुछ दिन लीलम् से अनेक विषयों पर बातचीत करने के बाद श्याम के द्वारा गुरुदेव टैगोर की गीतांजलि से 'I cannot choose the best, the best chooses me' इस पंक्ति को उद्धृत करके प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दर्शाना; एक स्वप्निल कथा-सी लगती है।

जल्दी ही श्याम ने अपने पिताजी से भी अनुमति ले ली। नागपुर के हिस्लॉप कॉलेज में प्रवक्ता के पद पर नियुक्ति होने के पश्चात् सिविल मैरेज पद्धति से भंडारा में (जहाँ हमारे पिताजी जिला न्यायाधीश थे) श्यामाचरण दुबे व लीला अंबर्डेकर का विवाह सम्पन्न हुआ। स्वप्निल कथा वास्तविक धरातल पर आ गई। संघर्ष, यश, मीठे-खट्टे, कटु-कसैले अनुभव सब उसके अभिन्न अंग बने। सुदीर्घ सहजीवन की यात्रा का प्रारंभ हुआ।

उस युग के मूर्धन्य समाजशास्त्री प्रो. धूर्जटिप्रसाद मुखर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय में थे; मेरे गुरु आचार्य श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर के वे प्रशंसक व निकट स्नेही थे। प्रो. मुखर्जी संगीत के मर्मज्ञ रसिक थे। जाने-माने संगीतकारों का संगीत सुनते, उनका समादर करते। गुरुदेव

रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ प्रो. मुखर्जी के आत्मीय सम्बन्ध थे; उनकी परंपरा में ही वे रचे-रमे थे। हमारे कॉलेज के जलसों में सम्मिलित होते, गुरुवर से मिलने आते, चर्चा-गोष्ठी का आनंद रहता। उनके साथ मेरा परिचय होना, मिलते रहना, संगीत की शैलियाँ, सौंदर्य-बोध, सामाजिक मूल्य जैसे पहलुओं के बारे में उनकी प्रगल्भ धारणाओं तथा विचारों से लाभान्वित होना, उनसे प्रोत्साहन पाना, यह सब मेरे लिए एक बहुमूल्य सुअवसर था। उसी दौरान प्रो. मुखर्जी की सारगर्भित पुस्तिका 'Indian Music : An Introduction' प्रकाशित हुई थी। प्रस्तावना में गुरुवर रातंजनकर के महत्त्वपूर्ण योगदान का उल्लेख था। अंतिम वाक्य था—By the way, I am not ashamed of the sociological stamps in my treatment of music.' मेरा कौतूहल जाग उठा। इस वाक्य के प्रयोजन के बारे में मैंने प्रो. मुखर्जी से पूछा तो उन्होंने हँसकर कहा—"So, you have taken note of that, It is a challenge I have thrown which will reach its destination' और देर तक उसके बारे में बात करते रहे।

1946 में जब मैं नागपुर आयी तो लीलम्-श्याम से मिली। श्याम पी-एच. डी. प्रबंध को अंतिम रूप देने में लगे हुए थे। लखनऊ की अपनी बहुमूल्य उपलब्धियों का वर्णन मैंने किया; पुस्तिका भी उन्हें दिखाई। मैंने देखा कि श्याम बहुत प्रसन्न व उत्साहित हुए थे। कहने लगे—मैं बहुत चाहता हूँ कि लखनऊ जाकर प्रो. मुखर्जी से और प्रो. मजूमदार से मिलूँ। कौन जानता था कि अगले ही वर्ष लखनऊ विश्वविद्यालय में श्यामाचरण दुबे की नियुक्ति होनेवाली है, और उनकी इच्छा पूर्ण होनेवाली है। दोनों विद्वानों के निकट संपर्क में वे आनेवाले हैं। कोई भविष्यवाणी नहीं थी कि लखनऊ में प्रारंभ के कुछ सप्ताह हमारे मैरिस म्यूज़िक कॉलेज में आचार्य रातंजनकर के मेहमान के रूप में वे ठहरनेवाले थे और मकान मिलने के बाद लीला पहुँचनेवाली थी।

इस दौरान श्री दादा (मेरे पति) के सिटी कॉलेज के सहयोगी प्रोफ़ेसर लोग—सेन व गर्दे (राजनीति-शास्त्र), पहाडे (इतिहास), देशपांडे (दर्शनशास्त्र), वनमाली (अंग्रेज़ी)—सब हमारे यहाँ प्रीतिभोज के लिए एकत्रित हुए थे। राजनीति-शास्त्र में B.A. (Hons.) में 1st Class First आनेवाले अपने कॉलेज के मेधावी छात्र श्यामाचरण दुबे की बात चली। प्रशंसा के दौरान यह भी बात आयी कि अपने विषय में अच्छे prospects होते हुए भी एकदम नया anthropology का क्षेत्र चुना है Ph. D. के लिए। अपनी नागपुर यूनिवर्सिटी में यह विषय भी नहीं है, न लायब्रेरी, न सामग्री, न विधिवत् मार्गदर्शन। सब-कुछ अपने-आप कर रहा है, शोधकार्य लगभग पूरा हो गया है। यह तो सब को credit लायेगा। 'अरे, मुटाटकर साहब, आप बड़े खुश लग रहे हैं, क्यों न हों, आपका तो 'साडू' ही है'।

श्यामाचरण दुबे की पाइप-प्रीति तो सर्वविदित है। दत्तचित्त होकर अपने शाही अंदाज़ में पाइप का आनंद उठाते हुए मंडली के बीच हास-परिहास, गहन-गंभीर, सभी प्रकार की बातचीत, चर्चा में रम जाते। एक बार मैंने कहा—'यह सलोनी (Graceful) पाइप आपके ऊपर खूब जँचती है। इसके साथ आप truly intellectual, deeply contemplative and highly dignified लगते हैं।' तो हँसकर कहने लगे—'Now, Sumati Tai, you are trying to pull my leg'. मैंने कहा—'आप ऐसा भी समझ सकते हो; पर यह मेरे मन

की सच्चाई है।' कुछ उत्साहित होकर कहने लगे—'अगर धूम्रपान करना हो, तो पाइप ही सबसे अच्छा है। बीड़ी, सिगरेट, सिगार इसके सामने कुछ भी नहीं। मैं दादा को भी सलाह दे रहा हूँ कि सब-कुछ छोड़कर पाइप की शरण में आयें। आप ऑस्ट्रेलिया जा रही हैं तो तीन-चार अच्छी quality के पाइप और साथ में आला दर्ज़े की तंबाकू ले आइए। तब इस शुभ काम को करेंगे।' मैं जानकारों की सलाह से यह सब साज-सिंगार लेकर आयी। पाइप में किस तरह ईंधन भरना, पाइप को सुलगाना, पीना, फिर किस तरक़ीब से, नजाकत से, पाइप को साफ करना, बारीक़-सी शलाका से कुरेदना, यह सब एक कला है—बोलते गये। प्रयोग करके दिखाया, सुगंधित धूम्र के वलय उठने लगे। मेरे पति बस में आ गये, सब-कुछ सीख लिया। हमारे घर में पाइप चालू हो गया। पाइप पीने को छोड़कर बाक़ी सब काम आया मेरे ही जिम्मे। दादा ने कहा—'शुरू में कुछ दिन तुम कर देना, फिर मैं अपने-आप करने लगूँगा।' यह कुछ हुआ नहीं और हम फिर से जहाँ के तहाँ रह गये।

शिमला संस्थान के निदेशक पद के कार्यकाल में प्रो. दुबे बहुआयामी संगोष्ठियों का आयोजन करते रहे। सन् 1976 में Alternative Futures के शीर्षक से सांस्कृतिक मूल्यवत्ता को प्राधान्य देनेवाली चिन्तन प्रवर्तक संगोष्ठी का आयोजन किया था। मैं आमंत्रित थी। डॉ. लोखंडवाला के विस्तृत पत्र के बाद प्रो. दुबे का आग्रहपूर्ण पत्र आया। विद्वज्जनों की सभा में हमारा क्या काम?—ऐसी मेरी पहली प्रतिक्रिया रही। पर सोचने पर लगा कि कुछ मौलिक प्रस्तुति तो मैं भी कर ही सकती हूँ। स्वीकृति दे दी। शीर्षक बनाया—The great (महत्ती) and the little (लघ्वी-लघु) Traditions (परंपराएँ) in Indian Music. (Need for locating and developing the agelong interrelatedness between the two).

श्री मुटाटकर व उषा के साथ मैं शिमला पहुँची। मेरा विषय मंडन था—हमारी सांस्कृतिक परंपराओं में किसी विद्या या कला के संदर्भ में बिना भेद-भाव के, समग्र दायरा अंतर्भूत किया जाता रहा है। संगीत को देखें तो शास्त्र ग्रंथों में बड़े-बड़े उच्चभ्रू प्रबंधों के साथ-साथ प्रादेशिक और लोकप्रचलित विधाओं के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। जैसे—ओवी (महाराष्ट्र), द्विपदी (दोहा), चतुष्पदी (चौपाई), लोली—शिशु सुखार्थ (लोरी), वीरगाथा इत्यादि। कितनी ही लोकधुनों में हमारे गुरुगंभीर रागों का उद्गम स्पष्ट दिखाई देता है। फिर तानपुरा, तबला, ढोलक व सारंगी की संगति में सोदाहरण प्रतिपादन किया।

निष्कर्ष था—दोनों परंपराएँ समग्र सामाजिक परिवेश में जितनी निकट आयेंगी, जितनी अधिक घुल-मिलकर पनपेंगी, जितना आदान-प्रदान बढ़ेगा, उतना ही भावात्मक संवेदन, एकात्मता का अहसास बढ़ेगा, और एक सुसंवादमय, आलोकित, पुरोगामी भविष्य का पूर्वदर्शन होगा।

विद्वत्सभा के द्वारा मेरी प्रस्तुति स्वीकृत हुई, सराही गयी। श्याम प्रसन्नचित्त होकर सबके साथ बातचीत कर रहे थे। कुछ सवाल भी उठाये जा रहे थे। धन्यवाद करते हुए मैंने सहजभाव से कहा—'मेरा धीरज बँध रहा है, हो सकता है कि प्रो. दुबे की सहायता व सहयोग से, भारतीय संगीत का समाजशास्त्र जैसे ग्रंथ का निर्माण हम कर सकें।' श्याम को यह कल्पना

बहुत पसंद आयी। कुछ और लोगों ने भी सहमति दर्शायी।

कल्पना कार्यान्वित नहीं हुई, जहाँ की तहाँ ही रह गयी। पर मेरे लिए यह प्रसंग एक सुखमय तरंग बनकर मानस में बस गया।

श्याम की साहित्य में सक्रिय रुचि रही। उनके समाजशास्त्रीय लेखन में भी एक साहित्यिकता थी, साथ-साथ कितनी ही सारगर्भित सूक्तियाँ-कहावतें उनके संग्रह में थीं। उनका मानना था—जोकि सही था—कि उक्ति तो एक निष्कर्ष है, जिसका आधार पूर्व पंक्तियों में खोजना चाहिए। आधार को जानकर ही उक्ति की पूरी अर्थवत्ता उजागर होती है।

मैं संस्कृत साहित्य का अध्ययन करती रही हूँ। सुभाषित-सूक्तियों की पूरी जानकारी प्राप्त करते रहने में मेरी रुचि रही है। इस प्रकार की कोई जानकारी चाहिए होती तो श्याम मुझसे पूछते, और मैं उन्हें बताती। एक बार उन्होंने मुझसे पूछा कि 'योजकस्तत्र दुर्लभः' की पूर्व पंक्तियाँ क्या मैं बता सकती हूँ। मैंने अर्थ के साथ पूरा श्लोक बता दिया।

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥

कोई भी अक्षर मन्त्र के लिए सर्वथा निरुपयोगी नहीं होता, कोई भी जड़ी-बूटी औषधि के लिए पूर्णतया निरुपयोगी नहीं होती (कहीं-न-कहीं इनका उपयोग अवश्य हो सकता है)। कोई भी पुरुष (व्यक्ति) सर्वथा अयोग्य, जो कहीं भी, किसी भी कार्य के लिए उपयोगी न हो—ऐसा नहीं होता, पर उसके गुणों को पहचानकर उसे समुचित कार्य में लगाने की योजना करनेवाला योजक दुर्लभ होता है—सुनकर कहने लगे, वाह! अब हुआ सम्यक् अर्थ उजागर इस उक्ति का, कैसी गहराई और एक दिशा-दर्शन का संकेत मिलता है।

मुझे लगता है कि सामान्यतः श्याम की जिज्ञासा निष्प्रयोजन नहीं होती थी, कोई-न-कोई संदर्भ उनके मन में होता था। एक बार उन्होंने लीला से पूछा—भवभूति की उस प्रसिद्ध उक्ति के बारे में, जहाँ उन्होंने कहा है कि कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं उनका कोई समानधर्मा उत्पन्न होगा और उन्हें न्याय मिलेगा। लीलम् ने कहा कि, भवभूति का 'उत्तररामचरित' तो उनके बी. ए. के पाठ्यक्रम में था और उक्ति भी उन्हें मालूम है पर पूरे संदर्भ के बारे में मुझसे पूछा जाए। पूछने पर मैंने तफ़सील से बताया। भवभूति विख्यात् विद्वान् थे; अपने उत्कृष्ट काव्य- गुण और सरसता के बारे में भी उन्हें आत्मविश्वास था। पंडितों द्वारा उनके 'महावीरचरित' को निकृष्ट घोषित करने पर वे दुःखित व क्रोधित हुए। यह सरासर अन्याय और अरसिकता का प्रदर्शन था। तब आवेश में आकर भवभूति ने जिस श्लोक को उछाला; वह है—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्।
तेषां कृते न खलु एष ममापि यत्नः॥
उत्पस्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा।
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

जो अहंमन्य मेरी अवज्ञा कर रहे हैं, उनके लिए मेरा यह यत्न (कृति) है ही नहीं। (मेरा विश्वास

है कि) (कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं) मेरा समानधर्मा (काव्यदर्शी) उत्पन्न होगा ही। (क्योंकि) काल निर्बाध, अनंत है और यह पृथ्वी अति विशाल है।

भवभूति का यह दावा परवर्ती काल में सर्वतोपरि सत्य स्थापित हुआ। सब जानते हैं कि वे कालजयी कीर्तिप्राप्त कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। पृष्ठभूमि को सुनकर श्याम प्रभावित होकर कहने लगे—'यह प्रतिभा का आवेश व वर्चस्व है।' उनके निधन के पश्चात् जब मैंने उनका The Journey so far जो एक तरह का आत्मचरित्र है, पढ़ा, तब मेरी समझ में आया कि वह श्लोक उनके मन में क्यों घुमड़ रहा था। उन्होंने अपने उस लेख के अंत में भवभूति के इस श्लोक का बहुत सुंदर उपयोग किया है।

अभी-अभी दो साल पहले की ही बात है, मैंने श्याम से कहा—'जामाता की पारंपरिक निंदा तो कई बार आपको सुनायी गयी होगी।'

सदा वक्रः सदा क्रूरः सदा पूजामपेक्षने।
कन्याराशी स्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः॥

अब मैं स्वरचित जामातृ प्रशंसा आपको सुनाती हूँ :

सज्जनः प्रियवादचि सदा सत्कार्यतत्परः।
कन्या ललामभूतोऽयं जामाता गृहभूषणम्॥

मैंने पूछा—'कैसी लगी यह जामाता प्रशंसा?'

'बहुत अच्छी, यह तो मेरा ही बखान मालूम पड़ रहा है। मेरा ही मॉडल तो नहीं लिया आपने?'

मैंने कहा—'वाह, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू? वैसे आप तो बहुत ही अच्छे दामाद हैं। आपको और अन्य कुछ अच्छे दामादों को देखकर ही मेरे मन में प्रशंसा की बात आई।' तो कहने लगे—'मेरी टोपी में यह एक पर लग गया। पता नहीं क्यों मुझे कभी-कभी ख़ा-म-ख़ा ही अक्खड़बाज़, अहंकारी करार दिया जाता है।'

मध्य प्रदेश उच्च शिक्षा आयोग के अध्यक्ष पद से निवृत्त होकर श्याम भोपाल से दिल्ली आ गये। मयूर विहार में अपने निजी आवास में रहने लगे। अब उन्होंने (ग्रंथो के साथ-साथ) विचार प्रवर्तक, खरी-खरी सुनानेवाले लेख अपनी प्रभावशाली शैली में—विशेष रूप से हिंदी अख़बारों में—लिखना चालू कर दिया। आकाशवाणी, दूरदर्शन पर राष्ट्रीय स्तर की वार्ताओं, चर्चाओं में प्रो. श्यामाचरण दुबे का नाम प्रमुख रूप से झलकने लगा। विश्वविद्यालयों में, समाजशास्त्रीय, साहित्यिक क्षेत्र की प्रमुख संस्थाओं में उनकी साख और कार्य राजधानी में प्रस्थापित होते गये। राजधानी का अपना महत्त्व होता है। स्वाभाविक ही था कि अख़बार, आकाशवाणी, दूरदर्शन, सब-के-सब मीडिया अपने-अपने संवाददाता/दात्री को, उनका 'इंटरव्यू' लेने के लिए भेजने लगे; कुछ Free lance व्यक्तियों के लिए वह जीविका का साधन था। इनमें से कुछ तो अपने कार्य-क्षेत्र में मँजे हुए व्यक्ति होते थे परन्तु ऐसे भी युवक व युवतियाँ थीं जो सामान्यतः लोक संचार (mass communication) से

प्रशिक्षित, विषय से अनभिज्ञ, समुचित पूर्व तैयारी के बिना appointment लेकर आ जातीं। इन भेंटवार्ताओं को श्याम हास-परिहास का दायरा बना लेते। हमारे लिए नमूनो को चित्रित करते। कुछ रोचक नमूने—

प्रश्न (1)—सर, कृपया बतायें कि आपको पढ़ने-लिखने का शौक कैसे हुआ? बचपन से ही था या बाद में लगा?

उत्तर—मुझे बचपन से पढ़ने-लिखने में कोई रुचि नहीं थी। मैं खेलकूद में ही लगा रहता। एक बार मास्टरजी ने दोनों कान उमेठकर मुझे ऊपर उठाया और नीचे पटक दिया, दो-चार चपतें भी लगाईं। बस, तब से मैं पढ़ने-लिखने लगा।

प्रश्न (2)—सर, नृतत्त्वशास्त्र व समाजशास्त्र के परस्पर सम्बन्धों के बारे में आपकी क्या मान्यता है?

उत्तर—दोनों में आपस में कुछ मेल-जोल है, वैसे अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ भी हैं।

प्रश्न (3)—सर, आप इतने महान् समाज वैज्ञानिक कैसे बने?

उत्तर—बस, घास काटते-काटते····काटते-काटते, एक दिन बन गये।

प्रश्न (4)—एक resourceful, bright युवती ने सुझाव दिया—'सर, आप ही हमारे लिए प्रश्न बनायें और फिर आप उत्तर देते जायें तो कितना meaningful हो सकता है?

एक-एक बताते जाते और खूब हँसते-हँसाते जाते। मैंने कहा—'भई श्याम, ये नित नयी उपजें बहुत रोचक लग रही हैं। हमारी राग गौड़ सारंग की धमार से एक पंक्ति याद आ रही है—'उपज पै उपज परत रंग भीनी'—जो आपके कथन पर 'फिट' बैठती है। एकाध सत्यघटित भी तो हो जाये।'

तो अट्टहास करके बोले—'मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि सच बोलूँगा, सच के सिवाय और कुछ नहीं बोलूँगा।' इस प्रशोत्तरी में प्रश्न अक्षरशः ये ही न हों, पर इसी प्रकार के थे, उनका स्तर व भेटकर्ता-कर्त्री का (अ) ज्ञान दोनों का निःसंदेह यही दायरा रहा।

अब एक सत्य कथा—

भेंटकर्त्री—(कुछ प्राथमिक बातचीत के बाद)

प्रश्न—श्रीमान्, आपकी श्रीमतीजी तो आपकी प्रशंसक होंगी ही, आपके ऊपर उन्हें गर्व भी होगा।

उत्तर—जी हाँ, ऐसा ही कुछ है।

प्रश्न—'आपकी discipline में वे कुछ रुचि रखती हैं?'

उत्तर—हाँ, कुछ रुचि तो रखती हैं। अभी वे किचन में कुछ काम कर रही हैं, उन्हीं से पूछ लें।

'Thank you Sir, thank you very much'.

जनवरी, 1996 में प्रो. दुबे का स्वास्थ्य काफी खराब हुआ था; नेशनल हार्ट इन्स्टीट्यूट में उनका इलाज़ चल रहा था। कुछ सुधार हो रहा था, और दो दिन के बाद उन्हें घर ले जाने की बात थी। मैं उनसे मिलने गयी। कुछ आश्वस्त दीख रहे थे। मैंने कहा—'घर जाने के बाद सब-कुछ, लिखना-पढ़ना भी, हौले-हौले, थोड़ा-थोड़ा करते जाना, परिश्रम, तनाव न होने पाये।'

तो कहने लगे, 'हाँ, ऐसा ही करूँगा, ज़्यादा कुछ तो मुझे करना ही नहीं है। एक सौ पन्नों की पुस्तक पूरी मेरे दिमाग़ में है, उसे लिख डालूँ; और अगर हो सके तो तीन सौ पन्नों की और एक, आशीर्वाद दीजिए कि मैं ये कर सकूँ।'

मैंने उनके सिर पर हाथ फेरा और कहा—'एवमस्तु।' उन्होंने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया, मैं कमरे से बाहर आ गयी।

एक प्रतिभा पारखी एवं सहृदय समाजशास्त्री

☐ कैलाशनाथ शर्मा

प्रो. श्यामाचरण दुबे की प्रायः सभी बौद्धिक कृतियाँ प्रकाशित हैं और शेष प्रकाशन परायण हैं। इसलिए वे जग विख्यात हैं। उन्हें उजागर करना पिष्ट-पोषण होगा। अतः मैं इस संक्षिप्त लेख में उनके उन मानवीय गुणों पर प्रकाश डालना चाहता हूँ जो पारस्परिक सम्बन्धों तथा आचरणों से स्पष्ट होते हैं।

दुबे जी से सम्बन्धित अपने संस्मरणों को लिखने से पूर्व मैं यह कहना चाहता हूँ कि संस्मरण किसी व्यक्ति की दर्पण में पड़नेवाली प्रतिछाया मात्र नहीं होते। दर्पण के गुण-दोष के अनुरूप प्रतिछाया प्रतीत होती है। इसलिए पहले मैं कुछ अपने बारे में कह दूँ। प्रो. घुरिये के अलावा शायद ही कोई वरिष्ठ समाजशास्त्री अथवा मानवशास्त्री रहा हो जिससे मेरा परिचय न हुआ हो। इनमें कुछ का मैं शिष्य भी रहा, जैसे कि डॉ. राधाकमल मुखर्जी, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, धीरेन्द्रनाथ मजूमदार और अवधकिशोर शरण। पर उनमें किसी से भी मेरे सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं हो सके केवल अवधकिशोर शरण को छोड़कर। पर मैंने अपने लाभ के लिए किसी भी सम्बन्ध का उपयोग साधन के रूप में नहीं किया। अन्यों की बात तो जाने दीजिए। करीब सत्तर वर्ष की आयु में 96 वर्ष के स्वस्थ एवं समर्थ अपने पिता बैकुण्ठनाथ शास्त्री से भी आजीवन माँगने में संकोच बना रहा है।

दुबे जी से मेरा परिचय सन् 1955 में देहरादून में हुआ। तब न वे प्रोफ़ेसर थे और न मैं ही था। पर तत्कालीन भारतीय समाजशास्त्र के छोटे-से आकाश में दुबे जी प्रातःकालीन नवोदित शुक्र तारे की तरह अलग पहचाने जा सकते थे। कमार जनजाति पर उनकी पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी। धर्मयुग में हिन्दी में जनजातियों पर उनके लेख यदा-कदा प्रकाशित होते रहते थे और 1955 में ही उनको प्रतिष्ठित करनेवाली पुस्तक 'इण्डियन विलेज' भी प्रकाशित हो चुकी थी। उन दिनों वे लखनऊ—कार्नेल विश्वविद्यालयों के संयुक्त शोधकार्य के एक हिस्से के रनखण्डी में डाइरेक्टर थे। देहरादून में प्रथम समाजशास्त्र सम्मेलन हो रहा था और हम दोनों वहाँ भाग लेने के लिए पहुँचे थे। सन् 1953 दिसम्बर में मेरी पहली पुस्तक 'भारतीय समाज : संस्कृति और संस्थाएँ' प्रकाशित हो चुकी थी। यह समाजशास्त्र के किसी भी विषय पर हिन्दी में प्रकाशित पहली पुस्तक थी। ऐतिहासिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण योगदान था, भले ही हिन्दी के साहित्यिकों ने इसकी आज तक अनदेखी की हो। दुबे जी पहले व्यक्ति थे जिसने इस प्रयत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा की और हम मित्र बन गये।

पत्राचार तो कम हुआ क्योंकि मैं न कुछ देने की स्थिति में था और न माँगने की प्रवृत्ति वाला था। पर हम लोग सम्मेलनों में मिलते रहे और अपनी मित्रता को नवीन करते रहे। सन् 1960 में बख़्शी के तालाब (लखनऊ) में बी. डी. ओ. के प्रशिक्षण के लिए दुबे जी और मैं,

दोनों आमन्त्रित थे। मैंने वहाँ अपने भाषण में पंचायतों की कार्य-प्रणाली तथा गाँव की राजनीति को प्रभावित करनेवाले 'साधन स्रोत समूहों' के प्रत्यय को प्रस्तुत किया। ये ऐसे समूह होते हैं जिनका उद्देश्य औपचारिक संघटनों की सत्ताओं में निहित शक्ति को अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए सक्रिय करना होता है। इसके लिए सामाजिक सम्बन्धों के जाल को फैलाया जाता है तथा समूहों की स्थापना की जाती है। भाषण के बाद दुबे जी ने इस प्रत्यय की प्रशंसा की और मुझसे कहा कि तुरन्त इसे लिखकर भेज दूँ। उन्होंने इसे 'योजना' में प्रकाशित कराया। तब से सन् 1972 तक मैं इस प्रत्यय और इसके प्रयोग के विषय में लिखता रहा।

सन् 1972 में वे भारतीय उच्चतर अध्ययन संस्थान, शिमला के निदेशक थे। दिल्ली में उनके कैम्प ऑफिस में एक दिन मिला और इस विषय पर एक पुस्तक की संक्षिप्त रूपरेखा का ज़िक्र हुआ। दुबे जी ने तुरन्त प्रस्ताव रखा कि अप्रैल 1973 से मैं शिमला आ जाऊँ और पुस्तक लिख डालूँ। मैं पहुँच गया और उनके प्रोत्साहन ने मुझसे पुस्तक लिखवा दी। यह शिमला संस्थान से 'Institutions Network and Social Change' नामक शीर्षक से 1975 में प्रकाशित हुई।

प्रतिभा की मुक्तकंठ से प्रशंसा करना उनका प्रमुख गुण था। सातवें दशक की बात है, लखनऊ की एक गोष्ठी में श्रीलाल शुक्ल भी उपस्थित थे। उनके बहुचर्चित एवं बहुपारितोषिक-प्राप्त उपन्यास 'राग दरबारी' को प्रकाशित हुए कुछ वर्ष ही हुए थे। दुबे जी ने इस उपन्यास के सामाजिक न्यासों की गहराई के आधार पर श्रीलाल शुक्ल को उच्चकोटि के समाजशास्त्री की संज्ञा दी तथा उनकी पैनी दृष्टि एवं भाषा की भी भूरि-भूरि प्रशंसा की। 'राग-दरबारी' की गम्भीर समीक्षा इस बात का भी प्रमाण थी कि दुबे जी की हिन्दी साहित्य में उतनी ही रुचि थी जितनी समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र में। अन्ततोगत्वा उन्हें हिन्दी साहित्यिकों ने भी सम्मानित किया। वे ऐसे एकमात्र समाजशास्त्री हैं जिन्हें हिन्दी साहित्य के योगदान के लिए पुरस्कृत किया गया।

दुबे जी जहाँ भी रहे, मुझे किसी-न-किसी बहाने बुलाते रहे। चाहे सागर विश्वविद्यालय हो, चाहे मसूरी हो, चाहे शिमला हो और चाहे जम्मू हो; हर जगह उन्होंने मुझे आमन्त्रण दिया और मैं गया। न वे वचन-दरिद्र थे और न आवभगत और स्वागत-सत्कार में ही किसी प्रकार की सीमा रखते थे। शाम को उनके घर पर होनेवाली बैठकें जीवन्त होती थीं। अनेक विषयों पर सरस चर्चाएँ होती थीं। किसी भी विद्वान् के यहाँ मैंने ऐसी बैठकें न देखीं और न सुनीं। इनमें अनेक विषयों के विद्वान्, पत्रकार और प्रबुद्ध उच्च सरकारी अधिकारी भाग लेते थे। इन बैठकों के सौष्ठव एवं सुरुचिपूर्ण खान-पान की तुलना मैं अपने कानपुर के कुछ उद्योगपति मित्रों की बैठकों से ही कर सकता हूँ।

उत्तर भारत में पाँचवें दशक के अन्त से छठे दशक तक की एक लम्बी अवधि में समाजशास्त्र विभागों की नियुक्तियों पर विशेषज्ञों की एक त्रयी छाई रही। इस त्रयी के वरिष्ठ नेता डॉ. रामनारायण सक्सेना थे और दुबे जी के अतिरिक्त पटना के नर्मदेश्वर प्रसाद थे। इस अवधि में अनेक विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में समाजशास्त्र विभागों की स्थापना हो रही थी। आवश्यकतानुसार योग्य एवं अनुभवी समाजशास्त्रियों की कमी थी। फलतः इस अवधि में हुई कुछ नियुक्तियाँ अभी तक चर्चा का विषय बनी हुई हैं, यद्यपि ये चर्चाएँ अब मृतप्राय ही

हैं। इन सन्दिग्ध नियुक्तियों में दुबे जी की क्या और कितनी भूमिका थी, वह मैं आधिकारिक रूप से नहीं कह सकता। पर मुझे एक घटना याद है, जो उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है। जिन दिनों मैं शिमला में था, दुबे जी ने एक नये चर्चित समाजशास्त्री को तीन भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया। उनके भाषण एवं आचरण से तीनों गोष्ठियों में सम्मिलित विद्वज्जन असन्तुष्ट एवं खिन्न थे। दुबे जी ने भी अपने असन्तोष को उजागर किया। इस घटना के तुरन्त बाद उस वक्ता की पदोन्नति के सम्बन्ध में दुबे जी की राय पूछी गई। उन्होंने उस वक्ता की पदोन्नति का अन्ततोगत्वा समर्थन किया और यह कहा कि यह परिश्रमी समाजशास्त्री है तथा एक नये क्षेत्र में काम कर रहा है। इसे उत्साहित करना चाहिए। यह उनकी सहृदयता का प्रमाण था, जिसका लाभ कुछेक अयोग्य व्यक्तियों ने भी उठाया।

रुचि-वैचित्र्य एवं रुचि-सौष्ठव उनके विशेष गुण थे। उनकी रुचि न केवल अंग्रेज़ी और हिन्दी भाषाओं में उत्कृष्ट लेखन एवं वक्तृता में ही थी, अपितु ऐसे प्रत्येक कार्य में थी जो उनके उत्तरदायित्व एवं व्यक्तित्व के दायरे में आते थे। शिमला के संस्थान के निदेशक का उत्तरदायित्व न केवल उच्चतर अध्ययनों को संघटित एवं आयोजित करना एवं पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था ही था, अपितु राष्ट्रपति निवास की गरिमा के अनुरूप उसकी साज-सज्जा की व्यवस्था भी करना था। राष्ट्रपति निवास के उपवन में अनेक प्रकार के फूलों के पौधे एवं पेड़ हैं। उनके रक्षण एवं संवर्धन के लिए यह आवश्यक है कि मालियों से भी व्यक्तिगत सम्पर्क रखा जाय ताकि उन्हें अपने कार्य में प्रोत्साहन मिले। मूल भवन के पर्दे, कालीन, फर्नीचर आदि का चुनाव एवं संरक्षण जैसे कार्य में भी उनकी रुचि एवं विशेषज्ञता की झलक मिलती थी। खान-पान के सौष्ठव के साथ-साथ अपनी वेश-भूषा पर भी पूरा ध्यान देते थे। सब मिलाकर 'शीन-क़ाफ़' दुरुस्त रखने के प्रति उनका आग्रह था। कमज़ोरी केवल एक थी और वह उनकी लिखावट थी।

मेरी दृष्टि में लेखन में पूर्ण निष्ठा उनका सबसे प्रशंसनीय गुण था। सागर विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर एवं विभागाध्यक्ष बनने के बाद से अपने सम्पूर्ण सक्रिय सेवा कार्यकाल में उनके ऊपर प्रशासनिक भार बना रहा। प्रशासन की अनेक समस्याएँ होती हैं। साधन-स्रोत समूहों का दबाव भले ही टाला जा सके, पर शिक्षा मन्त्रालय एवं मन्त्रीगणों के दबाव को झेलना आसान नहीं है। इसके अलावा प्रत्येक प्रशासनिक कार्य यदि कुछ व्यक्तियों को सन्तुष्ट करता है तो अनेक व्यक्तियों को असन्तुष्ट करता है। इस प्रकार की सभी परिस्थितियाँ मानसिक तनाव पैदा करती हैं और समय लेती हैं। इस सबके बावजूद वे बराबर लिखते रहे। सेवा-निवृत्त होने के बाद वे दिल्ली में ही बस गये। वहाँ पर भी अनेक कमेटियों की सदस्यता एवं गिरते स्वास्थ्य के बावजूद वे जीवन के अन्त तक लिखते रहे। शायद उनकी जिजीविषा की यही कुंजी थी और यह जिजीविषा संक्रामक थी। जो भी व्यक्ति उनसे मिलता था वह इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था।

सागर के वे दिन

□ फ्रेंसीन कृष्णा

श्याम और लीला दुबे जब 1957 में विश्वविद्यालय में आए तो मुझे सागर में रहते दो साल से ऊपर हो चुके थे। श्याम की नियुक्ति नये कुलपति श्री डी. पी. मिश्र ने की थी जो कुछ नये युवा विद्वानों को अपने विश्वविद्यालय की ओर आकृष्ट करने की कोशिश कर रहे थे। हमने इस सुरुचिपूर्ण युवा दम्पती का गर्मजोशी से स्वागत किया। मानव विज्ञान के लिए सामाजिक व सांस्कृतिक विविधतापूर्ण मध्य प्रदेश से अच्छी जगह भला कौन-सी हो सकती थी?

अगर कोई भारत के नक़्शे के ठीक बीचोंबीच में उँगली रखे तो वह संभवतः सागर पर पड़ेगी। दर हक़ीक़त, एक समय विश्वविद्यालय के संस्थापक सर हरिसिंह गौर ने भारत की नयी सरकार को इस बात के लिए क़रीब-क़रीब मना ही लिया था कि देश की राजधानी के लिए सबसे उचित जगह दिल्ली नहीं बल्कि सागर रहेगी। अगर वह सफल हो गए होते तो आज मुम्बई से दिल्ली जानेवाली ग्रेंड ट्रंक रेलवे बीना के बजाय सागर से गुजर रही होती। मगर ऐसा होना नहीं था और सागर एक छोटा-सा शहर ही रह गया।

सागर का नाम विंध्य पहाड़ियों में स्थित एक झील पर पड़ा है। दुर्भाग्यवश इसे स्वच्छ रखने की तमाम कोशिशों के बावजूद जमती गाद के कारण यह झील आज सिकुड़कर बहुत छोटी रह गयी है। '50 के दशक में पहाड़ियों के बीच बसी यह जगह जंगलों से घिरी थी। तब वहाँ बीस वर्षों से रह रही एक अंग्रेज़ नर्स ने मुझे बताया था कि मानसून में सागर किसी हिल स्टेशन जैसा हो जाता था और यह कि छावनी के इलाक़े में रहनेवाले लोग अलाव में आग जलाते थे। मुझे याद है कि '50 के दशक में बरसात के दिनों में हम भी अलाव जलाया करते थे। कहा जाता है कि उन दिनों औसतन साठ इंच वर्षा होती थी, हालाँकि धोबी भी नियमित रूप से हर हफ़्ते आता था और जलेबीवाला चक्कर लगाया करता था, चाहे बारिश हो रही हो या धूप खिली हो। हम काफी मात्रा में सागवान की लकड़ी की गाँठें जमा रखते थे, ताकि जाड़ों की शाम धधकती आग जलाये रख सकें।

सागर विश्वविद्यालय, जिसे संस्थापक द्वारा स्पष्ट रूप से इसका प्रतिषेध किये जाने के बावजूद आज उनके नाम पर हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय कर दिया गया है, पहले एक पहाड़ी पर मैक्रोनिया में था। कहते हैं कि इस पहाड़ी पर ठग अपनी लूट का माल गाड़कर रखा करते थे। विश्वविद्यालय ने सेना की कुछ बैरकें ले लीं, जिन्हें कक्षाओं, कार्यालय और कर्मचारियों के क्वार्टर में बदल दिया गया। रिहायशी क्वार्टर कच्चे थे। कई बार अँधेरे कोनों में जहरीले साँप निकल आते और रात को जंगली बिल्लियाँ और अन्य जंगली जानवर मँडराया करते।

हममें से कुछ लोगों ने छावनी इलाके में रहना पसंद किया, जहाँ अंग्रेज़ों के बनाये हुए कई बँगले थे। सागर भारत की दूसरी सबसे पुरानी छावनी है और आज भी महार रेजीमेंट यहीं

तैनात है। 1950 में ही कुछ बँगले सौ साल पुराने हो चुके थे। उनकी छत खपरैल की थी, जिनके नीचे टाट के बोरों की नकली छत बना दी गई थी। इस सीलिंग और खपरैल की छत के बीच खाली जगह थी जिस पर कभी-कभी चूहे दौड़ते, बल्कि साँप को भी रेंगते देखा जा सकता था। मगर हमने इसे उस खुरदरे-पथरीले फर्श के साथ ही अपने जीवन का एक हिस्सा मान लिया, जहाँ से यदा-कदा बिच्छू निकल आते। इन घरों की सबसे अच्छी बात, उनका अलाव, बड़े हवादार कमरे और सबसे बढ़कर वह चौड़ा बरामदा था, जो घर के चारों ओर था और जहाँ वर्षा या धूप के हिसाब से जगह बदलते हुए हम अपना अधिकांश समय बिताया करते थे। इन बँगलों के चारों ओर विशाल अहाता था, जिसमें बड़े-बड़े पेड़ थे। शुरू में बहते पानी की व्यवस्था नहीं थी, इसलिए पानी भरनेवाले दिन में दो बार आते और रसोइघर तथा स्नानागार के बड़े-बड़े बरतनों में पानी भर जाते। किपलिंग की कुछ लघुकथाओं में इस जीवन की झाँकी मिलती है (देखिए, 'द रिटर्न ऑफ इमरे' या 'टिक्की टिक्की टैवी')। हमने अंग्रेज़ों की तरह भव्य बाग़ नहीं लगाये, मगर बारिश से पर्याप्त नमी आती थी और घर के चारों ओर की घास हर कुछ दिनों में हँसिए से काटनी पड़ती थी। अंग्रेज़ों ने विरासत में चौड़ी सड़कें और हर अहाते में तथा सड़क के किनारे ख़ूबसूरत घने पेड़ छोड़े थे। टहलनेवालों के लिए यह एक स्वर्ग था।

कैंट, जैसाकि छावनी-क्षेत्र को कहा जाता था, पहाड़ियों से घिरा था और सड़क के किनारे कतार बाँधे पेड़ों में मुझे सबसे प्यारे भारतीय कॉर्क लगते थे, जिनके नाजुक घीए रंग के, नींबू जैसी खुशबूवाले फूल अक्टूबर में जमीन पर बिछ जाते थे। नीम और इमली के पेड़ भी बहुतायत में थे।

दुबे दम्पती ने शुरू में हमारे घर के पास कैंट में ही किराए पर घर लिया और मुझे उनसे मिलने जाने की बातें भी याद हैं। लीला, जिन्हें मैंने बाद में भली-भाँति जाना, मेरे जानते अत्यन्त शालीन मेजबानों में थीं। वह एक सुंदर, आकर्षक, महाराष्ट्र की स्त्री थीं। श्याम की मुलाक़ात उनसे नागपुर में हुई थी, जहाँ लीला राजनीतिशास्त्र की छात्रा थीं और श्याम घुमंतू खेतिहर और भोजन-सामग्री इकट्ठा करनेवाली कमार जनजाति पर पी-एच. डी. कर रहे थे। लीला बहुत ही सुसंस्कृत परिवार से थीं। बाद में मेरी मुलाक़ात उनके पिता से हुई, जो संयोगवश सागर आए थे। उन्होंने एक शाम हमें सितार सुनाया। उनकी एक बहन शास्त्रीय संगीत की मशहूर गायिका और चर्चित विदुषी थीं। श्याम की मुस्कान बहुत ही मोहक थी। साथ ही वह नागर मिज़ाज के दिलफ़रेब व्यक्ति थे, और लोग उनसे प्रभावित होने को बाध्य थे। समाजशास्त्र और मानव विज्ञान के अतिरिक्त उन्हें और लीला को हिन्दी और विश्व-साहित्य के नाटकों और लोक कलाओं में भी रुचि थी। यह वह दौर था जब पश्चिमी शिक्षा प्राप्त किये हुए युवा भारतीय बुद्धिजीवी अपनी संस्कृति की जड़ों और स्रोत का संधान करने लगे थे। श्याम महाकोशल में नरसिंहपुर, जबलपुर के रहनेवाले थे, जहाँ उनके पिता के चाचा कुंजीलाल दुबे और सेठ गोविंददास ने हिन्दी के समर्थन में आंदोलन चलाया था। श्याम अच्छी बुंदेली बोल लेते थे। उन्हें छत्तीसगढ़ी भी अच्छी आती थी, क्योंकि उन्होंने अपना बचपन उसी इलाक़े में गुजारा था।

सर हरिसिंह गौर ने सबसे पहले जिन लोगों को बहाल किया, उनमें पूना के युवा प्रतिभा

शाली विद्वान् डॉ. एस. आर. स्वामिनाथन भी थे; उन्हें अंग्रेज़ी का विभागाध्यक्ष बनाया गया। स्वामिनाथन न केवल शेली और कीट्स के जाने-माने विद्वान् थे बल्कि एक अच्छे शिक्षक और मंत्रमुग्ध करनेवाले वक्ता भी थे। वे हाज़िरजवाब और विनोदी थे। अपनी वाग्विदग्धता और चुटकलों से बोझिल पार्टियों को भी वे जीवंत और ख़ुशनुमा बना देते थे। अंग्रेज़ी विभाग में कई और प्रतिभाशाली शिक्षक थे। प्रो. अमरेश दत्ता, जो एक जाने-माने कवि थे और पिकनिक आयोजित करने के शौक़ीन थे। पिकनिक के लिए वे अक्सर जिले से होकर बहनेवाली नदियों के इर्दगिर्द कोई रमणीक जगह चुनते। एक और शिक्षक श्री ए. मल्लिकार्जुनम् भी छात्रों में बहुत लोकप्रिय थे; वह भी दक्षिण भारतीय लोगों की तरह हाज़िरजवाब थे और खेलकूद, खासकर क्रिकेट के बहुत शौक़ीन थे।

दुबे दम्पती के आने के कुछ समय पहले एक अंग्रेज़ डॉ. वेस्ट को सागर विश्वविद्यालय के भूगर्भशास्त्र विभाग का प्रमुख नियुक्त किया गया। वह 1947 तक भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग में थे। प्रोफ़ेसर वेस्ट बड़े ही मानवतावादी थे और छात्र तथा उनके सहकर्मी, दोनों उनका बहुत आदर करते थे। उन्होंने भारत के सर्वोत्तम भूगर्भशास्त्र विभागों में से एक की नींव रखी। पूर्ववर्ती कुलपति डॉ. आर. पी. त्रिपाठी इलाहाबाद विश्वविद्यालय से भौतिकशास्त्री डॉ. एम. पी. श्रीवास्तव को लाए थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय सागर, गोरखपुर और बाद में राजस्थान विश्वविद्यालय जैसे कई नये विश्वविद्यालयों के शिक्षकों की जरूरतें पूरी किया करता था।

अब तक विश्वविद्यालय के नये स्थल का विकास होने लगा था और पहला भवन—रेडार भवन—बन गया था, जिसे पता नहीं क्यों रडर कहकर पुकारा जाता था।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग से मशहूर विद्वान् प्रो. मुजफ्फर अली को सागर में एक नया विभाग बनाने के लिए लाया गया। प्रो. अली न केवल एक उत्कृष्ट भूगोलवेत्ता थे, बल्कि उनके परिवार की एक अपनी परिष्कृत तहज़ीब थी, और हम उनके साथ उसी तरह ईद मनाते, जैसे वे हमारे साथ हिन्दू त्योहार। उनके साथ डॉ. विनोद मिश्र और डॉ. प्रमिला वर्मा जैसे युवा सहकर्मी थे जो बाद में विभाग के नामी-गरामी विद्वान् बने।

डी. पी. मिश्र ने नये उभरते क्षेत्रों, जैसे अपराधविज्ञान और भाषाविज्ञान-विभागों की भी स्थापना की। भाषाविज्ञान के लिए वह इलाहाबाद से प्रो. बाबूराम सक्सेना को लेकर आये जो संस्कृत विभाग से रिटायर हुए ही थे। उन्होंने यहाँ नया विभाग बनाया। कुछ वर्ष बाद जब उन्होंने विश्वविद्यालय छोड़ा, तो उनकी जगह प्रख्यात् हिन्दी विद्वान् प्रोफ़ेसर धीरेन्द्र वर्मा को नियुक्त किया गया। प्रोफ़ेसर वर्मा और उनकी पत्नी की दुबे दम्पती से और उनकी बेटियों प्रमिला वर्मा और उर्मिला में गहरी दोस्ती हो गई। कुछ समय पश्चात् उर्मिला अंग्रेजी विभाग में आईं। धीरेन्द्र वर्मा और उनकी पत्नी बहुत ही स्नेहिल दम्पती थे और सब उन्हें चाहते थे।

दुबे दम्पती ने कई और प्रतिभावान्, युवा सहकर्मियों—मसलन डॉ. आर. पी. श्रीवास्तव और श्री मावलवाला—के साथ मिलकर नृतत्त्वविज्ञान विभाग कि स्थापना की। उन दिनों चारों ओर से श्याम की बहुत माँग थी। वह अपनी पुस्तक 'इंडियन विलेज' (भारतीय ग्राम) के चलते बहुत प्रसिद्ध हो गये थे, जो ग्रामीण भारत का पहला नृतात्विक अध्ययन था। पंचवर्षीय योजनाएँ पूरे जोशो-खरोश से चल रही थीं। भारत सरकार ने नये प्रखंड विकास अधिकारियों

(बी. डी. ओ.) तथा राजनीतिकारों व नौकरशाही के अफसरों को प्रशिक्षण देने के लिए कई संस्थान स्थापित किये। इन अधिकारियों से अपेक्षा थी कि वे किसानों को खेती की नई तकनीक सिखाएँगे और गाँवों के कल्याण कार्यों की देख-रेख करेंगे। विश्वविद्यालय में आये कुछ वर्ष हुए थे कि प्रो. दुबे को राष्ट्रीय सामुदायिक विकास केंद्र में बुलाया गया, जो मसूरी में स्थापित किया गया था। उस साल गर्मियों में मैं छुट्टियाँ बिताने वहाँ गयी थी और दुबे दंपती द्वारा आयोजित एक पार्टी में कुछ प्रखंड विकास अधिकारियों से मिली। उनमें से कई भारतीय किसानों को लेकर बहुत निराश थे, जो नये विचारों को न अपनाने के प्रति दुराग्रही प्रतीत होते थे। शीघ्र ही यह सब-कुछ बदल गया और एक दौर ऐसा भी आया, जब भारतीय किसान नयी तकनीक़ को अपनाने के लिए इतने उतावले हो उठे कि सरकार उनके साथ कदम-व-कदम न चल सकी।

पाश्चात्य प्रशिक्षण प्राप्त, मगर पश्चिम और पश्चिमी तौर-तरीक़ों की आलोचना करने वाले गिने-चुने बुद्धिजीवियों में से एक श्याम ने महसूस किया कि ज़रूरत इस बात की है कि भारतीय विद्वान् अपने सामाजिक यथार्थ के बारे में खुद स्वतंत्र रूप से सोचें। उन्होंने महसूस किया कि परंपरा के कुछ पहलू ऐसे भी हैं जो स्वदेशी समाजशास्त्र की कल्पना और उसे साकार कने में आधुनिक समाजशास्त्रियों की मदद कर सकते हैं। उनकी दलील थी :

"परंपरा एक विशाल जलाशय की तरह है। उसके तत्त्वों का उपयोग यथास्थिति बनाये रखने के लिए किया जा सकता है; वह समाज के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण में भी मददगार साबित हो सकती है।" (एस. सी. दुबे, *परंपरा और विकास*, दिल्ली : विकास, 1990)।

श्याम के व्यक्तित्व में गज़ब का आकर्षण था और बहुत-से लोग उनकी ओर आकृष्ट हुए, साथ ही उनमें एक ऐसी गरिमा और संयम था, जो दुर्लभ है। वह संवेदनशील थे और उन्हें बड़ी जल्दी ठेस पहुँचती थी, ख़ासतौर पर तब, जब किसी मित्र का व्यवहार उनके प्रति उपेक्षापूर्ण हो। उनकी जो बात मुझे और औरों को सबसे ज्यादा प्रभावित करती थी, वह थी बच्चों के प्रति उनका लगाव। बच्चों से उनकी गहरी दोस्ती थी; वह उनके नाम याद रखते, उन्हें मिठाइयाँ और उपहार लाकर देते। वह हरेक बच्चे को स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में याद रखते थे—किसी के बेटे या बेटी के रूप में नहीं। बहुत कम लोग ऐसा करते हैं; हममें से अधिकांश केवल बड़ों को देखते हैं और बच्चे नेपथ्य का हिस्सा बनकर रह जाते हैं।

प्रो. दुबे : स्मृतियों में

☐ *प्रेमशंकर*

प्रो. श्यामाचरण दुबे का स्मरण करते हुए, इसे प्रीतिकर संयोग के रूप में देखता हूँ कि हम दोनों ने लगभग एक साथ सागर विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य आरंभ किया था। प्रो. दुबे मध्य प्रदेश के थे और उनके लिए यह 'घर-वापसी' जैसा था। मैंने काशी में शिक्षा पाई, सागर से शोध करनेवाली पहली पीढ़ी में था पर चाकरी के लिए अपने प्रदेश लौट गया था, जहाँ लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज में अध्यापक था। मैंने 1956 के प्रथम सत्र-खंड में अध्यापक के रूप में प्रवेश किया, प्रोफ़ेसर दुबे ने 1957 में। प्रो. दुबे की नियुक्ति मानवशास्त्र विभाग में प्रोफ़ेसर पद पर हुई थी और इसे प्राप्त करनेवालों में वे सर्वाधिक युवा विद्वान् थे। मैंने एक लेक्चरर के रूप में अपना पद-भार ग्रहण किया था। हममें आयु का अन्तर एक दशक का ही था, पर अपेक्षाकृत कम आयु में प्रोफ़ेसर पद पर प्रो. दुबे की नियुक्ति उनकी प्रतिभा की असंदिग्ध स्वीकृति थी। पद के वर्ग-विभाजन के बावजूद मैंने पाया कि प्रो. दुबे हम कनिष्ठ अध्यापकों के साथ समरस थे। पहली बार जब उन्हें देखा तो वे आकर्षक लगे—उनका सुन्दर नाक-नक़्श, सुरुचि का बोध कराती वेश-भूषा, मुँह में पाइप। जहाँ तक स्मरण है, पहली बार उन्हें किसी सभा में बोलते सुना, तो उनकी वाणी से प्रभावित हुआ—संयत, संतुलित, सुविचारित वक्तव्य, शब्दों का उपयुक्त चयन और निर्दोष उच्चारण। इसके पहले 'कल्पना' (हैदराबाद) जैसी पत्रिका में उनकी प्रांजल हिन्दी देख चुका था और अब मुझ युवा-अध्यापक के लिए यह सुखद अनुभव था कि वे हिन्दी-अंग्रेज़ी में समान अधिकार के साथ लिख-बोल सकते हैं। इसका उल्लेख आज इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि यह सब अब विरल होता जा रहा है।

प्रो. दुबे अध्यापकों की युवा पीढ़ी में जल्दी ही लोकप्रिय हो गये क्योंकि वे अकुंचित भाव से मिलते थे। सागर में उन दिनों गुरुवर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्रो. एम. पी. शर्मा, प्रो. भवालकर आदि बुज़ुर्ग प्रोफ़ेसरों की पीढ़ी थी, जो यशस्वी थी और सब जिसका सम्मान करते थे, पर उनके साथ युवा-अध्यापकों की एक आदर-संचालित दूरी थी। प्रो. दुबे के साथ हम सहज हो सकते थे, उनके अकुंठ भाव के कारण। उनके रहन-सहन का तौर-तरीक़ा सलीके का था, सुरुचि-सम्पन्नता का बोध कराता, जिसमें उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती लीला दुबे का भी योगदान था। कहने की ज़रूरत नहीं कि प्रो. दुबे के साथ समान रुचियोंवाले प्रोफ़ेसरों की पीढ़ी थी—प्रो. मुज़फ्फर अली, प्रो. एस. के. सक्सेना, प्रो. एस. स्वामीनाथन आदि। इनके खुलेपन के कारण अध्यापकों की युवा पीढ़ी इनकी ओर अधिक देखती थी क्योंकि यहाँ हम समरस हो सकते थे, अधिक संकोच न था। अनजाने ही ये लोग हमें अपने समीपी प्रतीत हुए—आधुनिक दौर के प्रतीक, जबकि पुराने आचार्यों को हम 'क्लासिकल प्रोफ़ेसर' के रूप में देखते थे, एक अनुशासित आचार-संहिता से परिचालित। उस उत्कर्ष

काल में नामवर सिंह सागर में अध्यापक थे और अशोक वाजपेयी विद्यार्थी। इस प्रसंग का उल्लेख करना चाहूँगा कि एक बार अकादमिक कॉउन्सिल से दो व्यक्तियों का निर्वाचन होना था। प्रायः हमारे बुजुर्ग प्रोफ़ेसर जिसके सिर पर आशीष का हाथ रख देते थे, वह निर्विरोध निर्वाचित हो जाता था, यद्यपि वे भी कई बार एकमत नहीं हो पाते थे। प्रो. दुबे के घर पर प्रायः युवा अध्यापकों की बैठक होती थी, बौद्धिक चर्चाओं के साथ, सामाजिक संदर्भों पर विचार और इसके साथ मान्या लीलाजी का आतिथ्य-भरा स्नेह। हम सबके लिए यह वातावरण सहज सौमनस्यपूर्ण था। निर्वाचन को लेकर प्रो. मुज़फ्फ़र अली, जिन्हें प्रो. दुबे बड़ा भाई मानते थे, एक दिन यों ही बोले, "भाई कुछ नौजवानों को भी अकादमिक कॉउन्सिल से चुना जाना चाहिए।" प्रो. दुबे ने पाइप सुलगाते हुए इसका समर्थन किया। मैंने विनम्र भाव से कहा कि यह कार्य कठिन है क्योंकि सब बुजुर्गों के प्रभाव में हैं। प्रो. दुबे ने कहा— देखेंगे। एक युवक अध्यापक को निर्वाचन में उतारा गया। तीन प्रत्याशी थे और दो स्थान। बुजुर्गों का एक प्रतिनिधि निर्वाचित हुआ और दूसरा युवा प्रोफ़ेसरों का। हम युवा अध्यापकों के लिए यह प्रीतिकर था, जैसे नये विचारों की विजय हुई हो। अपने दिशा-निर्देशन के लिए हम अपने इन अग्रजों की ओर भी देखते थे।

प्रो. दुबे का पुस्तकालय हमारे लिए इस दृष्टि से प्रेरक था कि हम सोचते कि काश! हमारे पास भी इतनी पुस्तकें होतीं, वह भी विविध विषयों की। सागर विश्वविद्यालय के संस्थापक डॉ. हरिसिंह गौर के समृद्ध पुस्तकालय की बहुत चर्चा थी। अर्थशास्त्र के प्रो. एल. सी. जैन की पुस्तकें सुंदर अलमारियों में थीं। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्रो. एस. स्वामीनाथन, डॉ. पी. एस. शास्त्री, डॉ. एस. एस. राय आदि के पास पुस्तकों की विपुल संख्या थी। पर प्रायः वे अपने विषय में अधिक रुचि रखते थे। प्रो. दुबे के पास हिन्दी साहित्य के नवीनतम प्रकाशन देखकर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। पर 'कल्पना' पत्रिका के लेखक-रूप में उनकी जो छवि मेरे मानस में थी, उससे संगति बिठाने पर, इस निष्कर्ष पर पहुँचने में मुझे अधिक कठिनाई नहीं हुई कि समाजशास्त्र के लिए रचना भी एक प्रकार से विश्वसनीय विवेचन-सामग्री है। साहित्यिक संगोष्ठियों में प्रो. दुबे जिस आत्मविश्वास, यहाँ तक कि अन्तरंगता से अपना पक्ष प्रस्तुत करते थे, वह हम युवा अध्यापकों को आह्लादित करता था। एक बार सागर में श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' आये थे और अपने मित्रद्वय प्रो. एस. के. सक्सेना तथा डॉ. दयाकृष्ण के अतिथि थे। मुझे स्मरण है कि प्रो. दुबे ने अज्ञेयजी के कृतित्व पर जो प्रभावी वक्तव्य दिया था, वह कृतिकार के लेखन से उद्धृत प्रमाणों पर आधारित था। हमें नयी पुस्तकों की आवश्यकता होती तो हम दुबे जी से माँग सकते थे और कुछ लोगों को देने में उन्हें अधिक संकोच न था। उनसे पुस्तकों की नयी जानकारी प्राप्त करने का यह क्रम उस समय भी चलता रहा जब वे शिमला, जम्मू, दिल्ली अथवा भोपाल में थे।

स्वर्णकाल शब्द लगभग अप्रासंगिक हो चुका है, क्योंकि समानता के इस विचित्र समय में कुछ वर्ग, व्यक्ति ऐसे भाग्यवान् होते हैं कि वैभव के रूप में सुवर्णकाल भोगते हैं। इसके स्थान पर मैं उत्कर्ष-काल शब्द के उपयोग की अनुमति चाहूँगा। सागर विश्वविद्यालय के संस्थापक डॉ. हरिसिंह गौर बहुआयामी व्यक्तित्व के प्रतिभा पुरुष थे। श्रम से अर्जित अपनी पूँजी के दान से उन्होंने सागर विश्वविद्यालय की स्थापना की और इसे कैम्ब्रिज बनाने का

स्वप्न देखा। उन्हें निर्माण का अधिक समय नहीं मिला, पर उनके उत्तराधिकारियों के रूप में कुलपतियों की जिस आरंभिक पीढ़ी को विश्वविद्यालय का नेतृत्व मिला, उसने संस्थापक की संकल्पना की इच्छा-पूर्ति का प्रयास किया। डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी इतिहास के यशस्वी आचार्य थे और उन्होंने प्रसिद्ध भूगर्भशास्त्री प्रो. डब्लू. डी. वेस्ट की सेवाएँ प्राप्त कीं। जिन युवा अध्यापकों की नियुक्ति उन्होंने की, वे आगे चलकर विकसित हुए। पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र के लिए सागर का कार्यकाल लगभग अन्तराल-विश्राम था। उन्होंने इस समय का उपयोग अध्ययन की अपनी रुचि को विस्तार देने के लिए तो किया ही, चेष्टा की कि सर्वोत्तम विद्वान् विश्वविद्यालय को प्राप्त हों। उन्हीं के समय में प्रो. दुबे ने आचार्य-अध्यक्ष के रूप में प्रवेश किया और विश्वविद्यालय के अध्ययन-अध्यापन को एक नया विस्तार मिला। आज भी इसे विश्वविद्यालय का उत्कर्ष-काल कहा जाता है, जब संस्था ने चतुर्दिक प्रगति की और एक प्रतिष्ठित शिक्षा-संस्थान के रूप में इसे ख्याति मिली। विश्वविद्यालय अपनी अध्यापक-बिरादरी से जाना जाता है और प्रो. दुबे का विभाग उस समय एक लघु भारत का प्रतीक था। देश-विदेश के विद्यार्थी यहाँ आते थे और प्रेरणा पाते थे। प्रो. दुबे ने विभाग के माध्यम से विश्वविद्यालय को नयी बौद्धिक सक्रियता दी और वे अध्यापकों, विद्यार्थियों में समान रूप से स्वीकृत थे। युवा पीढ़ी विशेष रूप से उन्हें अपने 'मॉडल' के रूप में देखती थी और उनसे प्रेरणा प्राप्त करती थी।

प्रो. दुबे का व्यक्तित्व लगभग सम्मोहक था, और वे प्रथम भेंट में ही प्रभावित करते थे। पर उन्हें सुनना स्वयं में एक सुखद अनुभव था। किसी विषय को अपने ढंग से विवेचित कर सकने की सामर्थ्य, उनकी अलग पहचान बनाती थी। इसे उन्होंने राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों, लंदन, कार्नेल जैसे विश्वविद्यालयों के 'विज़िटिंग प्रोफ़ेसर' के रूप में भी प्रमाणित किया था। उनके अध्ययन का फलक विस्तृत था और बिना किसी व्यर्थ के पांडित्य-प्रदर्शन के, वे अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग लेखन और भाषण में सहजता से कर सकते थे। उनके पास एक ऐसी आधुनिक दृष्टि थी जो परम्परा को आज के समय-संदर्भ में देख-समझ सकती थी। इसलिए उनकी बातों में निरंतर एक जीवंतता थी, जिसे उनके चयनित शब्द-संसार ने प्रभावी बनाया था। उनसे संवाद स्थापित करने में कठिनाई नहीं होती थी और निस्संकोच कहा जा सकता है कि वे हमारे समय के सबसे संवादी विद्वानों में थे। प्रो. मुनीस रज़ा कई बार इस वैशिष्ट्य की चर्चा करते थे। उल्लेखनीय यह है कि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा समाज का अनुभव था और उनकी प्रामाणिक पुस्तक 'इंडियन विलेज' को व्यापक स्वीकृति मिली। आश्चर्यजनक लग सकता है कि अंग्रेज़ी में निष्णात प्रो. दुबे हिंदी की ओर कैसे आये? एक युवक के रूप में ही वे 'कल्पना' जैसी पत्रिकाओं में लिखते रहे थे। बाद में तो जैसे हिंदी ही उनकी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम हुई।

मुझे लगता है कि नेहरू-युग में बौद्धिक युवाओं की जो नयी पीढ़ी उभरी, वह पश्चिम से सीखती-समझती थी, पर उससे आक्रांत नहीं थी। इसे इस नयी पीढ़ी का आत्मविश्वास तो कहा ही जा सकता है, इसमें सचेत राष्ट्रीय चेतना भी मौजूद थी, जिसे कई बार सही ढंग से नहीं पहचाना गया। प्रो. दुबे जैसे विद्वानों की पीढ़ी ज्ञान-विज्ञान को भारतीय संदर्भ में रखकर भी देखना चाहती है। इसलिए अकादमिक पंडिताई की जड़ सीमाएँ यहाँ टूटती हैं और विकल्प का

संकेत भी किया जाता है। इनमें एक ऐसी बौद्धिक असहमति है, जिसे नये भारत के परिप्रेक्ष्य में देखा-समझा जाना चाहिए। इसे हम नवीन देशी सोच-विचार भी कह सकते हैं, पर व्यापक उदार अर्थ में। श्री पूरनचन्द्र जोशी और प्रो. श्यामाचरण दुबे जैसे विद्वानों ने भारतीय समाजशास्त्र की अवधारणा विकसित की। वे किसी भी प्रकार की हीन भावना से मुक्त हैं, जिसे पहले साम्राज्यवाद ने, फिर पश्चिम के तथाकथित आधुनिकतावाद और उपभोक्तावाद ने विकासशील समाजों पर आरोपित करने का प्रयत्न किया। प्रो. दुबे अपने समय से टकराते हुए, स्वयं के चिंतन को विकास देते हैं और निरंतर निर्भय होते जाते हैं। जीवन के अंतिम दौर में वे अपने समय-समाज की पीड़ा से उद्विग्न थे और इसे पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निर्भीक अभिव्यक्ति दे रहे थे। 'भारतीयता की तलाश' शीर्षक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी स्मारक भाषण में वे समृद्ध भारतीय परंपरा की चर्चा करते हुए 'आत्मछवि से मुक्ति' का आग्रह करते हैं ताकि नयी स्थितियों से निपटा जा सके : 'सच्ची भारतीयता की तलाश का आग्रह है कि हम जगत्गुरु होने का दंभ छोड़कर यथार्थ की भूमि पर उतरें और अपनी समसामयिक दशा पर विचार करें। पुनर्गठन के लिए हमारे समाज को नये लक्ष्य और साधन चाहिए। भारतीय परंपराओं के अक्षय स्रोत से हमें भारतीयता के नये प्रतीक और मूल्य चुनना है। ये तत्त्व ऐसे हों जिनके द्वारा हम आज और आने वाले कल की चुनौतियों का सामना कर सकें। इस प्रक्रिया में हमें कई मुखौटे उतारने होंगे और जीवन-दृष्टि पर छाये पाखंड की धुंध का उन्मूलन करना होगा।' (परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति, पृ. 50)। आचार्य विद्यानिवास मिश्र की विद्वतापूर्ण पुस्तक 'भारतीयता की पहचान' की तुलना में प्रो. दुबे में बौद्धिक उद्विग्नता प्रमुख है।

किसी प्रभावी व्यक्ति की कई छवियाँ होती हैं और हम उन्हें अपने-अपने ढंग से देखना चाहते हैं। लखनऊ में अध्यापन के आरंभिक दौर में गुरुवर ठाकुर जयदेव सिंह और आचार्य नरेन्द्रदेव को अपने आदर्श रूप में देखता था—अगाध पांडित्य और सम्मोहक वाणी। जब सागर में प्रत्यावर्तित हुआ, तो पाया कि हम युवा-अध्यापकों के लिए प्रो. दुबे जैसे खुले-मन व्यक्ति अधिक समीपी हैं। उनके सौंदर्य-बोध के सभी कायल थे, और मानवशास्त्र विभाग के सामने से गुजरते हुए, उपवन की सुगन्ध हम महसूस करते थे। विभाग का पूरा विन्यास ही प्रीतिकर था, विशेषतया साधनहीन सुदामा विभागों की तुलना में। इसलिए कभी-कभी हम वहाँ जाया करते थे और विभागीय पुस्तकालय की पत्र-पत्रिकाओं का लाभ उठाते थे। मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया—प्रो. दुबे के हिंदी-ज्ञान ने, और आकर्षण का यह सूत्र अंतिम समय तक बना रहा। वे जिज्ञासु पाठक थे, सजग और सतर्क। हिंदी की नयी-से-नयी पुस्तकों पर टिप्पणी कर सकते थे, विश्वसनीय, प्रामाणिक। वे कई पुरस्कारों से संबद्ध थे और उनके निर्णयों को व्यापक स्वीकृति मिलती थी। वे साहित्य की सामाजिक भूमिका के आग्रही थे, पर व्यापक मानवीय दृष्टि और सौन्दर्य-चेतना के साथ। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के मैथिलीशरण गुप्त अभिभाषण में उनकी समापन टिप्पणी है : 'मानव का वैकल्पिक भविष्य गंभीर चिंतन का विषय बन गया है। व्यवस्था का पुनर्गठन मानव-अस्तित्व के लिए आवश्यक है। धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि नयी व्यवस्था आत्मनिर्णय, समता और सामाजिक न्याय के आधार पर ही बन सकती है। इस व्यवस्था में साहित्य का भविष्य उज्ज्वल होना चाहिए।' प्रो. दुबे समाज तथा समग्र रचनाशीलता में अन्तस्संबंध स्थापित करते हैं और इस

प्रकार साहित्य का नया समाजशास्त्र बनाते हैं। उनके लिए रचना समाजशास्त्र से पृथक् नहीं है, अंतर यह कि वह सर्जनात्मक कल्पना की भूमि पर वैकल्पिक दृष्टि का संकेत भी करती है, जबकि समाज विज्ञान वास्तविकता की भूमि पर संस्थित है।

प्रो. दुबे के सम्पर्क का दायरा बड़ा था और वे संबंधों का निर्वाह करना जानते थे। पर प्रतिभा की स्वीकृति उनका उल्लेखनीय गुण था जिसका संकेत करना चाहूँगा। आचार्य विनयमोहन शर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी आदि विद्वानों का स्मरण वे आदर के साथ करते थे। मुझे स्मरण है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में एक संगोष्ठी प्रो. निर्मला जैन ने आयोजित की थी। उसमें विद्वत्जन रामविलास शर्मा, श्यामाचरण दुबे, विद्यानिवास मिश्र, नगेन्द्र, नामवर सिंह आदि उपस्थित थे। प्रो. दुबे ने रामविलासजी को गुरु कहकर संबोधित किया था, और स्वयं को उनका मानस शिष्य माना था। अहंकारी समय में ऐसी विनम्र स्वीकृति विरल होती है। उदाहरण तो कई हैं, पर एक का उल्लेख करना चाहूँगा। प्रो. दुबे बिड़ला न्यास में चयन समिति के अध्यक्ष थे और प्रथम न्यास-सम्मान के लिए डॉ. रामविलास शर्मा का चयन हुआ था। प्रो. दुबे जानते थे कि, डॉ. शर्मा इसे स्वीकार नहीं करेंगे, पर उनके प्रति अपना आदर-भाव व्यक्त करने के लिए, वे स्वयं उनके पास गये थे। आज जब गला-घोंटू प्रतिस्पर्धा के ऐसे विचित्र दृश्य देखने को मिलते हैं कि जैसे युद्ध में सब क्षमा है, तब प्रतिभा के प्रति प्रो. दुबे का आदर-भाव निश्चित प्रशंसनीय है। पुरानी-नयी पीढ़ी के साहित्यकारों से उनके संबंध मधुर रहे हैं, जिसका स्मरण वे स्नेह से करते थे। सागर में प्रो. वी. सी. मिश्र, प्रो. एस. एन. शर्मा, प्रो. के. सी. वर्मा से उनकी पारिवारिक मैत्री थी। पर ये संबंध केवल व्यक्तियों तक सीमित नहीं थे, वे नयी रचनाशीलता में निरंतर रुचि लेते थे। उनके वक्तव्यों में, लेखन में, भारतीय भक्ति-साहित्य से लेकर नयी पीढ़ी तक के लेखक मौजूद हैं। इस दृष्टि से उनका निबंध 'हिंदी उपन्यास और ग्रामीण परिदृश्य' विचारणीय है, जिसमें प्रेमचंद से लेकर नवीनतम उपन्यासकारों की चर्चा है। इसीलिए समकालीन लेखकों की युवा-पीढ़ी से भी उनका आत्मीय रिश्ता-नाता था जैसा समवयस्कों और बुजुर्गों से। यह प्रो. दुबे के गतिशील व्यक्तित्व का प्रमाण भी है कि वे स्वयं को कई पीढ़ियों के साथ जोड़ सकने की सामर्थ्य रखते थे। असहमति हो सकती है, विचार-विभेद भी, पर पूर्ण विरोध के अवसर कम ही आते थे।

प्रतिभाओं को स्थान विशेष में बंदी नहीं किया जा सकता और उनमें स्वयं कोई यायावर होता है जो बाहरी-भीतरी यात्रा करता है : उपजहि अनत, अनत छवि लहहीं। प्रो. दुबे के कई कार्यस्थल हैं, पर अपने मध्यप्रदेश की उन्हें चिंता थी। छत्तीसगढ़, जहाँ वे पले, बड़े हुए, उसका आदिवासी समाज उनके लेखन का विषय था। सामान्यजन उनके साथ था, अपने ढंग से और इसका प्रमाण विशेष रूप से है, उनका अंतिम दौर का हिंदी लेखन, जिसे पत्र-पत्रिकाओं में नियमित स्थान प्राप्त था। अपने समय पर विचार करते हुए, वे इसे 'संक्रमण की पीड़ा' कहते हैं और वर्तमान अराजक स्थिति के बावजूद भारतीय भविष्य के प्रति आशान्वित हैं। ज्वलंत प्रश्नों से आकुल प्रो. दुबे यहाँ 'एक्टिविस्ट' जैसे दिखाई देते हैं। सांस्कृतिक प्रदूषण के प्रति उनकी चिंता है : 'खुलेपन के अनुमति-आग्रह ने उन सब वर्जनाओं को मुक्त कर दिया, जिन पर अंकुश था। सामाजिक विवेक और उत्तरदायित्व के प्रश्न अभिव्यक्ति की आज़ादी के नारों में दब गए।'

वे संस्कृति के व्यापक मानवीय आधार की चिंता करते हैं और जड़ चट्टानी अकादमिक सीमाएँ लाँघते हुए, चिंतन की उस भूमि पर पहुँचते हैं जहाँ ज्ञान की सार्थकता जीवन को नयी मूल्यवान् दिशा देने में है। वे आधुनिक भारतीय विचारकों की उस बिरादरी में से हैं, जिसे अपने सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व का भी एहसास है। छद्म आधुनिकीकरण, धर्म का दुरुपयोग, अविवेकी दृष्टि की राजनीति पर तीखी टिप्पणी करते हुए प्रो. दुबे कहते हैं : 'जहाँ विश्व के सामने युद्ध, पर्यावरण, ऊर्जा, भूख, निवासहीनता और सार्वजनिक स्वास्थ्य के विराट् प्रश्न—उत्तरों की खोज कर रहे है, हम कुर्सी और सत्ता के खेल में लगे हैं। है किसी को भविष्य की चिंता? समय रहते हमें स्थिति की भयंकरता का ज़ायजा लेना है, अपना भविष्य स्वयं अपने हाथों में लेना है।' (सक्रमण की पीड़ा, पृ. 22)

बुद्धिजीवी शब्द कई बार मध्यवर्गीय मानसिकता का बोध कराता है, जबकि उसका मुख्य प्रस्थान है सतेज प्रज्ञा के आधार पर सब-कुछ का परीक्षण, ताकि चरम सत्य तक पहुँचा जा सके। संस्कृति का इतिहास इसी आलोचना-प्रक्रिया में विकास पाता है। पर यदि बुद्धि व्यवसाय-व्यापार का साधन बन जाय, तो कठिनाई होती है। सक्रिय प्रतिवाद के कुछ ख़तरे तो उठाने ही होंगे, तभी सामाजिक रूपांतरण में बुद्धिजीवी की कोई भूमिका हो सकती है, अन्यथा राजाश्रय तो क्रय-विक्रय का कारोबार करता ही रहा है। बुद्धिजीवी के रूप में प्रो. दुबे की चिंताएँ समय-समाज को लेकर हैं, जिसे उनके लेखन में देखा जा सकता है। अपने वक्तव्यों में उन्होंने इसे बराबर व्यक्त किया, पीड़ा के साथ। युवा पीढ़ी को ध्यान में रखकर, उन्होंने मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा अनुदान आयोग के अध्यक्ष के रूप में, प्रदेश की शिक्षा को नवाचार से जोड़ा और उसे एक नयी दिशा देने का प्रयत्न किया। उन्हें यह कष्टप्रद प्रतीत होता था कि प्रदेश के पिछड़ेपन पर टिप्पणी की जाय। संभवतः मध्यप्रदेश में देश का अग्रणी प्रयत्न था, जहाँ स्नातक-कक्षाओं में अनिवार्य आधारभूत पाठ्यक्रम की व्यवस्था की गई : भारतीय इतिहास, संस्कृति, नवजागरण, स्वतंत्रता-संघर्ष, नया ज्ञान-विज्ञान और नयी अवधारणाएँ। विद्यार्थी परंपरा से परिचित हुए और उन्हें, उसे अपने समय-संदर्भ में परीक्षित कर सकने की दृष्टि मिली। विज्ञान के छात्र मानविकी और कला के विषयों से परिचित हुए तथा कला-वाणिज्य संकाय के जिन छात्र-छात्राओं को विज्ञान-शून्य कहने की भूल की जाती है, वे वैज्ञानिक अवधारणाओं को समझ सके। इस प्रकार प्रदेश की युवा पीढ़ी को एक नयी शैक्षणिक दिशा देने का प्रयत्न प्रो. दुबे ने किया। जो पाठ्यक्रम अप्रासंगिक हो गए थे, उनका नवीनीकरण किया गया और उन्हें इस रूप में निर्धारित किया गया कि विद्यार्थी किसी भी प्रतियोगिता में पिछड़े न रहें। केवल एक उदाहरण देना चाहूँगा कि उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चंद्र की 'अंधेर नगरी' नाटिका को पाठ्यक्रम में देखकर प्रसन्नता व्यक्त की और कहा कि इसकी प्रासंगिकता असंदिग्ध है।

पूर्णता एक परिकल्पना है, कई बार 'यूटोपिया' जैसी और सीमाएँ किसकी नहीं होतीं? पर प्रश्न उनके सजग अतिक्रमण का है। प्रतिभाओं के लिए तो यह और भी अधिक आवश्यक है। प्रो. दुबे की प्रतिभा को वे भी स्वीकारते हैं जो स्वयं को किसी बिंदु पर उनसे असहमत पाते हैं। पूर्वाग्रह-भाव को छोड़ दें, तो स्वीकारेंगे कि दुबेजी की बौद्धिक सक्रियता निरंतर गतिशील थी और उन्होंने अपने अध्ययन का पर्याप्त विस्तार किया। उनके पास

उनका अपना अर्जित मुहावरा था, जिसे प्रभाष जोशी, राहुल बारपुते, राजेंद्र माथुर जैसे वरिष्ठ पत्रकारों ने भी स्वीकारा। निरंतर श्रम और अभ्यास के बिना साधना के इस मुकाम पर पहुँचना कठिन होगा। प्रो. दुबे ने अपने जागरूक चिंतन को निरंतर समय-समाज से संबद्ध किया और अपनी प्रवहमान अभिव्यक्ति में सहज होते हुए, प्रेक्षणीयता का प्रश्न सुलझा सकने में उन्होंने सफलता पाई थी, अन्यथा कई बार विचार शब्द-बोझिल हो जाने के संकट में होते हैं। उनमें एक ऐसी मानवीय ऊष्मा देखी जा सकती थी जो जीवन की सांध्य-बेला में भी मद्धिम नहीं हुई थी और जिसे सब महसूस करते थे। व्यक्तिगत संबंधों का उल्लेख व्यक्ति के संदर्भ में अपेक्षाकृत कम महत्त्व रखता है, पर मैंने उन्हें एक स्नेही अग्रज के रूप में पाया, इसे सौभाग्य मानता हूँ। अपने समय के समर्पित प्रखर बुद्धिजीवियों में प्रो. दुबे की गणना सदैव की जायगी।

एस. सी. दुबे से श्यामाचरण दुबे तक

☐ ब्रजराज चौहान

एस. सी. दुबे के नाम से प्रख्यात समाज वैज्ञानिक का शिक्षक, अनुसंधानकर्ता, प्रशासक व लेखक का पूरा स्वरूप श्यामाचरण दुबे में हिंदी में लेखक, समीक्षक व वार्ताकार की भूमिकाओं में पूर्णता में व्यक्त हुआ। जीवन-शैली में 'उच्च जीवन—उच्च विचार' को चरितार्थ करते हुए देश-विदेश में अपने ही स्तर पर बने रहे बहुआयामी परिदृश्यों के बीच एक सार्थक जीवन की परिणति हुई। उनकी 'सहानुभूति पूर्वक की गई एक समझ' इस आलेख में करते हुए व्यक्तित्व व कृतित्व का जो अविच्छिन्न संगम बना है, उसे जिस रूप में मैं समझ पाया हूँ, यहाँ प्रस्तुत है। जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आया, उनकी उपस्थिति का उसे भान हुआ; और उस अंतःक्रिया में उसने अपनी कार्य-दिशा को कुछ तो बदला ही—चाहे एक प्रशंसक व आदर्श रूप मानकर, चाहे एक प्रतियोगी समझकर अथवा आलोचना का पात्र मानकर। एक शिक्षक के गुणों का उपयोग घर में, विद्यार्थियों के साथ व नव-शिक्षकों और अनुसंधानकर्ताओं के बीच करते रहे; विषय की गहनता व तकनीकी पक्षों के अतिरिक्त भाषा-शैली की शुद्धता पर दिया जानेवाला ध्यान तो परिवार के हर सदस्य ने अंगीकृत किया; और उसका विस्तार भी यथासम्भव किया। इसी बिंदु से आरंभ करते हुए शिक्षा जगत् में उनकी विभिन्न अग्रगामी कार्यवाहियों का एक संकेत देते हुए, इस आलेख में समाजविज्ञान की परिवर्धन की कहानी—जनजाति, ग्रामीण-संरचना, ग्रामीण-परिवर्तन, परिवर्तन का संचालन व आधुनिकीकरण तथा पुनः परंपराओं तक—का संक्षिप्त चित्रण प्रस्तुत है। तत्पश्चात् प्रशासनिक अवसरों के समाजविज्ञान के संवर्धन में कुछ उल्लेख और फिर कुछ समन्वयात्मक रूप में साहित्यिक धाराओं के बीच समाज-संस्कृति का संगम आया है। तत्पश्चात् तो जो विरासत है, वह सतत् बलवती रहे, यही कामना की जा सकती है। यह सब-कुछ उस व्यक्ति के बारे में जिसने मुझे 'दुबे जी' का सम्बोधन प्रयुक्त करने की अनुमति व आत्मीयता प्रदान की।

शिक्षक के रूप में तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया गया। प्रथम, पाठ्यक्रम का निर्धारण करते समय नवीनतम बिंदुओं का समावेश। सागर विश्वविद्यालय में पचास के दशक के उत्तरार्ध में एम. ए. की पाठ्य-सामग्री में पार्सन्स व मर्टन पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा था। यह उस समय की बात है जब दिल्ली, मुंबई व लखनऊ में इनकी चर्चा आरम्भ नहीं हुई थी, हाँ पुणे में दामले व सोशल वर्क के क्षेत्र में गोरे इन संभावनाओं को प्रतिपादित करते हुए यह अवश्य कहते थे कि भारत में उभरते हुए समाज-विद्वानों में उपर्युक्त लेखक एक नया सबल आधार प्रदान करने की क्षमता रखते थे। तब मैक्ईवर व पेज से कुछ हट कर सामाजिक व्यवस्था, प्रकार्य के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभावों की तथा लक्ष्य व उन्हें प्राप्त करने के साधनों पर चर्चाएँ केंद्रित हुईं। क्रोबर द्वारा सम्पादित 'एंथ्रोपोलोजी टुडे' नामक पुस्तक में नयी दिशाएँ

इंगित हो रही थीं। उसका एक संशोधित संकरण भी आ चुका था और नैडेल की पुस्तक 'द थियरी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर' ने अपनी उपस्थिति का एहसास करा दिया था। चर्चा द्वितीय विश्व-युद्ध में समाजविज्ञान के प्रयोग—संदर्भ समूह, राष्ट्रीय चरित्र और युद्ध के बाद अमरीकी सहायता द्वारा पुनर्निर्माण के प्रयोग—प्रोजेक्ट कैमलो (ट) एवं विकास में मानवीय पक्षों की अनिवार्यता पर होने लगी थी। साथ ही मनोविज्ञान व स्टैटिस्टिक्स के उभरते हुए आयामों का रिसर्च विधाओं में समावेश भी। सन् 1958 में जब मैंने अध्यापन का कार्य उस विश्वविद्यालय में किया, मेरा स्वागत इन शब्दों से हुआ—'जो चाहें पढ़ाइए; जैसे चाहें पढ़ाइए।' विश्वास और आशाओं की अभिव्यक्ति! सागर विश्वविद्यालय में हम लोगों ने दो सप्ताह का ओरियेंटेशन कोर्स चलाया जिसे 35 वर्ष बाद भी कुछ उस समय के विद्यार्थियों ने आकस्मिक भेंट में याद किया। पाठ्यक्रम का समयानुसार संशोधन एक सतत क्रिया बनी रही और इसका प्रभाव विद्यार्थियों पर तथा उनकी प्रगति पर पड़ा।

पाठ्यक्रम विद्यार्थियों तक कक्षा के माध्यम से ही प्रमुख रूप से पहुँचता और उनकी कक्षाएँ उनके अपने ही कमरे में लगतीं। विद्यार्थियों की संख्या 7-8 के आस-पास ही होती। नवीनतम सिद्धांत सरल व प्रभावी भाषा में समझाये जाते, उदाहरण दैनिक जीवन से दिये जाते और उन्हीं की शब्दावली में उन्हें 'एब्सर्ड एग्जाम्पल्स' देने में विशेष आनन्द आता। कक्षाएँ विद्यार्थियों को स्पष्ट, आधिकारिक व रोचक लगतीं—एक से दो घंटों के बीच चलतीं। उन कक्षाओं में ऐसी गंभीरता रहती थी जो उस युग के महानतम शिक्षकों में, यथा—लखनऊ के धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, पुणे के डी. आर. गाडगिल व इरावती कर्वे से प्राप्त होती थी। यह एक विडम्बना ही रही कि कक्षा के शिक्षक के रूप में दुबे जी की क्षमताओं का प्रभाव समय व संख्या की दृष्टि से बहुत थोड़े छात्रों को ही उपलब्ध रहा—कारण, कक्षाओं का छोटा होना और अध्यापन के अतिरिक्त अन्य कार्यों व पदों पर समय-समय पर नियुक्ति।

अध्यापन का तीसरा आयाम एम. ए. के पश्चात् रिसर्च के लिए विद्यार्थियों को तैयार करना। उन दिनों एम. फिल. की प्रथा न थी; परन्तु दुबे जी रिसर्च प्रोजेक्ट प्राप्त कर उन्हें आगे बढ़ाते और इस क्रिया में नयी पीढ़ी को निजी संरक्षण में आगे बढ़ाते। इस माध्यम से उन्होंने अपनी धर्मपत्नी लीलाजी को दीर्घकाल तक प्रशिक्षण दिया और आत्मविश्वास के सम्मानित धरातल तक पहुँचाया। रिसर्च प्रोजेक्ट के तथ्यों का वर्गीकरण, प्रोजेक्ट का संचालन व रिपोर्ट लिखने का क्रमशः विकास हुआ; लक्षद्वीप में महिलाओं के विशेष अध्ययन के बाद तो उनमें महिलाओं की सामाजिक क्षमता पर एक नया अधिकार-सा प्राप्त हो गया। लीलाजी ने फिर भी कोई अवसर हाथ से न जाने दिया, जिसमें वे अपने आलेखों में अंतिम समय तक परिपक्वता ला सकतीं। अनुसंधान के क्षेत्र में दीर्घकाल तक दुबे जी से संबद्ध जो व्यक्ति तेलंगाना, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, मध्यप्रदेश व कुछ सीमा तक महाराष्ट्र-गुजरात से भी जुड़े रहे—वे हैं तुलजाराम सिंह जिनके प्रति आज भी मुझे यह अंकित करने में संकोच नहीं है कि दुबे जी के यह विद्यार्थी भारत के सबसे सक्षम फील्ड वर्क करनेवालों में हैं और जिस नाते भारत का जो विश्व में स्थान है, उस हिसाब से विश्व स्तर के कार्यकर्ता हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि वैसे तो दुबे जी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली रहा है कि जो भी उनके संपर्क में आया, उनकी उपस्थिति को अपने मानस में डालकर उनके समर्थन या विरोध में सक्रिय हुआ; किंतु उनके जीवन की

समग्रता का प्रभाव अपनी अध्ययन-शैली, अभिव्यक्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय मंचों व गोष्ठियों में जितना योगेश अटल ने आत्मसात् किया, संभवतः अन्य किसी विद्यार्थी ने नहीं। उल्लेखनीय है कि कतिपय विद्यार्थी प्रोफ़ेसर व विश्वविद्यालयों के कुलपति भी हुए हैं।

दुबे जी की सहज प्रवृत्ति साहित्यिक थी। अल्पायु में पिताजी से भेंट करने जो आदिवासी घर पर अपने दुःख-दर्द का बखान करने आते उनमें व उनके संगीत में रुचि जाग्रत हुई; कुछ गीत एकत्र भी किये; और यदा-कदा पत्रिकाओं के लिए लेख भी लिखे। "अपना नाम छपे हुए अक्षरों में देखने का सुख तो होता ही है" यह बात प्रोफ़ेसर बनने के बाद उभरते हुए लेखकों से कहकर उन्हें प्रोत्साहित करते। छत्तीसगढ़ का प्रदेश व कमार जनजाति उन पर अमिट छाप डाल चुकी थी, उसी माध्यम से लेखक व समाज वैज्ञानिक की प्रारम्भिक रुचि जाग्रत हुई। घर में सीमित सदस्यों के बीच पुस्तकें पढ़ने में सतत स्वयंपाठी बने रहने की अभिरुचि जाग्रत हुई जो जीवनपर्यन्त सहज स्वभाव बनी रही। प्रोफ़ेसर बनने पर नयी-से-नयी रचनाओं को रात में दो बजे तक पढ़ते रहना उनका दैनिक कार्यक्रम का भाग था। अपनी प्रतिभा में उन्हें विश्वास था। भाषा पर विशेष अधिकार तथा फाउलर की अंग्रेज़ी विधा व डिक्शनरी का प्रामाणिक प्रयोग उनकी व्यावहारिक कुशलता का अंग; कुछ समय बाद तो ऐसे प्रयोग भी स्वतः होने लगे थे। शब्दों के उच्चारण द्वारा एकवचन व बहुवचन का विभेद स्पष्ट करने में उन्हें आनन्द आता था। अंग्रेज़ी का प्रयोग एक सहजता लिए था, और 'इंडियन विलेज' उसका सर्वोत्तम प्रतीक। कई अंग्रेज़ व अमरीकी समाज वैज्ञानिक व पाठकों को किसी अपने ही जैसे व्यक्ति की अनुभूति उनकी भाषा व शैली में होती। हिंदी में समाजविज्ञान के बारे में जो कुछ कहते या लिखते उसमें आधिकारिक रूप से नये-से-नये चिंतन की प्रामाणिक अभिव्यक्ति पर विशेष ध्यान रहता। उच्चारण की शुद्धता पर एक आग्रह; परंतु वह सहजता नहीं जो 'इंडियन विलेज' की शैली में थी। संभवतः उनकी अन्य अंग्रेज़ी कृतियों में भी वह लुप्त-सी होने लगी थी।

अपनी प्रतिभा का उपयोग किस क्षेत्र में किया जाय? इस बात पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता। मानविकी में मान्यता प्राप्त करने के प्रथम प्रयास में कमार जनजाति के गहन अध्ययन का मार्ग उस युग की मान्यताओं के अनुरूप था; वह रुचि कुछ दिनों तक हैदराबाद आकर हैमनडॉर्फ के संसर्ग में बनी रही। किंतु वहीं जीवन-शैली का वह स्वरूप निखार पर आया जिसमें 'उच्च जीवन व उच्च विचार' का संगम था। कुलपति के संसर्ग में विभिन्न विभागों के सदस्यों का एक अध्ययन-दल बना और ग्राम्य-जीवन तथा विद्वानों को ले जाकर कुछ करने का उपक्रम। दुबे जी की कार्यक्षमता किसी भी दल का नेतृत्व करने में चमकती थी, उसमें कनिष्ठ सहभागी बनकर काम करने में नहीं। विभिन्न विषयों के सदस्यों के दल का नेतृत्व उन्हें भा गया; और वे स्वयं गाँव के पास सिंचाई विभाग की कोठी में ठहरते और उसी सहजता से गाँव में जाकर शामीरपेट के जीवन की अनुभूति करते। उनका ध्यान आँकड़े एकत्र करने से कहीं अधिक क्षेत्र की मानसिकता व भावनाओं को समझने में रहता; और अपने सभी प्रोजेक्टों में एक ओर जहाँ नये सहयोगियों की प्रामाणिक तथ्य एकत्र करने की क्षमता बढ़ाने व उपयोग करने में ध्यान जाता, दूसरी ओर निजी संवेदनशीलता द्वारा उसमें एक सजीवता लाने का प्रयास रहता। अंत में अपनी भाषा व शैली का पुट देकर पुस्तक, आलेख या रिपोर्टें तैयार होतीं।

ग्रामीण अध्ययन मानविकी के लिए पचास के दशक में एक नया विस्तार था; और 'इंडियन विलेज' भारत में इस बढ़ती हुई नौसेना का अग्रणी ध्वज-वाहक। इंग्लैंड में 1955 में उसका प्रकाशन भारतीय नृतत्त्व के नये आयाम का सूचक बना और इसके शीर्षक पर भी पर्याप्त कटाक्ष किये गये किंतु वह वर्णनात्मक होते हुए भी 'समय व महत्त्व में प्रथम' ग्राम्य अध्ययन बन गया। एक गाँव के गहन अध्ययन की शैली सामाजिक विज्ञान के प्रमुख स्वरूप में भारत में आने लगी और समसामयिक अध्ययनों को विशेष गति श्रीनिवास, मजूमदार, रैडफील्ड की पीढ़ी ने प्रदान की। केथलीन गॉफ, एलन बील्स, पोकॉक, बेली तथा एड्रियन मायर ने ग्रामीण क्षेत्रों के विभिन्न भागों पर ध्यान दिया तो भारत में आंद्रे बेताय, त्रिलोकीनाथ मदन, सच्चिदानंद, ब्रजराज चौहान व योगेश अटल की प्रथम पुस्तकों में इन क्षेत्रों का विवेचन सामने आया। इस भाँति लगभग दो दशक तक भारत में ग्रामीण अध्ययन या ग्रामीण क्षेत्रों में किये गये अन्य अध्ययन चर्चा में रहे।

अध्ययन का दूसरा आयाम रहा—ग्रामीण अध्ययनों में उद्घाटित मानवीय पक्षों का योजनाबद्ध विकास के कार्यक्रमों से समायोजन। इस दिशा में दुबे जी का 1958 में प्रकाशित अध्ययन 'इंडियाज़ चेंजिंग विलेजेज़' ने पुनः ध्वजवाहक का कार्य किया। इन गाँवों में आज भी कुछ व्यक्ति हैं जो उनके नाम की चर्चा करने में गौरव व आत्मीयता का अनुभव करते हैं। सुखनसिंह व श्यामसिंह पुंडीर ऐसे दो व्यक्ति हैं। इन दो गाँवों में से एक का नाम प्रकाशित रूप में खालापुर हो गया है जो माइकेल महार के अनुसार 'एशिया का सबसे अधिक अध्ययन किया गया गाँव' बन चुका है। यहाँ तुलजाराम सिंह कई बार पुनःअध्ययन के लिए गये हैं और उनकी शैली के बारे में सुखन सिंह कहते हैं, "यह थोड़ी-सी बात करते हैं, हमें छेड़ देते हैं; फिर हम बोलते जाते हैं फिर थोड़ा-सा रोककर कुछ बात करते हैं, और हम फिर बोलने लगते हैं···यह सुनते रहते हैं और कुछ मतलब निकालते रहते हैं।" कहना न होगा कि इन गाँवों के निवासी ऐंथ्रोपोलॉजी शब्दों से परिचित हैं। कॉर्नेल-लखनऊ अध्ययन प्रोजेक्ट में दुबे जी का चुनाव कुछ हलचल पैदा करनेवाला अवश्य रहा किन्तु अपनी योग्यताओं के आधार पर और समय पर कार्य पूरा करने की क्षमता के सहारे 'इंडियाज़ चेंज़िंग विलेजेज़' पुस्तक भी 1958 में ही लंदन के उसी प्रकाशक ने छाप दी। उसी के साथ लेखक की मान्यता इंग्लैंड व अमरीका में पुष्ट हो गयी। मानविकी में एक नया अध्याय जुड़ा—ग्रामीण क्षेत्र में विकासशील योजनाओं के अध्ययन का; और फिर नये आयाम खुलने लगे—नियोजित परिवर्तन के साथ-साथ समाजविज्ञान के उभरते हुए क्षेत्र व उपयोगिता के। तत्पश्चात्, आधुनिकीकरण व परिवर्तन का जिनमें स्वतंत्र रूप से देश के कतिपय विश्वविद्यालय अपने-अपने रुझान के अनुरूप गहन रुचि लेने लगे। इस बीच पद-स्थापन की दृष्टि से ओस्मानिया विश्वविद्यालय में रीडर बन चुके दुबे जी को प्रोफ़ेसर के पद पर नहीं लिया जा सका क्योंकि उस संस्था में उक्त पद के लिए निम्नतम आयु तक वह नहीं पहुँचे थे, और उपलब्धियों के आधार पर 'नियोग्यताओं' को हटाने का प्रावधान न था। सागर विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर का पद उसी अल्पायु में लेकर उन्होंने अपनी बात रख ली कि केवल आयु निर्णायक भूमिका नहीं अदा कर सकती। अपने जीवन में कई अन्य उपलब्धियाँ भी लेते गये और उनमें भी 'सबसे छोटी आयु में प्राप्त' मान्यताओं के नये कीर्तिमान भी बनाते गये, यथा—इंडियन साइंस कांग्रेस में एन्थ्रोपोलॉजी खंड के अध्यक्ष

इत्यादि। उस समय भारत में समाजविज्ञान में प्रोफ़ेसरों की संख्या इकाई में ही सीमित थी। भारत में समाजविज्ञान के विकास में उनका योगदान प्राप्त करना आवश्यक भी था और उन्हें यह भूमिका निभाने में आनंद भी आता था। विभिन्न विश्वविद्यालयों की विषय-निर्धारण समितियों में, परीक्षक व चुनाव समिति के विशेषज्ञ के रूप में वे सक्रिय भूमिका निभाते रहे। इस निमित्त सागर से बराबर बाहर जाते रहे—कार द्वारा बीना, रेल द्वारा दिल्ली, फिर वायुयान द्वारा अन्यत्र—और इस क्षेत्र में भी उच्च जीवन की शैली अपनाते रहे। सागर में भी कई परीक्षक व विशेषज्ञ आते और उनका निवास-स्थान गुणवान व्यक्तियों के समागम व गोष्ठियों का केंद्र रहता। प्रखर बुद्धि के व्यक्तियों की पहचान, अपने विषय तक की सीमाओं से परे जाकर उनका आदर करना व घरेलू वातावरण में उच्चतम विचार-विमर्श करते रहना उनकी जीवन विधा रही। उसके अनुरूप एक अच्छे स्तर की मेहमानी भी जीवन-शैली का आन्तरिक भाग थी, और हर प्रकार से अधिकाधिक क्षेत्रों में; यथा नये-से-नये प्रकाशनों के ज्ञान में, उन्नत व्यक्तियों के संस्मरणों, प्रभावी भाषा के प्रयोग में, और उभरते हुए व्यक्तियों की आकांक्षाओं को पोषित करने में तथा जीवन की भौतिक सुविधाओं के उपयोग व प्रदर्शन, सभी में देश-काल-पात्र के अनुसार अपनी श्रेष्ठता की अभिव्यक्ति उन्हें रास आती थी।

भारत में ग्रामीण-संरचना व उनमें राज्य द्वारा संचालित सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की महती योजनाओं का प्रथम अधिकृत मूल्यांकन करने के पश्चात् दुबे जी की नियुक्ति मसूरी स्थित सामुदायिक योजनाओं के राष्ट्रीय संस्थान में निदेशक के रूप में हुई। प्रशासन से अनुसंधान को वरीयता देकर उसका स्वरूप विश्वविद्यालयों के कार्यकलापों के निकट लाया गया और उभरते हुए ग्रामीण नेतृत्व पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन भी हुआ। तब तक चीनी आक्रमण के संदर्भ में राष्ट्रीय चेतना पर भी एक राष्ट्रव्यापी सर्वेक्षण किया गया। मसूरी के इस प्रकार के प्रयोगों से भारत में राष्ट्रीय स्तर का ग्रामीण विकास का केंद्र हैदराबाद में स्थानांतरित होकर विकसित हुआ। बाद में उसका संचालन प्रमुख रूप से प्रशासकों के हाथ में चला गया और कतिपय समाज वैज्ञानिक उसमें गौण भूमिका निभाते रहे। दुबे जी ने अपने कार्यकाल में देश के लगभग हर विश्वविद्यालय में समाजविज्ञान के पाठ्यक्रमों में जहाँ भी उनकी राय माँगी गयी, ग्रामीण भारत में सामाजिक परिवर्तन का अंश जुड़वाया। यह भी अवसर की बात है कि उस क्षेत्र में सामुदायिक योजनाओं और उनका अध्ययन समाजवैज्ञानिक रूप में उनकी कृतियों में उपलब्ध था तथा उस पर आलोचनात्मक विवेचन भी आने लगे थे। साठ के दशक में साहित्य की उपलब्धता की दृष्टि से ग्रामीण-समाज में परिवर्तन का विषय बहुत कुछ सामुदायिक विकास योजनाओं के अध्ययन-अध्यापन तक ही सिमट गया। शैक्षणिक-प्रशासन में दुबे जी की क्षमता का उपयोग शिमला स्थित इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़ के निदेशक के रूप में हुआ। साहित्य, इतिहास, सामाजिकविज्ञानों की विभिन्न विधाओं के विद्वानों को कुछ समय के लिए स्वाध्याय व लेखन की ओर प्रवृत्त कर कुछ उत्तम कृतियाँ सामने लाई गयीं; राष्ट्रीय गोष्ठियों में प्रमुख विद्वान् गंभीर विचार-विमर्श के लिए बुलाये जाते; कुछ उभरते हुए विद्वानों की मेहनत से एकत्र सामग्री से पुस्तक व स्तरीय प्रपत्रों के निर्माण करने का वातावरण प्रस्तुत किया जाता; तथा कई तैयार आलेखों व पांडुलिपियों को प्रकाशित किया गया। क्या देश के लिए सांस्कृतिक नीति आवश्यक है? या सम्भव है? गंभीर अध्ययनों को

गाँव की सीमा से बाहर लाकर अधिक विस्तृत रूप में कैसे विकसित किया जाय?—इन प्रश्नों पर राष्ट्रीय स्तर पर गहन विचार हुआ। नयी दिशाएँ इंगित करनेवाले ऐसे प्रयास स्थायी या सतत रूप न ले सके; और दुबे जी के बाद कोई अन्य समाजवैज्ञानिक उस संस्थान पर ऐसा प्रभाव न रख सका। उनकी स्वयं की उपलब्धि के आलोचक पैदा हुए; और एक खिलता हुआ प्रयोग मुरझा गया। कुछ समय तक जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में भी दुबे जी ने कार्य किया, पुनः गोष्ठियों व संपर्कों का सिलसिला चला; किंतु वह भी क्षणिक ही रह पाया और वह विश्वविद्यालय फिर से सामान्य संस्था ही बनकर रह गया। उनका अंतिम प्रशासनिक कार्य था मध्यप्रदेश में राज्य के उच्च शिक्षा आयोग के अध्यक्ष के रूप में बी. ए. स्तर पर समान पाठ्यक्रम प्रामाणिक स्तर पर बनवाना। इस निमित्त भी प्रतिभावान् विशेषज्ञों को बुलाकर ऐसे पाठ्यक्रम की रचना की गयी जिसके द्वारा गुणवत्ता तथा प्रतियोगिताओं में उच्च स्तर पर उपलब्धियों की संभावना बढ़े। इन प्रयासों में कुछ सफलता अवश्य मिली, पर शीघ्र ही गुणवत्ता को पीछे धकेलने के प्रयास भी चलने लगे। फिर भी प्रदेश में आगे बढ़ सकने की बात कुछ सीमा तक तो चल ही गयी।

औपचारिक रूप से अवकाश-प्राप्ति के बाद दुबे जी समाजविज्ञान के तकनीकी पक्ष से अपने-आपको बाध्य न मानने लगे। उनका रुझान एक चिंतक के रूप में निखरने लगा। साहित्यकारों के संसर्ग में रसास्वादन व सामाजिक-सांस्कृतिक धाराओं में वह अपने प्रखर चिंतन व अभिव्यक्ति में जीवन की सार्थकता का भान करने लगे। रेडियो व दूरदर्शन पर यदा-कदा बोलते और अपनी भाव-भंगिमा के साथ व कभी-कभी दार्शनिक-से विचारों को व्यक्त करते। साहित्यकारों के पुरस्कारों के चयन में रुचि लेते और हिंदी के नये आयाम लेकर वार्ताओं, गोष्ठियों व लेखों के माध्यम से उभरते हुए साहित्यकारों को प्रोत्साहन भी देते। अपने अंतिम पाँच वर्षों में समाजवैज्ञानिक एस. सी. दुबे जीवन की पूर्णता की अभिव्यक्ति के साहित्य की अपनी प्राथमिक रुचि के अनुरूप ही प्रस्फुटित हुए। यथासंभव समाज की विकृतियों का विश्लेषण व सुधार की दिशाएँ इंगित करते-करते लगता है कि वे कुछ खिन्न भी हो जाते और बी. बी. सी. द्वारा प्रसारित उनके संभवतः अंतिम वार्तालाप में तो यह बात स्पष्टतः झलकने लगी कि बड़े चर्चित घोटालों को नियंत्रित न कर पाने वाले लोग अगर डूब रहे हों, तो डूबें। अपने जीवन-काल में हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक प्रश्नों पर लेख लिखते हुए उन्होंने समाजविज्ञान को जन-मानस के निकट लाने में पर्याप्त रुचि ली। स्वयं हिंदी में पुस्तकें लिखकर भाषा में सामाजिकविज्ञान की प्रामाणिकता को अधिक पाठकों तक पहुँचाया; और कुछ सक्षम अध्यापकों को हिंदी में प्रामाणिक साहित्य की रचना व अनुवाद करने की प्रेरणा दी। नयी पीढ़ी को प्रोत्साहित करना जीवन शैली का अंश था। इसी कारण उनकी एक विशेषता उभरते लेखकों की रचनाओं के लिए भूमिका, प्राक्कथन या प्रारंभिक शब्द लिखने में भी थी। उनमें अपनी समझ से समाजविज्ञान के उभरते धरातल पर वह पुस्तक कहाँ तक आती इसका उल्लेख होता, साथ ही यदा-कदा कुछ मोदक रूप में कटाक्ष के प्रकरण भी। समाज विज्ञान परिषद् को भेजे गये कार्यों, प्रस्तावों पर बेबाक टिप्पणी करते, विश्वविद्यालयों में प्रेषित थीसिसों पर भी यथानुकूल आपत्तियाँ व प्रशंसाएँ लिखते; और नये उभरते हुए प्रसंगों पर प्रोत्साहन स्वरूप भी कुछ कहते। पुस्तकों के समालोचक के रूप में हर स्तर पर अपना संतोष-असंतोष व्यक्त करते, और तथ्यों के वर्णन व

उनके जंजाल से उठकर वास्तविक, सामाजिक प्रवाहों की ओर ध्यान देने को वरीयता देते।

यहाँ दुबे जी क्या थे व क्या कुछ कर सके इसका पुनर्मूल्यांकन करने की आवश्यकता नहीं है। तीक्ष्ण बुद्धि, सतत अध्ययन, गुणवत्ता की पहचान व प्रोत्साहन, विचार-गोष्ठियों में जीनेवाले और सुरुचिपूर्ण तरीके से रहकर अपने-आपको सदा प्रभावी भूमिका में रखते हुए दुबे जी एक उत्तम शिक्षक, अनुसंधानकर्ता व प्रशासक के रूप में जीवन का आनंद लेते हुए उसे सार्थक बनानेवाले व्यक्तित्व के रूप में दिखाई पड़ते हैं। वैसे अंततः जीवन की सार्थकता उन्हें साहित्यकारों के संगम में प्राप्त हुई और उसी में श्यामाचरण दुबे विलीन हो गये। परंतु उनके हिंदी-लेखन में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट दिखता है। और यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि उत्तम सामाजिकविज्ञान को हिंदी में कैसे उपलब्ध कराया जाये, और अपनी भाषाओं की क्षमता में विश्वास किस तरह से मजबूत किया जाए—यह प्रश्न उनके लिए पहले से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया था। नयी पीढ़ी के साथ संपर्क रखने में उनका विश्वास था। उन्होंने श्यामाचरण दुबे के नाम से लिखना आरंभ किया था और अंत में श्यामाचरण दुबे के नाम से ही सबसे अधिक विख्यात हुए।

प्रोफ़ेसर डीलक्स

☐ रमानाथ मिश्र

बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय में शिक्षा पूरी कर मैं 1959 में सागर विश्वविद्यालय पहुँचा। तब वहाँ मूर्धन्य विद्वान् आचार्यों का जमघट था। नये शिक्षकों और वरिष्ठ शोध-छात्रों में मैंने 'प्रोफ़ेसर डीलक्स' की चर्चा लगभग पहुँचते ही सुनी। तब सागर विश्वविद्यालय 'ओल्ड साइट' और 'न्यू साइट' में बँटा था। 'गौर बब्बा' (डॉ. हरिसिंह गौर) के जमाने की बड़ी पुरानी बसें दिन में दो बार इन परिसरों को जोड़ती थीं। ये बसें जैसे चलती-फिरती बस्तियाँ थीं, या पहियेवाले अख़बार। इनमें आते-जाते मैंने फिर 'प्रोफ़ेसर डीलक्स' की बात सुनी, जैसे कि वे युवा शिक्षकों के प्रेरणास्रोत हों। शीघ्र ही, मुझे उनसे मिलने का अवसर भी प्राप्त हुआ। योगेश जी के साथ पहली बार (तब भूगर्भ-शास्त्र विभाग में स्थित) उनके कक्ष में उनसे मिलने पहुँचा तो बाहर लिखा था—S. C. Dube. विदेशी मूल के कुछ आचार्य विश्वविद्यालय में तब कार्यरत थे। यह नाम—'एस. सी. ड्यूब'—भी मुझे उन्हीं नामों जैसा लगा। किन्तु साक्षात्कार होते ही दुबे जी के नफासत से भरपूर व्यक्तित्व की अनुभूति मुझे एकबारगी हुई। उनकी बेखटक सीधी बात और तेवर, सटीक शब्दावली, अनायास ही आगन्तुक के संकोच को शांत कर देने की उनकी प्रतिभा और उनके चैतन्य व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना मैं नहीं रह सका। बड़े स्नेह से उन्होंने मुझे बिठाया, बातें कीं, और मैंने पाया कि मेरे बारे में ही नहीं, बल्कि विश्वविद्यालय के सभी नये चेहरों के बारे में उन्हें अच्छी-खासी जानकारी थी, पढ़ाई-लिखाई से लेकर चयन-समिति में हुए साक्षात्कार-कक्ष के विवरण तक। इस जानकारी में मेरे प्रति विश्वास का समर्थन भी मैंने उनकी बातों में महसूस किया। फिर तो यह विश्वास बार-बार उन्होंने मेरी शैक्षणिक विकास-यात्रा में निःस्वार्थ व्यक्त किया।

उनके उदार व्यक्तित्व में अखंड सहृदयता थी, संबंधों के प्रति आकर्षण और अनुराग था, खुलापन था। उनकी खास बात थी कि वे जहाँ भी रहे, इर्द-गिर्द फैली एक प्रबुद्ध मंडली के वे केंद्र बन गये। सागर में, चाहे उनका निवास हो या उनका विभाग, संवाद की अविरल शृंखला का दौर कहीं भी शुरू होता था और वक्ता-श्रोता की वाचिक-परंपरा में बँधकर परिसरों से छात्रावास तक अनवरत फैल जाता था। सागर के अपने प्रथम वर्ष से ही मैंने देखा कि उनके विभाग से लौटकर आये लोग अक्सर मंडली बनाकर कमरों में या छात्रावास के चतुर्दिक फैले जंगल में बैठ जाते थे और उनमें प्रश्नाकुल बातों का सिलसिला जारी रहता था। रात होते ही फिर वे पठन-पाठन की प्रक्रिया में प्रोफ़ेसर दुबे के निवास को चल देते थे। इन सभी चर्चाओं के मूल में समाज और संस्कृति तथा उनकी समाजशास्त्रीय समझ ही रहती थी, जिस पर उन दिनों बहस बड़ी पुरजोर थी। मार्गरेट मीड, मैक्किम मैरियट, रेडफील्ड और श्रीनिवास के बीच दुबे जी का 'शामीरपेट' हम लोगों के बीच सहज ही आ जाता था। इस सारे अनुभव ने प्राचीन इतिहास से

हुए मेरे समझौते को निश्चय ही आधुनिक समाजशास्त्रीय परिकल्पनाओं से परिमार्जित किया।

अनास्था की मानसिकता से दुबे जी को बड़ी खीझ होती थी। लेकिन ऐसे अवसरों पर भी उनकी विनोदप्रियता उनका कवच हो जाती थी। सागर के मेरे शुरू के दिनों में छात्रावास में उनके कुछ छात्रों ने मज़ाक-मज़ाक में छद्म प्रतियोगिता का आयोजन करके एक दुबले-पतले छात्र को 'मिस्टर हॉस्टल' घोषित कर दिया। चार पहियों के ठेले पर तेल से चमकाकर उसे बिठा, जुलूस बनाकर दुबे जी के घर तक ले गये। 'मिस्टर हॉस्टल' की तो उन्होंने ख़ूब ख़ातिर की लेकिन छात्रों की उन्होंने अलग से ख़बर ली। घटना के बाद कभी मैं उनसे मिला। इस प्रसंग की बात उठी तो उन्होंने ऐसी 'प्रैक्टिकल जोक्स' की आलोचना 'हिंसा' के स्तर पर की। खुश रहने के वे बड़े हिमायती थे लेकिन इस तरह कदापि नहीं। हरएक बात को केवल गंभीरता से लेने की मेरी आदत पर उन्होंने एक बार टिप्पणी ही कर दी, कि 'मिश्रा, थोड़ा हँसा करो।' लेकिन अनास्था की तर्कहीन संगति उन्हें नापसंद थी। इसका अनुभव मुझे फिर जल्दी ही हुआ। 1959-60 में सागर विश्वविद्यालय में कई विभागों के सहयोग से 'इंडो-ईरानियन स्टडीज़' विषय का आरंभ हुआ। मुझे भी एक कोर्स पढ़ाने का कार्य इस विभाग द्वारा सौंपा गया था। मैंने 'अवेस्ता' का वाचन विश्वविद्यालय परिसर के ही एक विद्वान् प्रोफेसर श्मिट की सहायता से शुरू किया था, ताकि मेरे कार्य में दक्षता भी बढ़े। किंतु लोकचर्चा में इस विभाग के प्रति सहानुभूति कुछ कम थी। एक बार प्रोफ़ेसर श्मिट से लेसंस लेकर मैं वापस आ रहा था। प्रोफ़ेसर दुबे अपने निवास पर लॉन में थे, मैं उनके पास पहुँच गया। उन्हें अच्छा लगा कि प्रशिक्षण के लिए मैं स्वयं को भी नयी विधा में प्रशिक्षित कर रहा हूँ। उनसे थोड़ी ही बात हुई लेकिन लोकचर्चा की क्षणिक अनास्था को उन्होंने सहज ही स्वकीय-परकीय स्वीकार करने के असमंजस के शब्दों में समझा दिया। उस समय 'संस्कृति' की चर्चा के तेवर हिंदी, संस्कृत एवं अंग्रेज़ी साहित्य के विभागों में, पुरातत्त्व तथा दर्शनशास्त्र के विभागों में कुछ अलग-अलग थे, किंतु स्वकीय-परकीय की निरपेक्ष चेतना के माध्यम से 'संस्कृति' की पहचान की एक निपट नयी सीख उन्होंने मुझे सहज ही दी।

उनके सान्निध्य की अनेक मृदु स्मृतियाँ मुझे खूब याद हैं, जिनमें उनके विनोद, संवेदना, आलोचना, हास-परिहास, व्यंग्य और चुटकियाँ, इन सभी का पुट है। ये सभी अनुभव बार-बार मुझे उनकी सहृदयता की ओर आकर्षित करते रहे। उन्हें लिखने लगूँ तो तमाम पन्ने भर जायेंगे। लेकिन इनमें बार-बार 'मैं' भी शामिल हो जाऊँगा इसलिए इन्हें पूरा लिख डालने में मुझे संकोच है, फिर भी अपना एक अनुभव मैं अवश्य कहूँगा। 1960 में विश्वविद्यालय में शिक्षक-पद पर पुनर्नियुक्ति हेतु मेरा इंटरव्यू फिर हुआ। मैं उस दिन इंटरव्यू के लिए तैयार होकर निकला। रास्ते में प्रोफ़ेसर दुबे का निवास था। वे लॉन में टहल रहे थे। उनसे बातों में मशगूल हो गया। 'न्यू साइट' से 'ओल्ड साइट' जानेवाली बस निकल गयी। जब पता चला, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। प्रोफ़ेसर दुबे उस दिन स्वयं तुरंत ड्राइव करके मुझे 'ओल्ड साइट' ले गये। बाद में मिसेज़ दुबे ने बताया कि यह 'प्रिविलेज' उन्होंने अन्य किसी को नहीं दिया था, स्वयं मिसेज़ दुबे को भी नहीं। मुझे आश्चर्य भी हुआ, लेकिन मेरे संकट को इस तरह से दूर करने की उनकी सहृदयता ने मेरे मर्म को स्पर्श किया था।

प्रोफ़ेसर दुबे एक अविरल सरलता के प्रवाह में वार्तालाप करते थे। मुझे उनके साथ

बैठकर हमेशा अपने पुराने लखनऊ की याद आयी। सागर में तो ऐसा भी कई बार हुआ कि पढ़ते-लिखते, थकान मिटाने के लिए टहलते हुए वे आधी रात को मेरे घर आ गये। दरवाज़े पर दस्तक दी, और चकित कर दिया। एक बार तो बड़ी सरलता से बोले कि देखने आये थे कि देर रात गये कितने लोग परिसर के घरों में अपनी पढ़ाई करते हैं। तब मैं मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी से प्रकाश्य एक पांडुलिपि तैयार कर रहा था। प्रोफ़ेसर दुबे की रुचि ऐसी थी कि वह बराबर पूछ लेते थे कि लेखन कितना बढ़ा। लेकिन बात करने के मूड में होते तो सारी दुनिया को समेट लेते थे। भाषा पर उनका अनन्य अधिकार था, चाहे हिंदी हो, या अंग्रेज़ी। असम प्रदेश से आई एक कला-मंडली के प्रदर्शन का उद्घाटन उनसे करने का आग्रह किया गया। ख़याल यह था कि वे अंग्रेज़ी में वक्तव्य देंगे। लेकिन अत्यंत प्रांजल, परिष्कृत हिंदी भाषा में जब उन्होंने 'नील लोहित अंचल की संस्कृति' की चर्चा से अपना वक्तव्य प्रारंभ किया तो सारे पंडाल में हर्ष-ध्वनि गूँज गयी। आतिथ्य एवं सत्कार में वे माहिर थे। व्यंजनों की चर्चा में खूब रस लेते थे। मेरी पत्नी वीणा ने एक बार उन्हें ठेठ कान्यकुब्ज व्यंजनों की बात बताई और फिर मध्यप्रदेश के व्यंजनों के बारे में पूछा तो हर हिस्से के व्यंजनों की तालिका उन्होंने गिना दी। फिर बोले कि मध्यप्रदेश इतना बड़ा है कि दो-चार व्यंजनों की बात इतने बड़े प्रदेश के बारे में कैसे पूरी होगी? प्रदेश से उनका अत्यधिक लगाव था, किन्तु यह लगाव संकुचित नहीं था। सागर की झील पर शाम के बादलों के बदलते रंग उन्हें इतने पसंद थे कि उन्होंने वीणा से साग्रह इन रंगों को बटोरने के लिए कहा। फिर एक चित्र वीणा ने उन्हें भेंट किया, तो बड़े सम्मान सहित उसे बड़े दिखावे सहित अपने ड्राइंगरूम में लगाया।

उनके स्वभाव में निश्छल खुलापन था। संवाद में भी वे खुलेपन के हिमायती थे। शिमला में जब वे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान के निदेशक थे, उस समय गुरुवार को आयोजित होनेवाली 'विचार-गोष्ठी' बड़ी जीवंत संस्था बनी रही। इस गोष्ठी में विद्वानों की अग्नि-परीक्षा हो जाती थी। सफलता-विफलता की पहचान की यह केंद्र थी। एक बार तो शांति निकेतन के बड़े वरिष्ठ दार्शनिक-विद्वान् ने यह तक कह दिया कि जब वे इस गोष्ठी में अपना लेख प्रस्तुत करेंगे, तो अपना पता अपने सगे-संबंधियों में छोड़कर आयेंगे ताकि 'next of kin' को आघात की सूचना भेजना सम्भव हो।' यह गोष्ठी भी संवाद में खुलेपन की पक्षधर थी। इसे प्रोफ़ेसर दुबे ने बराबर ही प्रोत्साहित किया। एक बार इस गोष्ठी में बहस के दौरान अपनी दलील के पक्ष में दो 'फेलोज़' में 'ऑफ दि रेकॉर्ड' वक्तव्यों की झड़ी लग गयी। इनकी दलीलों में पक्ष-प्रतिपक्ष तो थे किन्तु उनके समर्थन की पकड़ नहीं थी, न ही उनका दायित्व-बोध। 'ऑफ दि रेकॉर्ड' से आक्रांत इस संवाद में प्रोफ़ेसर दुबे ने हस्तक्षेप किया, कहा कि—"विद्वान् मंडली द्वारा औचित्य विचार में 'ऑफ दि रेकॉर्ड' की बात अमान्य है, और अपने वक्तव्य के लिए वक्ताओं को उत्तरदायी होना ही पड़ेगा।"

शिमला में उनके कार्यकाल में संस्थान की प्रगति का मैंने स्वयं अनुभव किया है। अपने शिमला प्रवास में एक वर्ष तो मैं विचार-गोष्ठी का संयोजक भी रहा। संस्थान में निरंतर होने वाले अभूतपूर्व सेमिनारों से संस्थान की प्रतिभा द्विगुणित हो उठती थी। इसके प्रत्येक आयोजन में प्रोफ़ेसर दुबे की स्पष्ट भूमिका रहती थी, खास तौर पर आरंभ एवं समापन के सत्रों में। फिर चाहे सेमिनार के विषय हों—'भाषाई व्यवहार और सामाजिक स्तरीकरण', 'मनुष्य की

अवधारणा', ' भारतीय सभ्यता में विरोध या सुधार के आन्दोलन' या अन्य कोई, प्रोफ़ेसर दुबे के वक्तव्य हमेशा प्रभावी रहे। संस्थान की कार्यप्रणाली में उन्होंने प्रजातांत्रिक सहभागिता को प्रोत्साहित किया। फेलोज़ को अपना-अपना कार्य पूरा करने का पूरा समर्थन एवं प्रोत्साहन उन्होंने दिया। विचारों की स्वतंत्रता, भरपूर खुली बहस, नियंत्रण से मुक्त, खुला बौद्धिक वातावरण मुझे वहाँ जून 26, 1975 के बावजूद मिला। सभी फेलोज़ को पूरी आज़ादी थी। इस आज़ादी में प्रोफ़ेसर दुबे का समर्थन था। शिमला में होनेवाले सांस्कृतिक उत्सवों में आहूत उस्तादों में से किसी ने यदि संस्थान के प्रति जरा भी रुचि दिखाई, तो उन्हें सम्मान सहित आमंत्रित किया गया। यह भी सच है कि फेलोज़ के लिए कुछ उस्तादों ने भी अपने स्मरणीय 'परफारमेन्स' भी सहर्ष प्रस्तुत किये। प्रोफ़ेसर दुबे के कार्यकाल में संस्थान में अनेक राजनीतिज्ञ भी आये। कुछ वहाँ ठहरे, कुछ आये-गये, लेकिन सभी संस्थान के रंग में रंगते हुए गये। संस्थान में उनके जमाने में प्रकाशनों की संख्या में अपूर्व वृद्धि हुई। इस बात का उन्हें बड़ा संतोष था। विश्वास की उमंग में उन्होंने एक बार किसी से कहा कि 'इन्स्टीट्यूट में यदि प्रसन्न हों तो औरों से कहें, यदि असंतुष्ट हों तो उनसे कहें।' अनुसंधान में फील्ड-वर्क के वे पक्षधर थे, आवश्यकता के अनुसार सभी को उन्होंने ग्राण्ट उपलब्ध कराई। एक मेरे सहयोगी, किसी वर्ग-विशेष की 'छद्म भाषा' पर अनुसंधान में लगे थे। कार्य की गुरुतावश उन्हें दो-तीन बार फील्ड डाटा संकलित करने के लिए अनुदान मिला। प्रोफ़ेसर दुबे को वे धन्यवाद देते थे और कहते थे, उनकी सहानुभूति से 'पितरों का श्राद्ध और तर्पण कई बार वे कर पाये'; लेकिन इस तरकीब से उन्होंने 'छद्म भाषा' का अनन्य ज्ञान बटोर लिया।

मुझे उच्च शिक्षा के प्रति उनकी समग्र दृष्टि एवं समर्पण का विलक्षण अनुभव तब फिर हुआ, जब वे 1983 में भोपाल में मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा अनुदान आयोग के अध्यक्ष बनकर आये। आते ही मध्यप्रदेश में उच्च शिक्षा के स्तर में आमूल संशोधन एवं सुधार का एक अनवरत सिलसिला उन्होंने शुरू किया। दो वर्षों में विश्वविद्यालयीन 'प्रथम उपाधि' के पाठ्यक्रमों में नवीन परिकल्पना का सूत्रपात उन्होंने किया और यह सम्पूर्ण प्रयास एक विशाल आंदोलन बन गया। प्रदेश में उच्च शिक्षा के स्तर, स्वरूप और आवश्यकताओं के प्रति उनमें गहरी सोच थी और चिंता भी थी। प्रदेश के लोगों, बोलियों, समग्र चेतना, सामाजिक संरचनाओं और परिस्थितियों के स्तरों में व्यापक अंतर के प्रति उनकी उदार दृष्टि थी। वे ऐसी उच्च शिक्षा के पक्षधर थे जो इन सब व्यापक भिन्नताओं की समझ लेकर दुविधा के द्वंद्व से मुक्त हो, प्रतियोगी प्रतिमान स्थापित कर सके एवं सृजनशीलता से सम्पुष्ट हो। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वे अपने सारे कार्यकाल में अथक प्रयत्नशील रहे। उनकी अध्यक्षता में आयोग के कार्यक्रमों में अभूतपूर्व सक्रियता एवं सृजनात्मक उपलब्धि फलीभूत हुई। ऐसा न कभी पहले हुआ था, न फिर कभी उनके बाद।

विश्वविद्यालयीन शिक्षा में 'प्रथम उपाधि' के पाठ्यक्रमों का पुनर्निर्धारण, उच्च शिक्षा का नवीन प्रारूप, आधार पाठ्यक्रम की आद्योपांत रचना, परीक्षा-पद्धति में सहज सुधार, आदर्श प्रश्न-पत्रों के रूप में 'प्रश्न बैंक' की रचना, पाठ्यक्रम में समाज, संस्कृति, विज्ञान, प्राविधि, पर्यावरण आदि का समुचित समावेश—यह सभी उनके निर्देशन में व्यापक सहभागिता द्वारा अल्पकाल में ही संभव हुआ। भाषाओं के लेखन, पठन-पाठन, वर्तनी, उच्चारण, व्यवहार तथा

विषयानुकूल भाषा एवं विषयानुवर्तिनी शब्दावली के प्रति उनकी गहरी सोच थी। इनके प्रशिक्षण एवं प्रयोग का बहुत कुछ ध्यान 'प्रथम उपाधि' के आधार पाठ्यक्रम में रखा गया। इनमें आधारभूत परिवर्तन की आस्था थी एवं यह सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रदेश के शिक्षकों तथा देश-भर से बुलाए गये विषय-विशेषज्ञों की सहायता से 2-3 वर्षों में पूरी हो गयी।

पाठ्यक्रम के संशोधन, परिवर्धन एवं आधुनिकीकरण से सारे मध्यप्रदेश में उच्च शिक्षा के प्रयोग का सर्वथा नवीन अवतार प्रभावी हुआ। या, यूँ कहें कि 4,43,000 वर्ग किलोमीटर में फैले मध्यप्रदेश के 400 से अधिक महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में अध्ययनरत 2.5 करोड़ छात्र-छात्राओं के समक्ष उन्होंने प्रशिक्षण एवं उपलब्धि के नये प्रतिमान स्थापित किये। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया एक असाधारण घटना थी, व्यापक एवं प्रतियोगी मानदंड की स्थापना का यह अभूतपूर्व प्रयास था, जो प्रोफ़ेसर दुबे एवं आयोग में उनके सहयोगियों की सोच का प्रतिफल था। इस सोच का मूल यह था कि मध्यप्रदेश में उच्च शिक्षा का स्तर सुदृढ़ हो प्रतियोगी और गुणात्मक हो। मानव संसाधन के विकास में आज उच्च शिक्षा की गुणवत्ता की अतिविशिष्ट चर्चा है। प्रोफ़ेसर दुबे के असाधारण यत्नवश ऐसे ही गुणवत्ता के दौर से मध्यप्रदेश में उच्च शिक्षा का आदर्श प्रारूप गुजर चुका है। इस सम्पूर्ण उपलब्धि में उनके अत्यंत सहृदय चिंतन, अथक परिश्रम एवं समर्पण की ललक थी। आधार पाठ्यक्रम की रचना के अतिरिक्त 23-24 अन्य विषयों के 'प्रथम उपाधि' के पाठ्यक्रमों की नयी संरचना स्थापित हुई। विभिन्न विषयों में नयी पुस्तकों के लेखन को प्रोत्साहित किया गया। इस लेखन में प्रोफ़ेसर दुबे एवं आयोग में उनके सहयोगियों की भी साझेदारी थी। आयोग की पत्रिका 'विन्यास' का शुभारम्भ हुआ। 'नये इतिहास' पर भोपाल में राष्ट्रीय संगोष्ठी हुई। मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी का भी सहयोग पुस्तकों के लेखन एवं प्रकाशन में लिया गया ताकि नवीन पाठ्यक्रमों के अनुरूप नयी, स्तरीय पुस्तकें भी छात्रों एवं शिक्षकों को उपलब्ध हो सकें।

मध्य प्रदेश में इतने विशाल स्तर पर उच्च शिक्षा, विशेषतः 'प्रथम उपाधि' से संबंधित शिक्षा पर इतनी व्यापक दृष्टि, इतनी गहन एवं इतनी समर्पित साझेदारी मैंने फिर कभी भी नहीं देखी। कर्मठ एवं ख्यातिनाम शिक्षकों में उनके कार्यकाल में अपने उत्तरदायित्व के प्रति नया विश्वास एवं नया उत्साह था। किन्तु परिवर्तन-विरोधी कुछ तीव्र स्वर भी मुखर हुए। कुछ आलोचनाएँ बड़ी तीखी थीं। किन्तु प्रोफ़ेसर दुबे का विश्वास था कि समुचित संवाद द्वारा अभीष्ट समझ संभव थी। इसकी प्रतिपूर्ति के लिए उन्होंने मध्यप्रदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों का भ्रमण किया। जहाँ भी गये, उन्होंने सभाएँ कीं, विद्वद्जनों, शिक्षकों, प्राचार्यों आदि को एकत्रित कर उनसे संवाद किया। उनका विश्वास था कि कोई परिवर्तन शिक्षकों के सहयोग के बिना संभव नहीं, और इस सहयोग की उन्हें आशा थी। संवाद के लिए अपनी यात्राओं में उन्होंने मौसम की सीमाओं का भी ध्यान नहीं रखा। ग्वालियर वे दो बार आये, एक बार घनघोर सर्दी की बारिश में, दूसरी बार 45° डिग्री की कड़ी गर्मी में। पहली बार पाठ्यक्रम की संरचना के सिलसिले में और दूसरी बार नवीन पाठ्यक्रमों से संबंधित संदेह और आलोचना पर प्राचार्यों से संवाद स्थापित करने। इस बैठक में उन्होंने प्रश्नों के उत्तर बड़ी सहृदयता से दिये, समस्याओं का निराकरण किया और तीखी आलोचना का प्रतिवाद भी किया।

मध्यप्रदेश का हित उनके रोम-रोम में था। शिक्षकों की मान-मर्यादा, गरिमा एवं विश्वास को उठाने का उन्होंने अथक प्रयास किया। विश्वविद्यालयीन शिक्षा एवं शोध को प्रोत्साहित किया एवं उत्कृष्ट अध्ययन केंद्र स्थापित करने की नीति के प्रतिपालन में विश्वविद्यालयीन विभागों को विशिष्ट अनुदान स्वीकृत कराये। महाविद्यालयीन व्यवस्था को सशक्त करने के लिए उन्होंने 'स्वशासी महाविद्यालयों' की नीति को प्रोत्साहित किया। शिक्षकों से उन्हें बड़ी अपेक्षाएँ थीं एवं उत्कृष्टता के प्रति उनमें सहज सहानुभूति थी। कर्मठता की संस्कृति और उत्कृष्ट की सोच मैंने उनमें सागर पहुँचते ही देखी थी, फिर शिमला और तदनंतर भोपाल में उनके दौर में उन्हें फिर पाया। मैं 1993 में उनसे दिल्ली में उनके निवास पर मिला था। तब भी उनकी नयी-नयी पुस्तकें और लेख आदि लगातार छप रहे थे। उनकी प्रवृत्ति तब भी इतिहास एवं संस्कृति के प्रति सजग और उदार थी, हमेशा जैसी। फिर 1994 में मुझे कुछ समय के लिए शिमला के संस्थान में कार्य का पुनः कुछ अवसर मिला। वे हिमाचल विश्वविद्यालय में एक विशिष्ट भाषण देने के लिए आमंत्रित थे। मुझे संतोष था कि उनसे मिलूँगा। किंतु वे अस्वस्थ हो गये, शिमला नहीं पहुँचे। फिर तो अनहोनी जैसी हो गयी, जिस पर किसी का वश नहीं।

मेरे अनुभव के प्रोफ़ेसर दुबे अखंड सहृदय थे। प्रभावशाली किंतु सरल मानसिकता के धनी थे। मुझे एवं मेरे परिवार के सभी सदस्यों को उनका भरपूर स्नेह मिला, खास तौर से मेरे छोटे बेटे को, जिसने अपनी बचकानी शरारतों से उनसे खूब लिबर्टीज़ ली और हमेशा ही अप्रतिम स्नेह पाया। अपने बड़प्पन-भर से उन्होंने किसी को कभी आतंकित नहीं किया। चिरतरुण वे तरुणों के तो सदैव आदर्श रहे। आलोचना से वे शायद ही कभी विचलित हुए। उनमें विद्वता का चमत्कार था, भाषा अत्यंत संवेदनशील एवं मुखर थी। जहाँ भी वे रहे, हमेशा उन्होंने एक प्रबुद्ध कुनबा अपने साथ जोड़ लिया जिसमें खुले संवाद की अविरल धारा प्रवाहित होती थी। संवाद को नयी दिशाओं में मोड़ देने में वे हमेशा अग्रणी रहे। इतिहास, संस्कृति, समाज, जनजीवन एवं जनजाति तथा उनके वैचारिक संबंधों के प्रति अपरिमित संवेदना से सराबोर प्रोफ़ेसर दुबे, अत्यंत उदार व्यक्तित्व के धनी प्रोफ़ेसर दुबे निपट मानवतावादी थे। अपनी कीर्ति से वे हमारे बीच शाश्वत हैं—मूर्त्याकर्मजितावनिं गतवतः, कीर्त्या स्थितस्य-क्षितौ।

दुबे जी आपसे नाराज हैं !

□ गणेश मंत्री

प्रो. श्यामाचरण दुबे से प्रत्यक्ष मुलाकात तो कई वर्षों बाद हुई, उनसे पहचान 1958-59 में ही हो गयी थी—'इंडियन विलेज' के माध्यम से। तब मैं डी. ए. वी. कॉलेज देहरादून में एम. ए. (समाजशास्त्र) का विद्यार्थी था। हमारे प्राध्यापक श्री गौरीशंकर भट्ट ने समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए कुछ किताबों का अध्ययन आवश्यक बताया था। उनमें से एक 'इंडियन विलेज' भी थी। भट्ट साहब का निर्देश सही था, दुबे जी की 'इंडियन विलेज' और एम. एन. श्रीनिवास की संपादित 'इंडियाज़ विलेजेज़' के अध्ययन से भारतीय गाँवों के सामाजिक जीवन के बारे में गहरी अंतर्दृष्टि मिली।

इस बीच भारतीय ग्राम-जीवन पर अनेक देशी-विदेशी समाज-वैज्ञानिकों ने काफी काम किया है। गाँवों के सामाजिक जीवन का शायद ही कोई पक्ष ऐसा हो, जिस पर अनुसंधान-कार्य न हुआ हो। इसके फलस्वरूप, गाँवों के सामाजिक जीवन, परंपरा-परिवर्तन, स्पृश्य-अस्पृश्य संबंधों, राजनीतिक समीकरणों और उभरते हुए नये नेतृत्व पर अनेक समाजशास्त्रीय ग्रंथ भी उपलब्ध हैं, किंतु दुबे जी और अन्य विद्वानों के उस आरंभिक काम का आज भी पहले जितना ही महत्त्व है। यह अलग बात है कि कतिपय विद्वानों को यह बात पसंद न आये। 'पीढ़ियों के अंतराल और संघर्ष' के नारों से प्रभावित इस युग में हर नयी पीढ़ी अपने योगदान से कहीं अधिक समय और शक्ति पूर्ववर्तियों की कमियाँ दर्शाने में लगाती है। कोई आश्चर्य नहीं कि अकृतज्ञता से भरे आज के माहौल में कतिपय विद्वानों ने दुबे जी के निधन के बाद अनावश्यक टीका-टिप्पणी की। खास तौर से यह कि वे विद्वान् के साथ ही 'पब्लिसिस्ट' भी थे।

दुबे जी पर इस तरह के आक्षेप लगाने के पीछे अन्य बातों के अलावा, शायद एक बड़ा कारण उनका निज भाषा-प्रेम भी था। वे उन विद्वानों से अलग थे, जो अपनी विद्वता सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़-लिख सकनेवालों के लिए ही सुरक्षित रखना चाहते हैं। हिंदीभाषी विद्वानों में तो यह प्रवृत्ति अन्य भाषा-भाषियों से कुछ ज़्यादा ही है। आमतौर पर वे हिंदी में लिखने से कतराते हैं। जो विद्वान् अपना नाम जमने के पहले हिंदी में लिखते रहे हैं, वे भी बाद में अपना माध्यम बदल लेते हैं। दुबे जी इसके अपवाद थे। वे निःसंकोच अपनी मातृभाषा में लिखते थे। यह उनकी खूबी थी कि बड़े-से-बड़े पेचीदगी-भरे विषय पर वे सहज और सजीव हिंदी में लिखने में समर्थ थे। जब चारों ओर से हिंदी की जगह 'हिंग्लश' का बोलबाला हो रहा है; जब तमाम तरह के दबाव हिंदी को उसके अपने घरों-परिवारों से ही निर्वासित करते जा रहे हैं; और जब हिंदी की अनेक पत्रिकाएँ या तो बंद हो गयी हैं या मरणांतक अवस्था में हैं, तब प्रो. श्यामाचरण दुबे का हिंदी-प्रेम अपने में एक दुर्लभ गुण था।

"दुबे जी आप से नाराज हैं!" डॉ. योगेश अटल ने सूचित किया। प्रसंग 1964 में

'धर्मयुग' में प्रकाशित उनके एक लेख का था। मैं पत्रकारिता में आया ही था। भारती जी ने मुझे धर्मयुग में सामयिक संदर्भ से जुड़ी और विचार-विवेचन प्रधान सामग्री देखने का काम सौंपा। उसी के तहत भारतीय समाज में हो रहे बुनियादी परिवर्तन पर एक लेखमाला आयोजित की गयी। दुबे जी ने सारी व्यस्तता के बावजूद अनुरोध स्वीकारा और समय पर लेख भेज दिया। वह उसी प्रांजल हिंदी और शैली में था, जिसका ऊपर जिक्र हुआ है। किंतु उसकी प्रेस कॉपी बनाते समय कुछ संशोधन या परिवर्तन हो गया। दुबे जी को वह बात तनिक चुभी। उन्होंने इसका जिक्र अटल जी से किया होगा। अरसे बाद जब मैंने उनसे इस प्रसंग का ज़िक्र किया तो हँसकर बोले, "अपने लेख में कुछ शब्दों का परिवर्तन मुझे चुभा था, लेकिन उसकी वजह से क्या मैं तुमसे माफ़ीनामा लिखवाता?"

पिछले कुछ वर्षों में तो मुंबई या दिल्ली में कई बार दुबे जी से मुलाकात हुई। हर बार मैंने पाया कि बढ़ती हुई अवस्था और अस्वस्थता के बावजूद वे न सिर्फ़ अपने विशिष्ट अध्ययन-क्षेत्र के बारे में सजग हैं, बल्कि हिंदी में हो रहे नये लेखन की भी उनको पूरी जानकारी है। इन्हीं सब बातों-मुलाकातों में जाने कब एक औपचारिक रिश्ता गहरे आत्मीय संबंध में बदल गया। वह भी एक ऐसे दौर में जब मैं अपने को बहुत अरक्षित पा रहा था। उनके निधन की ख़बर पढ़ी तो मैं धीरे से बुदबुदाया—अपना एक बुजुर्ग और अनन्य हितैषी चला गया। उनको मेरा प्रणाम!

भारतीय भाषा और परंपरा के प्रहरी

□ बैद्यनाथ सरस्वती

राँची। अड़तीस वर्ष पूर्व प्रोफ़ेसर सच्चिदानन्द जी के घर में हम लोग एक विशिष्ट अतिथि की प्रतीक्षा कर रहे थे। एक तेजस, भद्र, शुभ्र व्यक्ति का आगमन हुआ। साथ में सुमुखी पत्नी और सात-आठ वर्ष का एक मनोहर बालक। वे थे प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे। मैंने उन्हें प्रणाम किया। मनोहर मुकुल अधीर हो रहा था। प्रोफ़ेसर दुबे ने मुस्कुराते हुए उसकी ओर देखा और फिर शान्त स्वर में बोले, 'हम लोगों को चोट तो नहीं आयी, फिर नाराज़ क्यों हो रहे हो।' मुकुल बरस पड़ा, 'रिक्शावाला बदमाश था, वह रिक्शा चलाना नहीं जानता था तो क्यों चलाता है? हम लोगों को क्यों गिरा दिया?' पिता ने पुत्र की ओर प्यार से देखा। उसकी आँसू-भरी आँखों को पोंछते हुए वे बोले, 'बेटे! उस बेचारे का रिक्शा ही टूट गया। उसकी रोजी-रोटी कैसे चलेगी?' मुकुल मौन हो गया। लीलाजी हँस पड़ीं।

दुबे-परिवार को उस दिन मैंने पहली बार देखा। प्रोफ़ेसर दुबे की प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय ग्राम' मैं पढ़ चुका था। उसके बाद से मैं अपने अंतर्मन की तूलिका से उनकी छवि को चित्रित करने का प्रयास करता रहा। लेखक ने जिस आत्मीयता एवं सहजता के साथ ग्राम्य-जीवन के सूक्ष्म तथ्यों का सजीव वर्णन किया है उससे मैंने यह कल्पना की हुई थी कि प्रोफ़ेसर दुबे ग्रामीण वेश-भूषा में रहते होंगे। जब उनके दर्शन हुए तो यह कल्पना बिखर गई। बहिरंग आधुनिक पाश्चात्य और अन्तरंग परम्परागत भारतीय। उनका यह स्वरूप अंतिम क्षण तक बना रहा।

इन अड़तीस वर्षों में पाँच वर्ष तक शिमला स्थित भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान—हमें उनके निकट सम्पर्क में लाया। इस संस्थान का मैं पहले से ही फैलो था। प्रोफ़ेसर दुबे जब यहाँ निदेशक के रूप में आये तो मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। किंतु शीघ्र ही एक अप्रिय प्रसंग ने हम दोनों को झकझोर दिया। उनके आकर्षक व्यक्तित्व से सभी लोग प्रभावित थे। जिस प्रकार अन्य संस्थाओं में प्रशासक और प्रशासित के बीच राग दरबारी का आलाप चलता रहता है, उसी प्रकार इस विद्या-संस्थान में चाटुकारों ने प्रोफ़ेसर दुबे को चारों ओर से घेर लिया। एक दिन वे मेरे अध्ययन-कक्ष में आये। मैं अनुपस्थित था। जब मैं उनसे मिला तो वे क्रुद्ध दिखाई पड़े। उन्होंने पूछा, "क्या आप मेरे निदेशक बनने से अप्रसन्न हैं?" उनके अप्रत्याशित व्यवहार से मैं अधीर हो उठा। मैंने उनसे कहा, "बिना किसी भूमिका के सीधी बात बताइए।" उन्होंने अपना प्रश्न पुनः दुहराया। मैंने उलटा प्रश्न किया, "क्या आप सोचते हैं कि आपके यहाँ आने से मुझे अप्रसन्नता होगी?" उत्तर में उन्होंने कहा, "यदि मैं ऐसा सोचता तो आपके कमरे में क्यों जाता?" प्रश्नोत्तर का क्रम पाँच-सात मिनट तक चलता रहा और वे मुझे बार-बार यही कहते रहे कि अब आपसे बात हो गयी और बात खत्म हो गयी। क्षुब्ध और

दुःखी मन से मैंने उन्हें अपना त्याग-पत्र भेज दिया। वे तुरन्त मेरे पास आये और उनकी अनुपम उदारता से इस अप्रिय प्रसंग का अंत हो गया।

इस घटना से हम लोगों का परस्पर प्रेम और विश्वास सुदृढ़ हो गया। मैं कई वर्षों से काशी के साधुओं और पंडितों का अध्ययन कर रहा था। प्रोफ़ेसर दुबे ने मुझे काशी पर एक वैचारिक पुस्तक लिखने के लिए प्रेरित किया। मेरे आग्रह से उन्होंने इस लघु पुस्तक की भूमिका भी लिखी। इसके बाद मैंने जब उनसे अपनी दूसरी पुस्तक—ब्राह्मिक रीट्यूल ट्रेडिशन—की भूमिका लिखने का आग्रह किया तो उन्होंने मुझसे कहा, "किसी पुस्तक की दूसरा कोई भूमिका लिखे तो उससे उस पुस्तक के लेखक का मान नहीं बढ़ता। आपने जो लिखा है, वह स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण है। किसी और को आपका परिचय देना आवश्यक नहीं है।" उस दिन से मैंने प्रोफ़ेसर दुबे को अपना गुरु मान लिया। जब कभी मैं देखता हूँ कि लोग दूसरे के श्रम से अपनी विद्वता को उजागर करते हैं तो मुझे प्रोफ़ेसर दुबे की उदारता का बार-बार स्मरण होता है।

मेरी इस पुस्तक की भूमिका प्रोफ़ेसर दुबे ने नहीं लिखी, किंतु इसके आवरण का डिज़ाइन उनकी पसंद से बना। इस पुस्तक में मैंने परंपरा और परिवर्तन के विश्लेषण में मर्यादा की अवधारणा का महत्त्व दिखाया है। प्रोफ़ेसर दुबे इस विचार से बहुत प्रसन्न थे और उन्होंने इसकी चर्चा कई लोगों से की।

प्रोफ़ेसर दुबे स्नेही, मिलनसार और सभा जमाने वाले वागीश थे। शाम को उनके यहाँ कई तरह के लोगों का जमघट रहता था। वे जीवन जीने की कला जानते थे। आमोद-प्रमोद और गंभीर-चिंतन साथ-साथ चलता रहता था। रविवार को मैं प्रातःकाल उनके पास सत्संग के लिए जाता था। इस सत्संग का संस्मरण मैं कभी भी पूरी तरह नहीं लिख पाऊँगा। मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा। प्रातःकाल में उनका सहज, शांत और विलक्षण स्वरूप प्रतिभासित होता था। उनको देखते ही उनकी सुरुचि का और उनके बोलते ही उनकी प्रतिभा का भान होने लगता था। उनकी दाढ़ी बनाने की समयनिष्ठा, उसके साज-सामान और सफाई की दक्षता मेरे लिए एक कौतूहल का विषय बना रहता था। दाढ़ी बनाते समय वे मुझसे विद्या-चर्चा करते थे और फिर कोई-न-कोई किताब भी पढ़ने के लिए देते थे। उस दिन उनके निष्प्राण पार्थिव शरीर को जमीन पर पड़ा, लेटा देखा तो मैं अपने-आपको संयत नहीं कर पाया। उनकी दाढ़ी उसी सफाई से बनी थी, जैसे मैं सदा देखता आ रहा था, किन्तु आज वे शांत थे और उनकी तेजस्वी आँखें बंद थीं।

प्रोफ़ेसर दुबे की भावुकता और संकट में अनुत्तेजित रहने की क्षमता मुझे उस समय नज़दीक से दिखाई पड़ी जब उन्हें शिमला संस्थान से अलग करने का प्रशासनिक प्रपंच चल रहा था। प्रोफ़ेसर का दोष था नूरुल हसन का मित्र होना। कांग्रेस सरकार निढाल हो चुकी थी और विजयी दल सरकारी प्रतिष्ठानों से संबद्ध विद्वानों और अफ़सरों को कांग्रेसी होने के संदेह में प्रताड़ित करने पर तुला था। प्रोफ़ेसर दुबे कोई व्यावसायिक राजनीतिज्ञ नहीं थे, उन्होंने राजनीति विज्ञान की डिग्री अवश्य प्राप्त की थी। राजनीतिक विचार की दृष्टि से उन्हें समाजवादी कहा जा सकता था, किंतु किसी राजनीतिक दल के वे सदस्य नहीं थे। फिर भी उनको शिमला संस्थान छोड़ना पड़ा। उस संकट की घड़ी में भी उनकी विद्या-चर्चा पूर्ववत् बनी रही।

प्रोफ़ेसर दुबे के शिमला संस्थान छोड़ने के कुछ दिन बाद भी मैं वहाँ बना रहा। किन्तु जब मेरे पिताजी को काशी-लाभ हुआ तो मेरे मन में अनायास यह भावना उठी कि शिमला संस्थान से मुक्त हो जायें। मैंने काशी से ही अपना त्यागपत्र निदेशक महोदय को भेज दिया। उस दिन प्रोफ़ेसर दुबे की बहुत-बहुत याद आती रही।

यात्रा पुनः प्रारम्भ हुई। शिमला से विश्व भारती, राँची विश्वविद्यालय, पूर्वोत्तर पवर्तीय विश्वविद्यालय और अब दिल्ली का इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला-केंद्र। मेरे यहाँ आने से पूर्व ही प्रोफ़ेसर दुबे मयूर बिहार में रहने लगे थे।

इस बीच मेरे पुत्र का विवाह सागर विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर श्री गंगाधर झा की पुत्री से हुआ। प्रोफ़ेसर दुबे इससे बहुत प्रसन्न हुए। हम दोनों का संबंध दूसरी पीढ़ी में स्थापित हो गया। जब मेरी पुत्रवधू जया पहली बार मेरे घर आयी तो आदरणीया लीला जी दैवयोग से उपस्थित थीं।

विप्लवी राजधानी के अस्त-व्यस्त जीवन में प्रोफ़ेसर दुबे से मिलना-जुलना बहुत कम होता था। दूरभाष से बातचीत होती रहती थी। मैं उन्हें टेलीविज़न में देखता रहता था और अख़बारों में उनके समाचार और लेख छपते रहते थे। मेरा नाती मनोज उनका बहुत बड़ा प्रशंसक है। विश्वविद्यालयों में उनका भाषण मंत्रमुग्ध होकर सुनता रहता था।

एक बार इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला-केन्द्र द्वारा आयोजित एक अंतर्राष्ट्रीय परिसंवाद का उद्घाटन करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया। उस समय वे अस्वस्थ थे। फिर भी उन्होंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। वे ह्वील चेयर में बैठकर सभाकक्ष में आने के लिए तैयार थे, किंतु उनके चिकित्सक ने इसकी भी अनुमति नहीं दी। हम लोग बहुत निरुत्साहित हुए। मैं उनसे यह कहने मयूर विहार गया कि उनका स्वास्थ्य ही हमारा सौभाग्य है। वे खिन्न थे, किन्तु जब मैं उनके पास से उठने लगा तो उन्होंने कहा, "मैं आपकी गोष्ठी में भाग नहीं ले पा रहा हूँ, किंतु मेरे हिस्से का सेमिनार का झोला मुझे मिलना चाहिए।" मैं जब झोला देने गया तो प्रोफ़ेसर दुबे की बाल सुलभ चंचलता और प्रसन्नता देखता ही रह गया।

प्रोफ़ेसर दुबे के व्यक्तित्व का एक और पक्ष उस दिन सामने आया जब उन्हें भोपाल राष्ट्रीय मानव संग्रहालय की 'दिल्ली व्याख्यान-माला' का प्रथम व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया था। मुझे उसकी अध्यक्षता करने के लिए कहा गया। मैं बहुत असमंजस में था। संग्रहालय के निदेशक ने मेरी एक भी न सुनी। प्रोफ़ेसर दुबे से मैंने जब कहा कि ऐसी धृष्ठता मैं कैसे कर सकता हूँ और इस संकोच में मैं कुछ कह भी नहीं पाऊँगा, तो उन्होंने मेरी पीठ थपथपाकर कहा, "इसमें संकोच किस बात का। आपकी अध्यक्षता में भाषण देकर मैं गौरवान्वित होऊँगा।" ऐसे थे हमारे विनम्र वाग्मी प्रोफ़ेसर दुबे।

अन्तिम वार्तालाप हुआ नेशनल हार्ट इंस्टीट्यूट में। एक-एक कर मिलना था। सबसे पहले मैं, उसके बाद मेरी पत्नी और फिर हम लोगों का नाती मनोज। उनकी सबसे लम्बी बातचीत मनोज से हुई। मुझसे उन्होंने जो अंतिम बात कही वह संक्षेप में इस प्रकार थी—

> "आप भारतीय परम्परा के बारे में जो लिखते और सोचते रहे हैं, उसको आगे बढ़ाते रहिए। किंतु यह सब आप किसके लिए लिख रहे हैं? पश्चिम के लोग और अंग्रेज़ीदाँ आपकी बात नही सुनेंगे। हिन्दी भाषा में लिखना ही उचित और आवश्यक है। मैंने तो

संकल्प कर लिया है कि अंग्रेज़ी में कुछ भी नहीं लिखूँगा। ···यहाँ से छुट्टी मिलने पर मुझे अपनी किताब के अंतिम तीन पृष्ठ लिखने हैं। यदि यह नहीं भी लिख पाया तो भी चलेगा।"

प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे की विद्वत्ता, उनका अंग्रेज़ी और हिन्दी भाषा पर समान अधिकार, उनके लिखने और बोलने की समान विलक्षणता उन सबों को मालूम है जिन्हें उन्हें पढ़ने और सुनने का सौभाग्य मिला है। भारतीय भाषा और परंपरा के प्रति निष्ठा और प्रेम का जो उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया है वह सभी विद्वानों और सभी पीढ़ियों के लिए अनुकरणीय है।

श्यामाचरण दुबे : स्मृति-चित्र

□ *निर्मला जैन*

आठवें दशक के आरम्भ की बात है। शिमला में एडवांस्ड इंस्टीट्यूट की शुरुआत को बहुत समय नहीं बीता था। बुद्धिजीवियों में संस्था का बड़ा दबदबा था। वहाँ जाने का मतलब समझा जाता था—सुपर इण्टलेक्चुअल होने का ठप्पा लगना। वैसे वहाँ ऐसे विद्वानों की संख्या भी काफी थी जो अपने कार्य-क्षेत्रों की घटिया राजनीति से तौबा करके जैसे-तैसे वहाँ पहुँचने की व्यवस्था कर लेते और साल-दो साल मुक्ति-पर्व मनाते। यह संस्था नौकरी के झंझटों से मुक्त रहकर स्वतंत्र-लेखन के प्रति समर्पित रचनाकारों की भी शरणस्थली थी। सन् 1972 में सुना कि वहाँ जाने-माने समाजशास्त्री प्रो. श्यामाचरण दुबे की नियुक्ति निदेशक पद पर हो गई। प्रतिक्रियाएँ तरह-तरह की हुईं जिनमें एक प्रवाद यह भी था कि जिस 'चौकड़ी' पर शिक्षामंत्री प्रो. नूरुल हसन की विशेष कृपा रहती थी उसके एक सदस्य दुबे जी भी हैं। (शायद एकाध ही कोई जानते होंगे की नूरुल हसन और दुबे जी लखनऊ विश्वविद्यालय में कभी सहयोगी रहे थे।) बाकी सदस्यों में इतिहासकार प्रो. रामशरण शर्मा और प्रो. सतीशचन्द्र और रसायन विज्ञानी प्रो. रामचरण मेहरोत्रा का नाम विशेष रूप से लिया जाता था। हाशिये पर नाम और भी थे। इनमें सभी अपने-अपने क्षेत्रों के जाने-माने विद्वान् थे। पर राज-कृपा के पात्र होने का अर्थ होता था—योग्यता का संदेह के घेरे में आ जाना। दुबे जी भी कुछ समय इस दुष्प्रचार के शिकार हुए कि उन्हें उनके कद से बड़ा पद केवल राज-कृपा से मिला है।

पर बहुत जल्दी ऐसे प्रवादों को झूठा सिद्ध करते हुए दुबे जी की यशगाथा फैलने लगी। उस समय उनके बारे में जो सुना और देखा था, उसके आधार पर उनका बिम्ब कुछ ऐसा बनता था : मुँह में पाइप दबाये, शीन-काफ़ दुरुस्त वेश-भूषा से लैस, वाक्पटु, व्यवहार-कुशल साँवला-सलोना व्यक्तित्व, जो सामनेवाले के मन में उनके कुछ-कुछ 'स्नॉब' होने का एहसास पैदा करता था। दुबे जी का अफ़सराना रौब-दाब और सलीकेवाला व्यक्तित्व देखनेवाले को नीम आतंकित भी करता था। एकाध बार उनसे औपचारिक भेंट हुई, पर निकट परिचय का कोई विशेष अवसर नहीं आया। सुना था कि वे शिमला-प्रवास के लिए विद्वानों का चयन बहुत ठोक-बजाकर करते हैं और फिर उन्हें बड़े सम्मान से वहाँ रखते हैं। यह बात अलग है कि अपनी सारी सावधानी और विवेक के बावजूद वे कई बार चूके पर अपनी भलमनसाहत के कारण लोगों को झेलते रहे। कई वर्ष बाद बातचीत के दौरान उन्होंने स्वयं मुझसे इस बात की चर्चा की थी।

इंस्टीट्यूट के भीतरी माहौल का ब्यौरा अक्सर कवि-मित्र भारतभूषण अग्रवाल से सुनने को मिलता था। इच्छा होती थी कि कुछ समय वहाँ रहकर गंभीरता से काम किया जाये, पर विश्वविद्यालीय और पारिवारिक दायित्वों से मुक्ति संभव नहीं हुई, तो नहीं ही हुई।

कभी-कभार दुबे जी से भेंट हो जाती थी। इंस्टीट्यूट का प्रसंग आने पर अच्छी बातों के बीच वे उन पेंशन-भोगी विद्वानों की चर्चा भाल ठोंककर बड़े दुःख के साथ दबे स्वर में करते थे जो उनके लिए सिरदर्द बने हुए थे। मुझे हैरत होती थी उनकी शालीनता और सहनशीलता, दोनों पर। एक बार मैंने किसी परिचित की सिफ़ारिश की। उन्होंने जिस तरह मुझसे उनके व्यवहार की जमानत चाही, उसे सुनकर मेरा साहस तो छूट ही गया, साथ ही इस बात का अंदाज़ भी हो गया कि उन्होंने वहाँ के अंतेवासियों के बारे में बहुत कुछ अनकहा छोड़ दिया है। उनका वह न कहना मुझे उनकी गरिमा के अनुरूप और मार्मिक लगा।

1978 में जब दुबे जी जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए तो उनके दो वर्ष के कार्यकाल में दो बार औपचारिक कार्यवश जाना हुआ। उस पिछड़े से विश्वविद्यालय में दुबे जी का सुसंस्कृत शालीन व्यक्तित्व कुछ अटपटा-सा लगता था। वहाँ के शिक्षकों में उनके प्रति संभ्रमपूर्ण समादर का भाव था। लेकिन वहाँ की कार्य-पद्धति और व्यवस्था का दुबे जी जिस क्रान्तिकारी ढंग से पुनर्नवीकरण करना चाहते थे, वह लालफीताशाही के कारण शायद संभव नहीं हो पा रहा था।

मैं अपने एक निकट सम्बन्धी के घर ठहरती थी। दोनों बार दुबे जी ने शाम उस परिवार के बीच मेरे साथ गुजारी। पहली बार आये तो परिवार के युवा बेटे ने उनसे धीरे से पूछा, "सर आप क्या पियेंगे?" दुबे जी ने अचकचाकर उसकी तरफ देखा और बोले, "अरे बेटा! हम तो सोचकर नहीं आये थे कि जैनियों के घर में कोई पीने के लिए पूछेगा। पर कोई बात नहीं, मैं तो आदिवासी हूँ। मेरे तो रग-रग में हाला है। जो पिलाओगे पी लेंगे।" और यह कहकर वे उन्मुक्त भाव से हँस दिये। बड़ी सहजता से वे उस पढ़े-लिखे पर व्यापारी परिवार के बीच रम जाते। परिवार के लोग उनकी निखालिस हिन्दी पर मुग्ध थे। उनके लिए यह कल्पनातीत अजूबा था कि कुलपति के पद पर आसीन कोई नामी-गरामी विद्वान् अंग्रेज़ी का घालमेल किये बिना इतनी विशुद्ध और सहज हिन्दी में घंटों बतियाता रहे। वे दोनों बार घर लौटने के लिए उठे तो यह कहना नहीं भूले कि उनके शहर में पहुँचने पर क़ायदे से उन्हें मुझे अपने घर आमंत्रित करना चाहिए था, पर घर की व्यवस्था तो सेवकों के आसरे थी (लीला जी तो अस्थायी रूप से आती-जाती रहती थीं) इसलिए उन्हें संकोच होता था।

दुबे जी से नियमित सम्पर्क 1983-88 के बीच उनके भोपाल प्रवास के समय रहा। वे मध्यप्रदेश में उच्च शिक्षा आयोग के निदेशक नियुक्त हुए। पद-भार ग्रहण करते ही उन्होंने अपने लक्ष्य स्थिर कर लिये। पाठ्यक्रमों का मानकीकरण, मध्यप्रदेश के उच्च-शिक्षा संस्थानों में समान पाठ्यक्रम का निर्धारण। इस काम के लिए यथासंभव पूरे देश के जाने-माने विद्वानों का सहयोग। समितियाँ बनीं, नियमित बैठकें होने लगीं। दुबे जी की व्यवस्था में सबके मान-सम्मान, सुविधा की पूरी चौकसी रहती थी। बाहर से आमंत्रितों के बीच लोकतांत्रिक पद्धति से वे प्रदेश के शिक्षकों का सहयोग बराबर लेते रहे। वे एक हद तक स्वप्नजीवी और योजनाविलासी थे। व्यावहारिक कठिनाइयों का अनुमान हमेशा सोलह आने ठीक नहीं लगा पाते थे। एक बार पाठ्यक्रमों का नवीनीकरण करने के लिए समितियाँ बनीं। सब लोग शरीक़ हुए और सर्वसम्मति से एक ढाँचा तैयार हो गया। संयोग से एक स्वनामधन्य साहित्यकार जो उस समय मध्यप्रदेश में प्रभावी अफ़सर थे, उस बैठक में सम्मिलित न हो सके। उन्हें यह सहन

नहीं हुआ कि उनके जैसी प्रतिभा की अनुपस्थिति में निर्णय कैसे हो गया। अफसरशाही की बू से ग्रस्त अपनी सर्जनात्मक क्षमताओं पर आत्ममुग्ध इन महानुभाव ने दुबे जी से कहकर एक सुपर समिति का गठन कराया। सदस्य तीन थे—वे खुद, हिन्दी के एक सुविख्यात आलोचक और मध्यप्रदेश के एक विद्वान् प्रोफ़ेसर। ये दोनों सज्जन पहली समिति के सदस्य भी थे। लेकिन अफ़सरशाही के सामने दोनों ने घुटने टेक दिये और पहले किये गए निर्णय एकदम उलट-पलट दिये गए। पंडितजी ने वहाँ तो कुछ नहीं कहा; बाहर आकर इस उलट-फेर के बारे में प्राध्यापकों के कान भर दिये। परिवर्तन-भीरु अध्यापकों में खलबली मच गयी। उन्होंने विद्रोह का झंडा उठा लिया। आपत्ति के पीछे ठोस तर्क था कि जो निर्णय उनके प्रतिनिधियों के सहयोग से सर्वसम्मति से हुए थे, उन्हें बिना उनकी सहमति के किस अधिकार से बदल दिया गया। पूरे प्रसंग को उन्होंने व्यवस्था और प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। दुबे जी ने एक बार फिर पूरी समिति की बैठक बुलाई। भोपाल पहुँचते ही उनका संदेश मिला कि बैठक में जाने से पहले उनसे मिल लूँ। पहुँची तो वे बड़े परेशान थे। जिन्होंने उन्हें साँसत में डाला था, वे नदारद थे। सिर्फ विद्वान प्रोफ़ेसर 'आग लगाकर जमालो अलग खड़ी' वाली मुद्रा में, निरीह सूरत बनाए, तमाशबीनी के लिए मौजूद थे। दुबे जी ने अध्यापकों की जड़ता और मित्रों की अव्यावहारिकता—दोनों से खिन्न होकर कहा कि जैसे हो सके मैं स्थिति को सँभालूँ, ताकि यह मुद्दा किसी आंदोलन का रूप न ले ले। वह झगड़ा तो जैसे-तैसे मैंने रफ़ा-दफ़ा करा दिया, पर 'सुपर-समिति' के निर्णय रद्द हो गये। इस पूरे प्रसंग से गुज़रकर मुझे लगा, योजनाओं को मूर्त रूप देने और मित्रों को सही-सही पहचानने के लिए जो काइयाँपन चाहिए, दुबे जी में प्रशासनिक क्षमता और गरिमा के बावजूद वह नहीं है।

अन्ततः 1988 में दुबे जी दिल्ली आ गये। प्रशासनिक झमेलों से मुक्ति पाकर उन्होंने अपने को पूरी तरह साहित्य और समाजशास्त्र की दुनिया के प्रति समर्पित कर दिया। उनकी अध्ययनशीलता अचम्भे में डालनेवाली थी। उनके प्रकाशकों का कहना है कि वे अपनी पुस्तकों का अन्तिम प्रूफ खुद देखे बिना उन्हें छपने नहीं देते थे। ऐसे वक्ता बिरले हैं जो अंग्रेज़ी और हिन्दी—दोनों भाषाओं में बिना मिलावट के भाषण दे सकें। दुबे जी का इस कला पर असाधारण अधिकार था। लगता है यह क्षमता उन्होंने बड़ी साधना करके अर्जित की थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर को वाणी का डिक्टेटर कहा था। दुबे जी को बोलते सुनती थी तो यह बात बराबर याद आती थी।

वे धीरे-धीरे समाजशास्त्री से ज़्यादा साहित्य की दुनिया के हो गये थे। हर महत्त्वपूर्ण पुस्तक की जानकारी प्रकाशित होते ही उन्हें हो जाती थी और वे अक्सर बहुतों से पहले उसे पढ़ डालते, अपनी राय बनाते और उस पर विचार-विमर्श करते। पिछले कई वर्षों से तो स्थिति यह थी कि किसी भी उल्लेखनीय साहित्यिक गोष्ठी का मंच उनके बिना शोभित नहीं होता था। केवल दिल्ली में ही नहीं, अखिल भारतीय स्तर पर समाजशास्त्र और साहित्य से सम्बन्धित हर कार्यक्रम से वे किसी-न-किसी रूप में संबद्ध रहते थे और ऐसा करके उन्हें आत्मतोष होता था।

न जाने कब उन्होंने तय कर लिया था कि हिन्दी ही उनकी रचनाओं का माध्यम रहेगी। जहाँ तक मेरी जानकारी है, औपचारिक अपेक्षाओं के अलावा अंग्रेज़ी का उपयोग करना उन्होंने छोड़ दिया था।

मयूर विहार में, उनके निवास 'पूर्वाशा' के आसपास अनेक साहित्यकार और पत्रकार बसे हैं। उस परिवेश में दुबे जी की उपस्थिति बराबर प्रेरणास्पद बनी रही। लोगों से मिलना-जुलना, समाज और साहित्य की चर्चा करना और लगभग नियमित रूप से लिखना उनका शगल हो गया था।

काफी समय से स्वास्थ्य साथ नहीं दे रहा था। कई बार गंभीर रूप से बीमार हुए। बीमारी का समाचार मिलता तो आशंकाएँ मन को घेरने लगतीं। पर कहीं-न-कहीं विश्वास बना रहता था कि अपने जीवट और हँसमुख स्वभाव के बल पर वे मृत्यु को टाल देंगे। कई बार ऐसा हुआ भी।

अंतिम बीमारी से कुछ सप्ताह पहले मैंने कुछ रचनाकार मित्रों को प्रीतिभोज के लिए आमंत्रित किया। कवि कुँवर नारायण व्यास-सम्मान से पुरस्कृत किए गए थे। मित्रों के बीच उनकी कविताओं के पाठ की योजना बनी। दुबे जी और लीला जी भी आए, जमकर बैठे और उस शाम में पूरी हिस्सेदारी की। जाते समय धीरे से बोले, "तुम एक दिन मयूर विहार आओ, ज़रा समय लेके। कुछ गंभीर मसलों पर चर्चा करनी है।" मैंने आने का वायदा किया और उन्हें विदा कर दिया। नहीं जानती थी कि उनके पास लम्बी प्रतीक्षा का समय नहीं बचा है।

व्यस्तताओं के बीच जाना टलता गया और एक दिन मन्नू भंडारी ने सहसा समाचार दिया कि वे गंभीर रूप से बीमार होकर अस्पताल पहुँच गये हैं। वह मुझे ख़बर देने से पहले खुद मिल आई थीं। मुझे जीवंत व्यक्तियों को बीमारी की हालत में देखने के लिए साहस बटोरना पड़ता है। जब तक मैंने अपने को तैयार किया, वे घर आ गये थे, पर टिकने के लिए नहीं, जल्दी ही वापस लौटकर सबकी पहुँच से परे हो जाने के लिए। इस बार की आँख-मिचौनी में मृत्यु ने उन्हें घेर लिया था। बाकी रह गयी है उनकी यशःकाया। आनेवाली पीढ़ियों से हम, उनके मित्र-परिचित यह कहने में गौरव की अनुभूति करेंगे कि जीवन की राहों पर हम भी कुछ कदम उनके साथ चले थे।

नीर-क्षीर विवेक

□ *बिशन टंडन*

उनके पुत्र सौरभ से अच्छा परिचय काफी पहले हो जाने पर भी प्रो. दुबे से सम्पर्क भारतीय ज्ञानपीठ के संदर्भ में 1986 के मध्य में कभी हुआ। ज्ञानपीठ पुरस्कार की प्रवर परिषद् में एक नये सदस्य को आमंत्रित करना था। उसके लिए उनसे अनुरोध किया। सौरभ का उल्लेख करते हुए अपने पत्र को कुछ व्यक्तिगत स्तर तक उठाया। कुछ दिन बाद भोपाल से स्वीकृति का उत्तर मिला—दो-तीन पंक्तियों में, पूर्णतः औपचारिक और सपाट। सचमुच अच्छा नहीं लगा। सोचा कि प्रो. नूरुल हसन और जे. पी. नायक ने समय-समय पर दुबे जी के बारे में मुझे जो कुछ बताया था उसके अनुरूप तो पत्र के उत्तर देनेवाले का व्यक्तित्व नहीं लगता। लेकिन मन में कहीं-न-कहीं यह विश्वास बना रहा कि ऐसा हो नहीं सकता, और फिर मन का विश्वास ही खरा निकला। दो-तीन दिन बाद दुबे जी का बहुत ही स्नेहपूर्ण पत्र मिला, कुछ इस प्रकार—मैंने पिछला पत्र केवल औपचारिकता के लिए लिखा था, यह जानते हुए कि आपसे बिना बनाये जो सम्बन्ध बन गया है उसकी पृष्ठभूमि में आपको वह कुछ अखरेगा भी। कभी भेंट न होने पर भी मैं आपके बारे में बहुत कुछ जान गया हूँ। सौरभ के अतिरिक्त एल. पी. सिंह और धर्मवीर भारती ने मुझे बहुत-कुछ बताया है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि प्रवर परिषद् की सदस्यता के नाते आपसे भी अच्छा सम्पर्क रहेगा।

उस समय दुबे जी भोपाल में मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा आयोग के अध्यक्ष थे। पहली बार मैंने उन्हें कुछ महीने बाद हुई प्रवर परिषद् की बैठक में देखा। विचार-विनियम के समय जब उनकी बारी आयी तो बहुत धीमे स्वर में धीरे-धीरे बड़े संयत शब्दों में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये। बैठक में दुबे जी अपने साथ कोई काग़ज़ नहीं लाये थे। पर यह समझने में किसी ने भी भूल नहीं की कि जिन साहित्यकारों के नाम ऊपर आ गये थे, उन सबके बारे में वह काफी सोच-विचार कर आये थे। धीरे-धीरे प्रवर परिषद् में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण होता गया। एक बैठक में उनकी भूमिका निर्णायक रही। एक उपन्यासकार की कृतियों का बहुत ही विशद समाजशास्त्रीय विश्लेषण उन्होंने प्रस्तुत किया। उनको सुनकर किसी को भी यह समझने में कठिनाई नहीं हुई कि भारतीय समाज के इस गहन अध्येता का साहित्यिक क्षेत्रों में इतना मान क्यों है। कई वर्षों पहले प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. पी. सी. जोशी ने नैनीताल में एक सेमिनार को संबोधित करते हुए कहा था कि समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के अध्ययन का बहुत अच्छा स्रोत साहित्य भी है। दुबे जी ने भी इस बात की पुष्टि की कि समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य का योगदान कितना महत्त्वपूर्ण हो सकता है। प्रवर परिषद् ने उस वर्ष ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए इन्हीं उपन्यासकार को चुना।

अक्तूबर 1988 में दुबे जी भोपाल से दिल्ली आ गये। पहले जब वे ज्ञानपीठ की

बैठकों के लिए दिल्ली आते तभी उनसे भेंट होती। अब अधिक संपर्क होने लगा। धीरे-धीरे घनिष्ठता भी बढ़ती गयी। पढ़ने-लिखने, पुस्तकों, पुस्तकालयों आदि के सम्बन्ध में सदा उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करता रहता। मैं जितना ही अधिक उनको जानता, उतनी ही अधिक पुष्टि मेरी इस धारणा की होती कि केवल निष्ठा और निष्पक्षता विद्वता का आधार हो सकता है, चाहे किसी भी क्षेत्र में हो। दुबे जी इन दोनों ही गुणों के धनी थे। न जाने कितनी बार साहित्य, साहित्यिक कृतियों और अन्य लेखन पर मेरी उनसे चर्चा हुई। मैने देखा कि वह कभी भी अपनी निष्ठा और निष्पक्षता को नहीं छोड़ते थे। साहित्यकारों और लेखकों से घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी उनकी कृतियों को समझने और समझाने के लिए उनके पास नीर-क्षीर विवेक था। उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों की छाया उनके साहित्यिक कर्म पर नहीं पड़ती थी।

प्रो. श्यामाचरण दुबे समाजशास्त्र के शीर्षस्थ विद्वान थे; समाजशास्त्री के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी वे प्रख्यात थे। पर उनसे सम्पर्क में आने के बाद मुझे हमेशा यह लगा कि उनका समाजशास्त्रीय अध्ययन केवल तार्किक प्रक्रिया और संख्याओं के विश्लेषण पर ही आधारित नहीं था। भारतीय समाज और उसकी समस्याओं को समझने और समझाने में उनके लिए साहित्य का भी उतना ही महत्त्व था। साहित्य की उनकी गहरी पकड़ ने उनके समाजशास्त्री रूप को निखारने में सहायता की थी। उनके लिए साहित्य की सच्ची पहचान मानवीय और सामाजिक संवेदना की कसौटी पर ही हो सकती थी। अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा था कि—

> "...न तो मैं साहित्य की किसी रचनात्मक विधा से जुड़ा हूँ और न ही मैं मर्मज्ञ आलोचक ही हूँ। 'साहित्य के मानदंड' या 'साहित्य की परख' जैसे ठोस विषयों पर बोलने का दुःसाहस मैं कभी न करता। आज का विषय—'साहित्य की मेरी पहचान'—आचार्यत्व की माँग नहीं करता, उसमें व्यक्तिगत संवेदना और प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति की गुंजाइश है, और इसीलिए हिम्मत बटोरकर मैं आपके सामने उपस्थित हूँ।"

इस मानवीय, सामाजिक और व्यक्तिगत संवेदना और प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति की पकड़ दुबे जी में अद्वितीय थी। यही कारण है कि देश के प्रायः सभी उच्चस्तरीय सम्मानों और पुरस्कारों के चयन से उन्हें सदा जोड़ा गया।

बड़ी पुरस्कार-राशि वाले सम्मानों की आलोचना से वह सहमत नहीं थे। इस आलोचना का बड़ा तर्कसंगत उत्तर उन्होंने 12 मई, 1993 को डॉ. शिवप्रसाद सिंह के लिए आयोजित व्यास-सम्मान समारोह में चयन समिति के अध्यक्ष होने के नाते दिए गये अभिभाषण में दिया था। लेकिन इन सम्मानों, पुरस्कारों की चयन-प्रक्रिया की शिकायतों से वे क्षुब्ध भी हो जाते थे। इस प्रसंग पर मेरी उनसे काफी चर्चा होती थी। वे सदा इस बात के इच्छुक रहते थे कि इनमें जो कमियाँ हैं, उनको दूर करने का हर प्रयत्न होना चाहिए। मुझे एक बार कबीर-सम्मान के निर्णायक मंडल में भाग लेने का निमंत्रण मिला। दुबे जी के परामर्श से मैंने यह स्वीकार कर लिया, यद्यपि 'भारत भारती' पुरस्कार के सम्बन्ध में मुझे काफी अप्रिय अनुभव हो चुका था। (उसके निर्णायक मंडल में कई शीर्षस्थ विद्वान् थे) विस्तृत विचार-विनिमय के बाद हम लोगों ने कुछ नाम तय किये। पहले तो हिन्दी संस्थान, लखनऊ के उपाध्यक्ष ने, जिसके तत्त्वावधान में

यह पुरस्कार आयोजित होता है, उसमें परिवर्तन का प्रयत्न किया, पर हम लोगों ने उनकी ग़लत चालों को कार्यान्वित नहीं होने दिया। लेकिन बाद में तत्कालीन मुख्यमंत्री मुलायम सिंह ने पूर्णतः राजनीतिक आधार पर बच्चन जी का नाम काटकर किसी अन्य व्यक्ति को पुरस्कार दिया। यह बात दूसरी है कि बाद में फिर राजनीतिक कारणों से उन्होंने बच्चन जी को उनके घर जाकर पुरस्कृत किया। कबीर-सम्मान के आयोजकों से मैंने निर्णायक समिति में ढंग से भाग लेने के लिए कुछ जानकारी और सामग्री माँगी। उन पत्रों का कभी कोई उत्तर नहीं मिला, जानकारी और सामग्री मिलने का फिर प्रश्न ही कहाँ उठता, और बाद में एक दिन बैठक की सूचना मिली। मेरा जाने का कोई विचार नहीं था, पर दुबे जी का परामर्श था कि मैं जाऊँ और अपनी पूरी आपत्ति निर्णायक समिति की कार्यवृत्ति में दर्ज करा दूँ। उनका कहना था कि इस प्रकार की अनियमितताओं और कमियों को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि साहित्य कर्म में उनकी निष्ठा, उनके व्यक्तित्त्व का अभिन्न अंश थी। भारतीय ज्ञानपीठ को छोड़ने का निर्णय मैंने उनके परामर्श से ही किया था। इसके कई कारण थे, जिनको इस लेख में विस्तार से लिखना उपयुक्त नहीं होगा। पर मुख्य कारण यही था कि उसकी कार्य-प्रणाली से मुझे काफी लम्बे समय से गहरा असंतोष था। मेरी बात सुनने के बाद उन्होंने मेरे निर्णय पर पूर्ण सहमति प्रकट की। मैंने मार्च 1991 में ज्ञानपीठ छोड़ने का अपना निश्चय सबको बता दिया था। उस समय मेरा कहीं और कार्य करने का विचार नहीं था, न कहीं से इस प्रकार का निमंत्रण ही था, पर ज्ञानपीठ छोड़ने से पहले मुझे के. के. बिड़ला फाउंडेशन आने का निर्णय करना पड़ा। इसकी नयी योजनाओं के बारे में दुबे जी ने बहुत सहायता की। बिड़ला जी से उनका कुछ परिचय था, बिड़ला जी उनके बहुत प्रशंसक थे। बिड़ला जी और मेरे अनुरोध पर उन्होंने व्यास-सम्मान की चयन-समिति की अध्यक्षता स्वीकार की। साहित्यिक क्षेत्रों में उनके नेतृत्व में किए गये निर्णयों का अच्छा स्वागत हुआ। उनकी चार वर्ष बाद कार्यावधि समाप्त होने पर बिड़ला जी ने उनसे फिर अध्यक्ष बने रहने का अनुरोध किया। नियमों में इसका प्रावधान था। दुबे जी ने इस अनुरोध का मान रखा। मैं आधिकारिक रूप से कह सकता हूँ, 30 नवम्बर, 1995 को व्यास-सम्मान समारोह में दुबे जी के प्रति बिड़ला जी ने जो कृतज्ञता प्रकट की, वह औपचारिकता नहीं थी। यह बात वे लोग और भी अच्छी तरह समझ सकते हैं जिन्होंने इस अवधि में व्यास-सम्मान के सम्बन्ध में दुबे जी के साथ कार्य किया है।

यहाँ मैं एक ऐसी बात की चर्चा करना चाहता हूँ जिसकी अभी तक बहुत कम लोगों को जानकारी है। व्यास-सम्मान की चयन-समिति की अध्यक्षता स्वीकार करते हुए दुबे जी ने यह स्पष्ट किया था कि जब तक फाउंडेशन से उनका किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रहे, फाउंडेशन के किसी सम्मान-पुरस्कार के लिए उनकी किसी कृति पर विचार न किया जाए। फाउंडेशन का कार्यकलाप 1991 में शुरू हुआ। अगले वर्ष यानी 1992 में फाउंडेशन ने शंकर-पुरस्कार प्रवर्तित किया। शुरू से ही शंकर-पुरस्कार निर्णायक समिति दुबे जी की एक-दो कृतियों पर विचार करना चाहती थी, पर दुबे जी की शर्त के कारण ऐसा न कर सकी। लेकिन एक वर्ष समिति के सदस्यों ने यह कोशिश की कि दुबे जी अपना निर्णय बदल दें। सदस्यों का तर्क यह था कि शंकर-पुरस्कार से दुबे जी का सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। पर दुबे जी पर इस तर्क

का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसलिए जब उन्हें मूर्तिदेवी-पुरस्कार मिला, तो उन्होंने मुझे स्वयं फोन करके पूरी स्थिति स्पष्ट की। उस पुरस्कार की घोषणा उनकी अनुमति के बिना कर दी गयी थी। मैं केवल दो-चार गिने-चुने लोगों को जानता हूँ जिन्होंने इस प्रकार से सम्मान-पुरस्कार से अपने को अलग किया हो। मैं ऐसे कई साहित्यकारों को जानता हूँ जो अपनी सार्वजनिक कथनी के बावजूद पुरस्कार पाने के लिए दूसरों के दरवाज़े खटखटाते रहते हैं। दुबे जी के दृष्टिकोण की सार्वजनिक सराहना आज के विकृत होते मूल्यविहीन जन-जीवन में बहुत आवश्यक है।

पथ-प्रदर्शक के बिना हम

□ *सौमेन्द्र मोहन पटनायक*

दिसम्बर 1988; शीत-ऋतु में दिल्ली विश्वविद्यालय के मानवविज्ञान विभाग ने एक संगोष्ठी का आयोजन किया था। विषय था 'मानवविज्ञान का भविष्य एवं नये क्षितिज'। मुख्य वक्ता व मुख्य अतिथि के रूप में प्रो. श्यामाचरण दुबे को निमंत्रित किया गया था। एक विद्यार्थी के रूप में मुझे उनको उनके आवास से विश्वविद्यालय तक ले जाने का दायित्व सौंपा गया। जिन महान् व्यक्ति की जीवनी एवं रचनाएँ हम स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में पढ़ चुके थे, उनसे व्यक्तिगत रूप से मिलने का, और उनके साथ कुछ समय बिता पाने का विचारमात्र ही मेरे मन में एक अद्‌भुत सिहरन-सी जगा गया। क्या मैं उन दुबे जी से साक्षात्कार करने जा रहा हूँ जिन्हें मैंने कुछ ही दिन पूर्व अपने पाठ्यक्रम की कुछ आवश्यकता पूर्ण करने के संदर्भ में पढ़ा था? मैं अपनी उत्सुकता छुपा न सका और तुरंत कहा, "मैंने उनको पहले कभी नहीं देखा।" प्रो. तिवारी (एक वरिष्ठ प्राध्यापक) ने उसी समय स्मित-हास्य पूर्ण लहजे में जवाब दिया, "तुमको उन्हें पहले देखने की कोई आवश्यकता नहीं है, सबसे दर्शनीय, ऊँचे पूरे एवं सुस्पष्ट अंग्रेज़ी बोलनेवाले हैं। तुम देखते ही पहचान जाओगे।" मैं अपने मित्र सुकांत (जो अभी लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्यापक है) के साथ सुबह-सुबह एक टैक्सी लेकर प्रो. दुबे साहब के घर पहुँचा। निर्धारित समय से कुछ ही क्षणों का विलंब हुआ था। हम दोनों थोड़ा परेशान से थे कि कहीं डाँट न सुननी पड़े। D-504, पूर्वाशा की घंटी बजायी, दरवाजा खुला। प्रो. दुबे स्टील ग्रे रंग का सूट पहने हुए, होंठों में पाइप और मुँह में हँसी लिए खड़े थे। हमारे अभिवादन का उत्तर देते हुए बोले, "अंदर आइए।" घनी स्पष्ट आवाज और सौम्य व्यक्तित्व, मानों हम पर जादू-सा कर गया, लगा, जैसे कि हम खुद-ब-खुद अंदर खिंचे से चले गये। विलंब की माफी माँगने पर वे बोले, "इतनी दूर से आप लोग बस से आ रहे हैं तो समय के पहले या थोड़ी देर बाद पहुँचना स्वाभाविक ही है, और अभी हमारे पास काफी समय है विश्वविद्यालय पहुँचने के लिए। आप लोग तो हॉस्टल से आ रहे होंगे, इतनी सुबह नाश्ता वगैरह भी किया है या नहीं?" प्रो. दुबे की बात में थी एक आश्चर्यजनक स्थिरता एवं स्नेह। उनकी बात से हम सारी परेशानियाँ भूल गये। मैं सोचता रहा—इतने बड़े आदमी और इतनी आसानी से बिना कहे हमारी मनःस्थिति को भाँप गये। मैंने अपनी ज़िंदगी में ऐसे बहुत कम लोग देखे हैं जो दूसरों की परिस्थिति में अपने-आपको रखकर उनके परिप्रेक्ष्य में उपस्थित समस्या को न सिर्फ समझ पाते हैं, बल्कि उसको अनुभव भी करते हैं।

टैक्सी में सुकांत ने दुबे जी से पूछा, "सर, समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवविज्ञान में क्या अंतर है?" उन्होंने कहा, "ज्ञान एक समझ को कहते हैं; यह तो मानव की दुर्बलता और असामर्थ्य ने संपूर्ण ज्ञान को विभिन्न विषयों में बाँट रखा है, और उसका नतीजा है, सामाजिक

मानवविज्ञान और समाजशास्त्र में अप्राकृतिक बँटवारा।" उनकी संक्षिप्त और दार्शनिक टिप्पणी का इतना प्रभाव मुझ पर पड़ा कि मैंने अपने शोध-कार्य में इस तत्त्व को हमेशा महत्त्व दिया।

टैक्सी दिल्ली विश्वविद्यालय के मानवविज्ञान विभाग के सामने रुकी, पूरी फैकल्टी द्वार पर उपस्थित, दुबे जी के सादर स्वागत् का सुयोग पाने के लिए। फिर शुरू हुआ मुख्य अभिभाषण। विचारोत्तेजक एवं हृदय-स्पर्शी। एक घंटे तक पूरे हॉल में नीरवता। प्रो. दुबे ने कहा, "मैं यह निमंत्रण अस्वीकार कर ही नहीं सकता था। मेरे लिए मानवविज्ञान माँ की तरह है। फ्रॉयड के अनुसार जीवन के संध्याकाल में मनुष्य अपनी माँ की कोख की सुरक्षा पाना चाहता है। अतः यहाँ आकर मैंने अपनी इसी आकांक्षा की पूर्ति की है।" उन्होंने फ्रॉइडियन विचारों का उपयोग इतनी कुशलता व सुंदरता से किया कि मुझे वह दृश्य एवं प्रत्येक वाक्य आज भी स्पष्ट याद है। वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में मानवविज्ञान की सामयिकता और भविष्य की चुनौतियों के लिए युवा पीढ़ी की प्रस्तुतता उनके भाषण का मुख्य विषय था। युवा मानव वैज्ञानिकों को यथा-उपयोगी सहयोग, प्रोत्साहन तथा प्रेरणा की आवश्यकता एवं उनकी मानसिक तथा बौद्धिक स्वाधीनता और विकास पर जोर देते हुए दुबे जी ने कहा कि मानवविज्ञान का भविष्य उनकी (युवा पीढ़ी) सामूहिक सफलता पर निर्भर है। मानवविज्ञान की विभिन्न शाखाओं में बढ़ती हुई दूरी को दुर्भाग्यपूर्ण बताते हुए उन्होंने वरिष्ठ प्रोफ़ेसरों को इस समस्या का हल ढूँढ़ने के लिए प्रेरित किया। उनके भाषण से पूरा सभा-कक्ष संप्राणित हो उठा; इतनी जल्दी समय बीत गया, आभास ही नहीं हुआ।

मेरी ज़िंदगी में पुनः ऐसे बहुत अवसर आये—उनके अभिभाषण और विचार सुनने के। प्रो. दुबे मेरे कभी भी प्रत्यक्ष रूप से शिक्षक नहीं रहे, लेकिन मैंने उनसे हमेशा बहुत कुछ सीखा और समझा। संक्षिप्त एवं उपयुक्त शब्दावली के माध्यम से चिंतन की अभिव्यक्ति, विश्लेषण के चरम शिखर पर पहुँचते हुए भी मौलिक वास्तविकता से दृष्टि न फेरना, सुननेवालों एवं पढ़नेवालों का दृष्टिकोण समझते हुए अपनी विचारधारा प्रस्तुत करना, गुरुत्वपूर्ण दार्शनिक तथ्य और हास्यरस का अपूर्व समन्वय, नयी चिंतनधाराओं के लिए मानसिक उन्मुक्तता एवं जनजातियों और पिछड़े वर्गों की समस्याओं का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन तथा उसकी निर्भीक अभिव्यक्ति, प्रो. दुबे की इन सारी विशेषताओं ने मेरे व्यक्तित्व पर एक अमिट प्रभाव डाला। वे मेरे लिए हमेशा एक प्रेरणास्रोत बने रहे। जब भी मैं उनसे मिला, कुछ-न-कुछ सीखा—चाहे व्यावहारिक ज्ञान की बात हो या बौद्धिक। वे वास्तव में महान् शिक्षक थे, उनकी शिक्षा कक्षा की चहारदीवारी को लाँघकर कहीं बहुत दूर तक गयी थी।

मेरी ज़िंदगी में प्रो. दुबे का योगदान केवल एक शिक्षक की भूमिका तक सीमित नहीं था। हम दोनों के बीच में एक व्यक्तिगत स्नेह और संपर्क का सूत्र हमेशा बना रहा। शुरुआत की मुलाक़ातों से ही उन्होंने मुझे एक पुत्र की भाँति देखा और मैंने हमेशा उनके व्यक्तित्व में अपने स्वर्गवासी पिता का प्रतिबिम्ब पाया। यह बात हम दोनों के बीच एक अव्यक्त सच्चाई बनकर रह गयी। मयूर विहार का D-504, पूर्वाशा मेरे लिए द्वितीय गृह व परिवार जैसा था। किसी भी दिन या किसी भी वक़्त वहाँ पर जाने में मन में कभी भी कोई दुविधा नहीं होती थी। प्रो. लीला दुबे का मातृतुल्य ममता एवं स्नेह मिश्रित उपदेश तथा प्रेरणा मेरे कई संकटों में संबल बनी रही है। उन्होंने हमारी कितनी शामों को स्वादिष्ट पालक पकौड़ों और कॉफी से मज़ेदार बनाया।

नीलिका और मैंने जब विवाह का निश्चय किया और उन्हें बताया, तब उन्होंने नीलिका से कहा कि अब तुम्हें उड़िया सीखकर मुझे सिखाना पड़ेगा। अपने बेटों (इशारा मेरी तरफ था) को तो मैं बोलते-बोलते थक गया, इन्होंने कभी नहीं सिखाया। कुछ ही क्षणों की मुलाकातों में ही उन्होंने नीलिका को अपनी बहू का दर्जा दे दिया और आनेवाले जीवन की सफलता के लिए व्यावहारिक सामाजिकविज्ञान के दृष्टिकोण से मज़ेदार सुझाव दिये। उनमें किसी को भी अपना बना लेने की अभूतपूर्व क्षमता थी। उनकी आत्मीयता और खुला व्यक्तित्व हम दोनों के लिए प्रेरक रहा है। हमारी हर सफलता की खुशी को उनके उत्साह और आशीर्वाद ने हमेशा द्विगुणित किया, और अवसाद के क्षणों में वह अपने स्नेह और आशापूर्ण विचारों से हमें सदैव प्रेरित करते रहे।

प्रो. दुबे हमेशा मुझे अपनी मातृभाषा में लिखने के लिए कहते थे। अच्छा मानवविज्ञान क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध होना चाहिए—यह उनकी अभिलाषा थी; पर साथ ही यह कहना नहीं चूकते थे कि अंग्रेज़ी भाषा को पूरी तरह से छोड़ना नहीं है, क्योंकि इससे ज्ञान-प्राप्ति में कमी आयेगी।

24 जनवरी, 1996 की शाम मैं और नीलिका उनसे मिलने गये। वे कुछ ही दिन पूर्व अस्पताल से घर आये थे और डॉक्टरों ने उन्हें आराम करने के लिए कहा था, खासतौर से चिंतनशील पठन और बौद्धिक कार्यों से दूर रहने की हिदायत दी थी। लेकिन वे इन सबसे सहमत नहीं थे। मुझे देखकर उन्होंने कहा, "मुझे तुम्हारा काम याद है, तुम्हारी किताब की भूमिका मैं कुछ ही दिनों में लिख लूँगा। मेरी स्टेनो कुछ दिनों के लिए छुट्टी पर है।" मैंने कहा, "सर, आप कुछ दिन पूरा आराम कीजिए, लिखने-पढ़ने का काम तो होता रहेगा।" उन्होंने स्मितहास्य के साथ प्रश्न किया, "क्या यह संभव है?" पूरे समय वे हल्के अंदाज़ में अस्पताल में हुई घटनाओं और केरलपुत्रियों (परिचारिकाओं) को लेकर दिलचस्प बातें करते रहे। साथ ही उनकी सेवा की प्रशंसा स्पष्ट थी। उस दिन उनसे विदा लेते हुए हमें तनिक भी पूर्वाभास नहीं हुआ कि वह हमारी उनसे आख़िरी मुलाकात होगी।

उनके महाप्रस्थान का दुःखद समाचार मुझे एक दिन बाद मिला। लगा, जैसे पैरों तले की जमीन खिसक गयी। होश ही नहीं रहा। शीघ्र ही उनके अंतिम संस्कार के लिए विद्युत शव-दाह गृह पहुँचे। समाज के बुद्धिजीवी और गणमान्य व्यक्तियों का शोकग्रस्त जन समुद्र। फिर भी एक विराट् शून्य ने पूरे वातावरण को घेर रखा था। नश्वर शरीर पंचभूत में विलीन हो गया। मैं दूसरी बार अपने पिता को खो बैठा। अंतिम दर्शन के उपरांत सारे एकत्रित व्यक्ति अपने-अपने गंतव्य को जा रहे थे। मैं और नीलिका पैदल वापस आ रहे थे। एक सफेद अम्बेसडर कार हमारे पास रुकी। अंदर से एक मृदु आवाज गूँजी—"पटनायक तुम लोग कैसे जाओगे?" गाड़ी में प्रो. लीला दुबे बैठी थीं।

ज़िंदगी के इतने कठिन और गंभीर क्षणों में भी उनको हमारे घर पहुँचने की समस्या का विचार आया। उन्हें देखकर मेरी आँखें फिर से अश्रुविगलित हो उठीं। खड़ा-खड़ा मैं सोचता रहा कि इस जीवन-यात्रा में पथ-प्रदर्शक के बिना हम लोग वाकई कैसे चलेंगे···

अभी उनकी बहुत ज़रूरत थी

□ *प्रोफ़ेसर सच्चिदानन्द*

4 फरवरी की रात। तकरीबन दस बजे। फोन की घंटी बजी····"मैं निशीथ बोल रहा हूँ पापा। अपने टाइम्स ऑफ इण्डिया के दफ़्तर से बोल रहा हूँ। पापा, अभी-अभी ख़बर मिली है कि दुबे चाचा नहीं रहे।" यह सुनते ही मुझे काठ मार गया। सहज विश्वास नहीं हुआ। मन किसी भी तरह यह सुनने को तैयार नहीं था। मैं सोचने लगा, काश···यह अफवाह निकले। काश! कोई एक और फ़ोन आ जाय और कह दे कि लीजिए बात कीजिए दुबे जी से। लीजिए···लेकिन···

कौंध गयीं स्मृतियाँ····तैंतालीस वर्षों के प्रगाढ़ सम्बन्धों की। कड़ी टूट गयी अचानक। एक गहरे अवसाद में डूब गया मन। पहली मुलाक़ात का आ गया ख़याल···वह 1952 का सितम्बर का महीना था। मैं लन्दन के 'सैण्ट पैंक्रस' रेलवे स्टेशन पर उस ट्रेन की प्रतीक्षा में खड़ा था जिससे आनेवाले थे डॉ. दुबे। उन दिनों मैं लन्दन विश्वविद्यालय स्कूल ऑफ ओरियण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज़ के सांस्कृतिक मानवशास्त्र विभाग में शोध-छात्र था। डॉ. दुबे हमारे उसी विभाग में एक सत्र के लिए बतौर विज़िटिंग लेक्चरर आ रहे थे। मैं चला तो गया था रिसीव करने, मगर उनकी कद-काठी से वाकिफ़ नहीं था। सिर्फ हुलिया का एक अंदाज़ था, जिसे हमारे विभागाध्यक्ष प्रो. हैमैनडौर्फ ने बताया था मुझे।

प्रतीक्षित ट्रेन आयी, और अपने अंदाज़ से जिस व्यक्ति से मैंने पूछा कि कहीं आप डॉ. दुबे तो नहीं हैं? उन्होंने मुस्कराकर कहा—हाँ, मैं दुबे ही हूँ। बस, यहीं से शुरू हुआ हमारा सफर।

प्रो. दुबे उस समय 'उस्मानिया विश्वविद्यालय' हैदराबाद में समाजशास्त्र विभाग में रीडर थे। उन्होंने नागपुर से पी-एच. डी. की थी। छत्तीसगढ़ की 'कमार' जनजाति पर शोध किया था। वैसे उन्होंने एम. ए. राजनीति शास्त्र में किया था। उस्मानिया आने से पहले उन्होंने कुछ समय तक लखनऊ विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र पढ़ाया था। हैदराबाद आकर उन्होंने 'शाम्मीरपेट' गाँव का गहन अध्ययन किया था। इसी शोध पर उनकी 'इण्डियन विलेज' नामक पुस्तक आधारित है। भारतीय गाँवों का जितना सजीव चित्रण, जितने अनछुये दृश्यों के परदों को हटाते हुए सत्य को उजागर करने की कोशिश प्रो. दुबे ने उपरोक्त कृति में की है, वैसा पचास के दशक के दूसरे किसी मानवशास्त्री ने नहीं की। सनद रहे कि पचास का दशक भारतीय मानवशास्त्र के विकास-काल में गाँवों का अध्ययन करने के लिए प्रख्यात् है।

पहली ही मुलाक़ात में मैं उनके सौम्य व्यक्तित्व और मधुर व्यवहार से अत्यन्त प्रभावित हुआ। उन दिनों मैं अपनी पत्नी और नवजात पुत्र के साथ स्विस कॉटेज़ के निकट बेलासाइज लेन में रहता था। मेरा शोध-कार्य अंतिम चरणों में था। इस बीच प्रोफ़ेसर दुबे से संपर्क कम

रहा। 1952 के अन्त में मैं भारत लौट आया और आने के कुछ ही समय बाद राँची में स्नातकोत्तर स्तर पर मानवशास्त्र विभाग खोलने का भार मुझे सौंपा गया। मैं उसमें लग गया।

1954 की जनवरी में भारतीय विज्ञान कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में आयोजित हुआ। इसमें सम्मिलित होने के लिए हैदराबाद गया और प्रो. दुबे के यहाँ उनसे मुलाक़ात हुई। वहीं पता चला कि भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्रों में प्रशासनिक व्यवस्था के लिए भारतीय सीमा प्रशासकीय सेवा का गठन होने जा रहा है। यह आदिवासी बहुल क्षेत्र है और इसके लिए मानवशास्त्रियों की आवश्यकता थी। प्रोफ़ेसर दुबे को इसमें योगदान के लिए आमंत्रित किया गया था पर उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। भारतीय मानवशास्त्र के लिए यह निर्णय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। यदि ऐसा नहीं होता तो हम प्रोफ़ेसर दुबे की अमूल्य देन से वंचित रह जाते।

कुछ समय बाद दुबे को कोर्नेल विश्वविद्यालय से विज़िटिंग प्रोफ़ेसर का बुलावा आया। वहाँ जाने से पहले एक वर्ष तक वे कोर्नेल इंडिया प्रोजेक्ट से सम्बद्ध रहे। प्रोजेक्ट का काम उत्तर प्रदेश के सहारनपुर ज़िले में चल रहा था। दुबे के नेतृत्व में सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत गाँवों में कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में प्रचारित नवाचारों पर शोध-कार्य चल रहा था। कई नवाचारों को ग्रामीण जनता सहर्ष अपना नहीं रही थी। दुबे ने अपने शोध से बतलाया कि नवाचारों को अपनाने की प्रक्रिया में कई मानवीय और सांस्कृतिक अवरोधक आने की सम्भावना रहती है, अतएव कोई भी नयी योजना शुरू करने से पहले इन अवरोधक तत्त्वों की जानकारी होनी चाहिए और उनके निराकरण के उपाय भी सोचने चाहिए। इन्हीं विचारों पर आधारित दुबे की नयी पुस्तक 'इंडियाज़ चेंजिंग विलेजेस' 1958 में प्रकाशित हुई।

इस बीच राँची में मानवशास्त्र विभाग में दुबे कई बार परीक्षा लेने आये और मेरे यहाँ ठहरे। नवगठित विभाग के लिए यह सम्पर्क एक संबल था। 1957 के मध्य में दुबे सागर विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र (और समाजशास्त्र) विभाग के अध्यक्ष बने। लगभग इसी समय मैंने राँची कॉलेज छोड़कर 'सामुदायिक विकास मंत्रालय' के अन्तर्गत राँची में चल रहे सामाजिक शिक्षा आयोजक प्रशिक्षण केन्द्र के निदेशक का पद ग्रहण किया। कई वर्षों तक सागर आने-जाने का सिलसिला बना रहा। विश्वविद्यालय में चयन-समिति के सदस्य के रूप में या बाह्य परीक्षक के रूप में मैं वहाँ जाता था। सागर विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्राध्यापकों के साथ मुलाक़ात या चर्चाओं का अवसर मिलता रहा। मैं बराबर प्रोफ़ेसर दुबे के घर ठहरता था। इससे हम दोनों की मित्रता प्रगाढ़ हुई।

1961 में प्रोफ़ेसर दुबे सामुदायिक विकास मंत्रालय द्वारा संचालित सामुदायिक विकास केन्द्रीय संस्थान, मसूरी में शोध-निदेशक के रूप में पदस्थापित हुए और कुछ समय बाद वे इस संस्था के प्रिंसिपल भी बन गये। कुछ ही वर्षों में यह संस्थान सामुदायिक विकास के विभिन्न पहलुओं में शोध का एक उत्कृष्ट केन्द्र बन गया। इसमें समय-समय पर कई अखिल भारतीय गोष्ठियाँ आयोजित हुईं जिनमें देश-भर के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों ने भाग लिया। सामुदायिक विकास से सम्बन्धित कई शोध-पत्र भी प्रकाशित किए गये। प्रोफ़ेसर दुबे के व्यक्तित्व के कारण ही प्रशासक और नियोजक शोध की महत्ता को समझ सके और इस तरह सामुदायिक

विकास की गुणवत्ता बढ़ी। कालान्तर में जब यह संस्थान मसूरी से उठकर हैदराबाद चला गया तब प्रोफ़ेसर दुबे फिर सागर विश्वविद्यालय लौट गये।

इस बीच मैंने भी सामुदायिक विकास के अन्तर्गत चल रहे काम को छोड़कर राँची में ही स्थित बिहार जनजातीय शोध-संस्थान के निदेशक के पद का भार सँभाला, जहाँ मैं तीन साल तक रहा। 1961 ई. में डी. लिट. उपाधि के लिए प्रोफ़ेसर दुबे मेरे परीक्षक के रूप में थे और पटना में मौखिक परीक्षा के लिए पधारे। उसी समय बिहार जनजातीय शोध-संस्थान में निदेशक के पद के लिए अन्तर्वीक्षा में वे बाह्य विशेषज्ञ के रूप में भी बुलाये गये।

सागर विश्वविद्यालय में आना-जाना तो बराबर बना ही रहा। मुझे याद है एक घटना जबकि अपने शोध विद्यार्थी श्री विनय कुमार राय की मौखिक परीक्षा के लिए मुझे सागर जाना पड़ा। जब राय के साथ मैं सागर पहुँचा तो पता चला कि डॉ. दुबे गोरखपुर गये थे। उन्हें मेरा पत्र नहीं मिल सका था। प्रोफ़ेसर दुबे की पत्नी लीला जी ने राय दी कि हम लोग उन्हें लखनऊ में मिलें। गोरखपुर से आकर वे लखनऊ रुकनेवाले थे। अतएव हम लोग झाँसी होते हुए लखनऊ पहुँचे और तब कहीं लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रांगण में मौखिक-परीक्षा सम्पन्न हुई।

1966 में मैं राँची से हटकर पटना में अनुग्रह नारायण सिन्हा समाज-अध्ययन संस्थान में समाजशास्त्र के प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त हुआ। ज्ञातव्य है कि इसके लिए बनी चयन-समिति में प्रोफ़ेसर दुबे एक सदस्य थे। पटना विश्वविद्यालय में उस समय समाजशास्त्र के तत्कालीन विभागाध्यक्ष प्रोफ़ेसर नर्मदेश्वर प्रसाद के साथ प्रोफ़ेसर दुबे के मधुर सम्बन्ध थे और वे उन्हें शोध-प्रबंध में बाह्य परीक्षक के रूप में पटना बुलाते थे। उस समय दुबे अक्सर हमारे यहाँ ठहरते थे। 1971 में जब मैं अनुग्रह नारायण संस्थान का निदेशक बना तो भारतीय समाजविज्ञान शोध-परिषद् के लिए शोध विधान का कोर्स कराता था। इस कोर्स में पूर्वी और मध्य भारत के विश्वविद्यालयों से समाजविज्ञान के शिक्षक और शोध-छात्र आते थे। एक-दो बार मैंने इस कोर्स के समापन के लिए प्रोफ़ेसर दुबे को आमंत्रित किया था। पटना में हमारे घर में उन्हें सहज घरेलू वातावरण मिलता था। एक दिन घर में चाभियों का गुच्छा ढूँढ़ा जा रहा था। यह देखकर उन्होंने ठहाका लगाकर कहा कि आज बहुत दिनों के बाद यह दृश्य देखने को मिला, जो घर-घर की कहानी है।

1972 में प्रोफ़ेसर दुबे शिमला स्थित 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडीज़' के निदेशक नियुक्त हुए। इसी संस्थान में तीन साल पहले भारतीय मानवशास्त्रियों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ था जिसमें सारे भारत के परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक राज्य में जनजातियों की तत्कालीन स्थिति का विशद विश्लेषण हुआ। इस सम्मेलन का उद्घाटन प्रोफ़ेसर दुबे ने किया था। उनका उद्घाटन-भाषण संक्षिप्त होते हुए भी अत्यंत सारगर्भित था और बहुचर्चित हुआ। यह सम्मेलन दो सप्ताह तक चलता रहा। राष्ट्रीय एकीकरण पर बहस के बाद सभी विद्वानों ने मिलकर एक वक्तव्य तैयार किया जोकि भारत में जनजातीय नीति का पथ-प्रदर्शक बना।

शिमला संस्थान के निदेशक के रूप में प्रोफ़ेसर दुबे को अपनी प्रतिभा और संगठनात्मक कौशल प्रदर्शित करने का सुनहरा मौक़ा मिला। अपने पाँच वर्षों के कार्यकाल में उन्होंने अनेक गोष्ठियाँ बुलायीं जिनमें विभिन्न विषयों पर तथा अनेक क्षेत्रों के विद्वानों द्वारा

पर्चे पढ़े गये और तर्क-वितर्क हुआ। आगे चलकर इन पढ़े गये पर्चों पर कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिससे भारतीय परिवेश में सामाजिकविज्ञानों की सार्थकता सिद्ध हुई। एक गोष्ठी राजकीय सेवाओं और सामाजिक उत्तरदायित्व पर केन्द्रित थी। इसमें स्वाधीनता के बाद राजकीय सेवाओं के समक्ष विकास एवं अनेक नयी चुनौतियों की चर्चा की गयी थी। भारतीय प्रशासन तंत्र से जुड़े नौकरशाहों की भूमिका, विशेष तौर से सामाजिक परिवर्तन, विकास और प्रतिबद्धता के परिप्रेक्ष्य में, विवेचन किया गया। एक दूसरा विषय, जिसके साथ मैं दो वर्षों तक जुड़ा रहा, वह मतांतर प्रतिवाद और सुधार पर केन्द्रित था। इस विषय की व्याख्या ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में की गयी थी। इसमें तीस से अधिक विद्वानों ने हिस्सा लिया। गोष्ठी आयोजित करने के लिए सितम्बर 1974 में शिमला में एक सम्मेलन बुलाया गया, जिससे ठीक एक साल बाद उस विषय पर गोष्ठी आयोजित की गयी। उस समय देश के कुछ भागों में मतान्तर जोर पकड़ रहा था, अतएव उस पर गहन चिन्तन करना आवश्यक हो गया था। गोष्ठी में इन तीन स्थितियों को सामाजिक प्रक्रिया की कड़ियों के रूप में देखने की कोशिश की गयी थी। प्राचीन, मध्यकालीन एवं वर्तमान कालों में इस प्रक्रिया के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला गया। इसी परिप्रेक्ष्य में बौद्ध धर्म, जैन धर्म और सिक्ख धर्म के आविर्भाव का भारतीय संस्कृति में मतान्तर धर्म के रूप में विश्लेषण किया गया। कबीर का आन्दोलन, वीर शैव मत, आर्यसमाज एवं 19वीं शताब्दी के दूसरे समाज-सुधार आन्दोलन, वर्तमान काल में विभिन्न कृषक आन्दोलन, गांधी विचारधारा में मतान्तर, आदिवासी क्षेत्र में आन्दोलन तथा सृजनात्मक लेखकों की रचनाओं में प्रतिवाद की आवाज़, इन सभी विषयों पर लेख प्रस्तुत किए गये और लगातार आठ दिनों तक उन पर बहस होती रही। इस बहस में 45 इतिहासज्ञ, दर्शनशास्त्री, साहित्यकार, समाजशास्त्री और मानवशास्त्रियों ने भाग लिया। ये शोध-पत्र दो जिल्दों में प्रकाशित किए गये।

पाँच वर्षों की अवधि समाप्त होने पर प्रोफ़ेसर दुबे शिमला छोड़कर 1977 में इलाहाबाद में नवगठित गोविन्द बल्लभ पंत संस्थान के निदेशक नियुक्त हुए। पर कुछ ही महीनों बाद वे शेख अब्दुल्ला के निमंत्रण पर जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति बन गये। उसके बाद वे दिल्ली आ गये और भारतीय सामाजिक विज्ञान परिषद् के नेशनल फैलो के रूप में प्रतिष्ठित हुए। बीच में यू. एन. के तहत कार्य करनेवाली कुआलालुंपूर की संस्था में परामर्श दाता के पद पर रहे। 1983 के मध्य में उन्हें मध्यप्रदेश सरकार का निमंत्रण मिला कि वे उच्च शिक्षा आयोग के अध्यक्ष के रूप में काम करें। इस पद पर वे पाँच वर्ष रहे। अपने कार्यकाल में मध्यप्रदेश के विश्वविद्यालयों में शैक्षिक स्तर उठाने की बराबर कोशिश की। उस काल में मैं जब भी भोपाल जाता तो उनके दर्शन का लाभ उठाता।

मध्यप्रदेश में अपनी जिम्मेदारियों से निवृत्त होने पर प्रोफ़ेसर दुबे दिल्ली चले आये और मयूर विहार में अपने फ्लैट में रहने लगे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं रहता था, फिर भी वे जगह-जगह गोष्ठियों में शामिल होते थे। 1992 के नवम्बर में एक गोष्ठी में शिलांग में मेरी उनसें भेंट हुई। बहुत बातों पर चर्चा हुई। मेरी प्रबल इच्छा थी कि बिहार समाजशास्त्र परिषद् जिसका मैं स्थायी अध्यक्ष हूँ, वे वार्षिक अधिवेशन का उद्घाटन करें। चाहते हुए भी प्रोफ़ेसर दुबे उसमें नहीं आ सके। डॉक्टरों ने उनकी यात्रा पर पाबंदी लगा दी

थी। जब मैं उठने लगा तो सदा की भाँति उन्होंने फिर बिठा लिया और अपनी नयी पुस्तक में एक लेख लिखने का आमंत्रण दिया।

1994 के दिसम्बर माह में बिहार में एक पुस्तक मेले का आयोजन हुआ। उस समय आयोजकों के बहुत कहने पर प्रोफ़ेसर दुबे पटना आये। परम्पराओं पर उनकी पुस्तक कुछ ही समय पहले प्रकाशित हुई थी। उस पर उन्हें मूर्तिदेवी पुरस्कार मिला था। मुझे उनकी तरफ से पटना आने की कोई सूचना नहीं थी। कभी-कभी गोष्ठियों के आयोजक विशिष्ट व्यक्तियों के नाम श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिए जोड़ देते हैं। मेरी समझ में यह घटना हमारी पूर्वधारणा का एक उदाहरण थी। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जबकि अपना भाषण समाप्त कर उस जाड़े की रात में वे मेरे निवास पर मिलने आये। मैंने उनके भाषण में अनुपस्थित होने के लिए माफी माँगी। कुछ देर तक पारिवारिक बातों की चर्चा होती रही। उन्हें मेरी पत्नी के स्वास्थ्य की चिन्ता थी। 1993, नवम्बर में जब हम दिल्ली में थे तो उनके फ्लैट के करीब जाकर भी हम दोनों उनसे नहीं मिल सके थे।

हमारी आखिरी मुलाकात दिल्ली में 16 जून, 1995 को शास्त्री भवन में हुई थी। भारतीय मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण के स्वर्णजयन्ती समारोह के लिए एक समिति का गठन हुआ था जिसमें मेरे और दुबे के अतिरिक्त पाँच और सदस्य थे। संस्कृति विभाग के सचिव डॉक्टर सीताकान्त महापात्र इस समिति के पदेन अध्यक्ष थे, पर कार्यवाही आरम्भ होने पर उन्होंने प्रोफ़ेसर दुबे को समिति का अध्यक्ष मनोनीत किया। सभी सदस्यों ने इसका स्वागत किया और स्वर्णजयन्ती समारोह के दौरान मुख्य आयोजनों पर विचार-विमर्श हुआ। कोई नहीं जानता था कि समारोह में समिति के दो सदस्य सम्मिलित नहीं हो सकेंगे। जब 1 फरवरी, 1996 में समारोह का उद्घाटन कलकत्ता में हुआ तो अपनी अस्वस्थता के कारण दुबे इसमें सम्मिलित नहीं हो सके और डॉ. सचिन राय परलोक सिधार गये थे। समारोह में सभी लोगों ने दुबे के स्वास्थ्य लाभ की कामना की थी पर नियति को यह मंजूर नहीं था।

प्रोफ़ेसर दुबे शब्दों के धनी थे। भाषणों और लेखों में क्रमशः उनकी जिह्वा पर या कलम की नोंक पर उपयुक्त शब्द ही उभरते थे। अंग्रेज़ी और हिन्दी—दोनों ही भाषाओं में वे समान अधिकार से बोलते और लिखते थे। उनकी इच्छा थी कि हिन्दीभाषी समाज वैज्ञानिक हिन्दी में भी लिखे, जिससे हिन्दीभाषी विद्यार्थी समाजशास्त्र की अवधारणाओं और नयी कृतियों से परिचित हो सकें। इसी उद्देश्य से उन्होंने राजकमल प्रकाशन के तहत भारतीय समाज परिचय माला का सम्पादक होना स्वीकार किया था। 1962 में मेरी एक पुस्तक 'भारत में सामुदायिक विकास योजनाएँ' इसके अन्तर्गत प्रकाशित हुई। इसके दो संस्करण निकले। दो और पुस्तकें 'भारतीय नगर' और 'भारत के आदिवासी' क्रमशः प्रोफ़ेसर ललितप्रसाद विद्यार्थी एवं डॉक्टर योगेश अटल द्वारा लिखी गयीं और पुस्तकों की योजना अधूरी ही रह गयी।

प्रोफ़ेसर दुबे यदा-कदा धर्मयुग और हिन्दुस्तान में सामयिक विषयों पर लेख लिखते थे। हिन्दी में उनकी पहली पुस्तक 'मानव और संस्कृति' विद्यार्थियों में अत्यन्त लोकप्रिय थी। 1988 में दिल्ली आने के बाद उन्होंने ज़्यादातर हिन्दी में ही लिखना शुरू किया। अंतिम सात वर्षों में अंग्रेज़ी में तीन पुस्तकें छपीं तो हिन्दी में छः। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास के लिए लिखी पुस्तक 'इंडियन सोसाइटी' भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवादित हो रही है। हिन्दी के

लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों से उनका निकट का सम्पर्क था और उनके साथ वे साहित्यिक गोष्ठियों में तथा दूरदर्शन पर देखे जाते थे।

प्रोफ़ेसर दुबे ने जीवन-भर लीक से हटकर काम किया। वे संकुचित अर्थ में मानवशास्त्री नहीं थे। बहुत से कट्टर मानवशास्त्री उन्हें अपनी बिरादरी का सदस्य नहीं मानते थे। अपनी विद्वता और अभिव्यक्ति की क्षमता के कारण वे उच्च प्रशासकों एवं नियोजकों से बराबरी की हैसियत से विचारों का आदान-प्रदान कर सकते थे। जब पंचवर्षीय योजना का निर्माण हो रहा था तो जनजातीय उच्च योजना (ट्राइबल सबप्लान) का प्रादुर्भाव उन्हीं की अनुशंसा पर हुआ था। योजना आयोग की बहुत-सी समितियों के वे अध्यक्ष या सदस्य हुआ करते थे। शिक्षा मंत्रालय, कल्याण मंत्रालय, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, एन. सी. ई. आर. टी., आई. सी. एस. एस. आर और एन. आई. ई. पी. ए. से उनका अंतरंग सम्बन्ध था।

1960 के दशक में भारत में समाज वैज्ञानिक क्षेत्रों में परम्परा और आधुनिकीकरण बहस का एक मुद्दा था। कुछ समाजशास्त्रियों ने इन अवधारणाओं के विषय में कहा कि सामाजिक यथार्थ को देखा जाये तो भारतीय परिवेश में परम्परा और आधुनिकता—दोनों का सह अस्तित्व है। आधुनिकीकरण का एक प्रारूप दुबे ने प्रस्तुत किया। लगभग इसी समय प्रोफ़ेसर श्रीनिवास की प्रभुजाति की अवधारणा विवाद का विषय बन गयी थी। कुछ समाजशास्त्रियों का विचार था कि यह अवधारणा भारत के प्रत्येक हिस्से में सामाजिक यथार्थ को दर्शाने में असमर्थ है। दुबे ने अपने मध्यप्रदेश के चार गाँवों में हुए शोध के आधार पर यह सिद्ध किया कि प्रभुत्व जातियों का नहीं बल्कि व्यक्तियों का हो सकता है। ग्रामीण समुदायों में प्रत्येक जाति कई घटों में विभक्त होती है और उनके प्रधान अपने प्रभुत्व के लिए दूसरी जाति के प्रधानों से मिलकर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं। समय-समय पर गाँवों में शक्ति संतुलन बदलता रहता है। मैंने भी बिहार के एक ग्राम की स्थिति के आधार पर एक लेख में ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन किया था।

प्रोफ़ेसर दुबे देश-विदेश में गोष्ठियों और सम्मेलनों में निमंत्रित किये जाते थे जहाँ न केवल वे अपनी विद्वता का सिक्का जमाते थे बल्कि भारतीय समाजविज्ञान की पताका भी फहराते थे। उनका सम्पर्क राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवैज्ञानिकों से था। उनकी मित्रता विषय और क्षेत्र के दायरे में सीमित नहीं थी। अनेक अर्थशास्त्री, इतिहासकार, भूगोलशास्त्री, दार्शनिक और राजनीतिशास्त्री, वरिष्ठ साहित्यकार, समाजशास्त्री, शिक्षाविद् और मानवशास्त्री उनके मुरीद थे और हजारों-हजारों पाठकों के वे थे सबसे दुलारे, प्यारे, चहेते। अभी ही तो उनकी ज़रूरत थी। अभी ही नयी पीढ़ी जवान हुई थी···

"बड़े गौर से सुन रहा था ज़माना,
तुम्हीं सो गये दास्ताँ कहते-कहते।"

'मैं पूर्वाशा का दुर्वासा हूँ'

□ *सावित्री दूबे*

डॉ. साहब को मैंने पहली बार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी-स्मृति व्याख्यान-माला के एक समारोह में देखा था। मंच पर मान्य अतिथिगण विराज रहे थे। स्लेटी रंग का सफारी सूट पहने, मुँह में चुरुट दबाये एक विशिष्ट व्यक्ति को देखकर मैंने सोचा—लगता है, आयोजकों ने किसी आई. सी. एस. को बुला लिया है; ये सज्जन क्या बोलेंगे संस्कृति और साहित्य पर। प्रमुख वक्ता तो कोई डॉ. श्यामाचरण दुबे हैं। पंडितजी को तो धोती-कुर्ताधारी ही होना चाहिए। थोड़ी ही देर में मुझे अपनी ग़लती का पता चल गया। अफ़सरशाही का नमूना लगते व्यक्ति अन्य कोई नहीं, प्रोफ़ेसर दुबे ही थे। आचार्य द्विवेदी की बेटी इन्दुमती ओझा ने बताया—सामने बैठे चुरुटवाले व्यक्ति, प्रो. डॉ. श्यामाचरण दुबे अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त समाजशास्त्री हैं तथा आजकल भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के डायरेक्टर हैं; आज ये भाषण दे रहे हैं। दूसरी तरफ बैठे मेरे पति विद्यानंद दुबे ने कहा, "इनकी चर्चा तो मुचकुंद दुबे भी कर रहे थे। 'इंडियन विलेज' नामक पुस्तक के छपते ही इनकी गणना विश्व के श्रेष्ठ समाजशास्त्रियों में होने लगी। भारतीय ग्रामीण-समाज पर ऐसी मौलिक रचना पहले नहीं आई थी।"

एक बार फिर से मंच की ओर देखकर मैंने सोचा—अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त प्रोफ़ेसर—जिनकी अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तक प्रसिद्ध हुई है, और वेश-भूषा से जो पूरे साहब लग रहे हैं, अवश्य ही अंग्रेज़ी में ही भाषण देंगे। प्रो. दुबे ने जब बोलना शुरू किया तो मैं स्तब्ध, श्रद्धावनत और विस्मय विमूढ़ थी (आचार्य द्विवेदी की पुण्य स्मृति में ऐसा ही होना था) — वे हिन्दी में बोल रहे थे। हिन्दी ऐसी कि उस सभा में उपस्थित हिन्दी के स्वनामधन्य साहित्यकार मंत्रमुग्ध से सुन रहे थे। उन्होंने प्रारम्भ में ही कहा—

"ऋषि-ऋण कभी भी पूरी तरह चुकाया नहीं जा सकता, और मैं आचार्यजी से पायी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रेरणा और प्रोत्साहन से उऋण होने का अनुष्ठानिक प्रयास नहीं करूँगा। द्विवेदी जी जैसे विराट् पुरुष को कर्मकांडी कृतज्ञता-ज्ञापन से बचाये रखना ही अच्छा है।"

किसी के व्यक्तित्व के विषय में छूटते ही धारणा बना लेने की अपनी आदत पर मुझे बड़ी ग्लानि हुई। जो व्यक्ति ऋषि-ऋण और कर्मकांडी कृतज्ञता-ज्ञापन की चर्चा कर रहा है, वह अपने शास्त्रों का ज्ञाता और अपनी सांस्कृतिक परंपरा का आदर करनेवाला ही नहीं एक अद्‌भुत भाषा-शैली से भी सम्पन्न है—यह बात मेरी समझ में आ गयी। बाद में जब उनकी पुस्तकों को पढ़ा तब पता चला कि उनकी विद्वता कितनी बहुआयामी थी। उनके भाषण का प्रत्येक शब्द और वाक्य जैसे बिम्ब की रचना कर रहा था; संस्कृति, समाज और साहित्य के विकास से हमारा साक्षात्कार करा रहा था। विषय जटिल होने पर भी सुननेवालों में ऊब नहीं

पैदा हुई। उनकी गंभीर आवाज़ में उपयुक्त आरोह-अवरोह और विराम था, और साथ ही थी शब्द-संरचना के अनुरूप भावभंगिमा। विषय-वस्तु का निरूपण तो बहुत लोग कर लेते हैं, परंतु प्रस्तुत कर पाने की क्षमता के अभाव में भाषण सपाट हो जाता है। डॉ. साहब एक समर्थ लेखक तो थे ही, एक सफल वक्ता भी थे।

उस दिन डॉ. दुबे से परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं मिला। एक लम्बे अन्तराल के बाद मेरा परिचय डॉ. साहब से हुआ। 1987 के अंत में पूर्वाशा स्थित अपने फ्लैट में लकड़ी का काम करवाने आयी। उस समय वहाँ मेरी छोटी बहन इंदिरा पांडे का बेटा मिहिर रह रहा था। मेरी बहन भी उसके पास आयी हुई थी। परिसर में रह रहे लोगों का परिचय प्राप्त कर लेने की मेरी इच्छा थी। तभी मैंने एक दिन सुना कि यहाँ एक प्रो. लीला दुबे भी रह रही हैं। उनका बेटा सौरभ, मिहिर का मित्र था। मैंने मिहिर से कहा, "मुझे डॉ. लीला दुबे से मिलवा दो न! यह जानकर खुशी हो रही है कि एक और दुबे यहाँ हैं।" फिर संकोच हुआ कि वे अत्यंत व्यस्त महिला हैं (उस समय यू. एन. यू. के लिए एक पुस्तक तथा लक्षद्वीप पर एक पुस्तक लिख रही थीं।) उनके यहाँ धावा बोलना उचित नहीं होगा। फिर भी हम लोग उनके घर जा पहुँचे। लीला जी की सौम्य आकृति और मधुर स्वभाव ने हमारा मन जीत लिया। वे दिल्ली में सौरभ के साथ रह रही थीं। उन्होंने बताया—उनके पति प्रो. श्यामाचरण दुबे भोपाल स्थित उच्च शिक्षा अनुदान आयोग के अध्यक्ष हैं और आजकल भोपाल में रह रहे हैं। मैंने परिचय के सूत्र को थोड़ा और घना कर लेने के उद्देश्य से उनसे हुए प्रथम साक्षात्कार, जिसे केवल दर्शन कहना अधिक उपयुक्त होगा, की चर्चा कर दी।

फिर तो उनके यहाँ जाने का निरंतर सिलसिला शुरू हुआ। अपने भाई-बहनों में सबसे बड़ी होने के कारण एक बड़ी दीदी पाने की इच्छा मेरे मन में बनी रहती थी। एक दिन लीला जी ने बताया, "हम लोग बड़ी बहन को ताई कहते हैं।" यह शब्द मुझे इतना प्रिय लगा कि मैंने कहा, "मैं आपको लीला ताई ही कहा करूँगी।" उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। मैंने उन्हें बड़ी दीदी के पद पर स्थापित कर लिया।

उसी दिन मुझे ज्ञात हुआ कि प्रो. लीला दुबे महाराष्ट्र की हैं, मध्यप्रदेश निवासी डॉ. दुबे से उनका विवाह हुआ; पढ़ने-लिखने की समान अभिरुचि ही सहजीवन का आधार बनी। अक्तूबर 1988 में प्रोफ़ेसर दुबे किसी सेमिनार में भाग लेने दिल्ली आये तब उनसे हमारा विधिवत् परिचय हुआ। उसी वर्ष वे सेवानिवृत्त होकर पूर्वाशा में रहने आ गये। मैंने थोड़े ही दिन में जान लिया कि उनका जीवन लेखन, अध्ययन और चिंतन को समर्पित था। पूर्वाशा आने के बाद उनकी नौ पुस्तकें प्रकाशित हुईं, तीन अंग्रेज़ी की और छः हिंदी की। उनके स्वाध्याय और श्रम की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है।

डॉ. साहब के पुस्तकालय में हिंदी की सद्यः प्रकाशित पुस्तकें आती रहतीं। वे केवल पढ़ते ही नहीं रहते थे, पढ़े विषय को आत्मसात् कर लेते थे। अद्‌भुत थी उनकी स्मरणशक्ति। कथा-साहित्य तथा कविता में मेरी रुचि जान लेने पर वे अच्छी पुस्तकें मुझे पढ़ने को देते। कभी मैं उनके यहाँ नहीं पहुँच पाती तो पुस्तकें वे भिजवा भी देते। पढ़ने के बाद जब मैं पुस्तकें लौटाने जाती तो कुछ देर ठहरकर बातें करती। मैं कथा-साहित्य ही लाती थी, अतः चर्चा उपन्यास-कहानी पर ही होती। मोटे-से-मोटे उपन्यास का कथा-क्रम, मुख्य पात्र ही नहीं, वार्तालाप तक उन्हें याद

रहता और वे उपन्यास की विशद् विवेचना करते। उनका विशेष गुण यह था कि मेरा मत भी वे ध्यान से सुनते, केवल बोलने में ही वे विश्वास नहीं करते थे। संवाद स्थापित कर लेने की क्षमता थी उनमें। इस सिलसिले में मुझे सुरेन्द्र वर्मा की कृति 'मुझे चाँद चाहिए' की याद आती है। नायिका वर्षा वशिष्ठ, नायक हर्षवर्द्धन आदि के चरित्र पर रोशनी ही नहीं डाली उन्होंने, वरन् उपन्यास की प्रशंसा करते हुए कहा कि किसी-किसी वाक्य के बाद जो टिप्पणी दी है, वह बड़ा अच्छा बन पड़ा है। राजेन्द्र यादव के उपन्यासों की तो तारीफ़ करते ही, उनकी एक कहानी 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' के विषय में कहा—"यह कहानी बहुत अच्छी है, मन में घुमड़ती रहती है, प्रभावकारी है। मैं तो इस पर एक लेख लिखने जा रहा हूँ।" मन्नू भंडारी का 'महाभोज', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', कृष्णा सोबती की 'दिलोदानिश', मैत्रेयी पुष्पा का 'इदन्नमम,' चित्रा मुद्गल की लिखी पुस्तकें—सब पर बातें होतीं। सलमान रुशदी की 'सेटैनिक वर्सेस,' विक्रम सेठ की 'अ सूटेबल व्वॉय' (1500 से ऊपर पृष्ठ पढ़ना आसान नहीं था) सभी पर उनके विचार जानना मेरे लिए एक साहित्यिक अनुभव होता। यहाँ नाम गिनाना प्रयोजन नहीं है, बहुत सारे और नाम हैं, परंतु उनकी स्मरण-शक्ति की प्रशंसा ही उद्देश्य है।

डॉ. साहब गुण-दोष का सूक्ष्म निरीक्षण तो करते थे, परन्तु वे छिद्रान्वेषी नहीं थे। किसी व्यक्ति की चरित्रगत कमज़ोरी की चर्चा होती तो वे तुरंत जोड़ते—"परन्तु लिखने की क्षमता उनमें है।" डॉ. दुबे की ज्ञान-पिपासा हमेशा बनी रही, यही कारण था कि वे दूसरों की बातें ध्यान से सुनते थे। अपने सिद्धांत के विरोध में भी कोई कुछ कहता, तो उस पर नाराज़ न होकर उससे कुछ जानने की चेष्टा करते।

एक शाम हम लोग डॉ. साहब और लीला ताई के स्नेहिल आतिथ्य का आनंद उठा रहे थे। चाय आयी। मैंने ध्यान दिया—डॉ. साहब का कप अलग ढंग का था, हमारा कप सुनहरा था। इस ओर संकेत करने पर डॉ. साहब को पिछली कोई बात याद आ गयी और वे भाव-विह्वल हो गये। लीला ताई ने स्पष्ट किया—

"डॉक्टर साहब की माँ का देहांत जब ये सात-आठ साल के थे, तभी हो गया था। उन्हें छूत की बीमारी थी, अतः ये उनके पास नहीं जा पाते थे। वे कहतीं—'मैं अपने बेटे को चमकीले ग्लास में दूध पीते देखना चाहती हूँ।' इसी तरह का सुनहरी लाइनवाला ग्लास ढूँढ़ कर लाया गया था। माँ के बिस्तर से दूर—दरवाज़े के पास बैठकर वह दूध पीते थे। इसीलिए ऐसा कप देखकर इन्हें माँ की याद आ जाती है।"

लीला ताई ने बाद में कभी बताया—

"बचपन में ही माँ के स्नेह से वंचित हो जाने का दुःख डॉ. साहब को जीवन-भर सालता रहा। फिल्मों में जब भी माँ-बेटे का भावुक दृश्य आता है, तो इनकी आँखें भर आती हैं। माँ की स्मृति इनके जीवन की अनमोल धरोहर है। इनकी माँ इन्हें रामायण-महाभारत की कहानी, देश-भक्तों एवं अन्य महापुरुषों की जीवनी तथा लोककथाएँ सुनाया करती थीं। उनका इनके जीवन पर अमिट प्रभाव पड़ा। महाभारत धारावाहिक देखते समय कभी-कभी कह उठते—'माँ ने तो ऐसा नहीं बताया था।' कम उम्र में सुनी कथाओं को इतना स्पष्ट याद रख पाना असाधारण क्षमता का द्योतक है।"

एक दिन मैंने डॉ. साहब से कहा— "कृपया याद रखें, मैंने इन्हें लीला ताई बना लिया

है।" इस संबंध के नाते मैं उनसे स्पष्ट बातें कह दिया करती थी, कभी-कभी उनके धूम्रपान पर कटाक्ष भी कर देती। उनके गिरते स्वास्थ्य के कारण डॉक्टर ने मना किया था और लीला ताई परेशान रहतीं। वे जहाँ बैठते, चुरुट और तम्बाकू आदि सामग्री लिये रहते और पाइप भरने की प्रक्रिया शीघ्र ही प्रारंभ कर देते।

मैंने ध्यान दिया था—मैं घर-संसार की जो भी बातें कहती, वे बड़े ध्यान से सुनते। शादी, ब्याह, मुंडन, जनेऊ, छठी, सिनेमा, बाजार-हाट, महँगाई, दूरदर्शन पर प्रचारित भौंडे प्रोग्राम—यहाँ तक कि कौन-सी साड़ियाँ और रंग इस साल फैशन में हैं, सब-कुछ। मुझे लगने लगा था कि मैं कुछ मौलिक कह रही हूँ। एक कामवाली हम दोनों घरों के काम करती थी, नाम था लक्ष्मी—उसने बताया—'दुबे साहब मुझसे मेरी ज़िंदगी के बारे में पूछते रहते हैं। झुग्गी-झोपड़ी का जीवन कैसा है—इसकी पूरी जानकारी लेते हैं।' तब मेरी समझ में आया—मेरी बातों को ध्यान से सुनने का रहस्य। इसके पीछे था उनका समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण। दैनिक-चर्या के बीच भी उनके भीतर का समाजशास्त्री सजग रहता, सूक्ष्म निरीक्षण करता, मनन-चिंतन कर निष्कर्ष निकालता रहता।

'सुनो मायावती, सोचो मायावती' में मायावती से दो टूक बात कहने का साहस इनके जैसा विद्वान् ही जुटा सकता था।

'साहित्य की मेरी पहचान' लेख में वे एक विज्ञापन का उद्धरण देते हैं—जिसमें प्रेमप्यारी जी संतानहीन बहनों को एक बच्चा पाने का नुस्ख़ा देने का वादा करते हुए वे उन्हें यह कहकर निरस्त्र कर देती कि 'मैं न तो कोई डॉक्टर हूँ न कोई नर्स।' उसी शैली में डॉक्टर साहब ने जोड़ा—'न तो वे कोई साहित्यकार हैं न आलोचक।' साठवें दशक के उस विज्ञापन को हममें से बहुतों ने पढ़ा होगा परंतु उसे याद रखकर उसका इतना सटीक और परिहासपूर्ण उपयोग इनके जैसे मनीषी ही कर सकते थे।

डॉक्टर साहब शुरू से हिंदी में भी लिखते रहे थे। वैज्ञानिक विषय पर हिंदी में लिखने तथा बहुत से शब्दों को हिंदी में लाने का सतत् प्रयास करते थे। 1995 में इन्हें 'मूर्तिदेवी' सम्मान मिला। उस समय हम लोग दिल्ली में नहीं थे। आने पर हमने उस अवसर पर मिली सामग्री देखी। मैंने मज़ाक किया—"आप सम्मान में मिले दुशालों की प्रदर्शनी करें, इतनी इकट्ठी हो गई हैं आपके पास।"

डॉ. साहब एक स्वावलम्बी व्यक्ति थे। अपने कार्य-क्षेत्र में अपने पुरुषार्थ और प्रयास से आगे बढ़े थे, अतः अध्यवसाय उनका स्वभाव बन गया था। रात-रात भर जागकर अपने लेख और पुस्तकें लिखा करते थे। अनेक सफलताएँ, यश, उच्चपद—जीवन की उपलब्धियाँ अनेक थीं। प्रसंगवश उनकी चर्चा सहज रूप से आ भी जाती तो उसमें अभिमान की प्रतिच्छाया तक नहीं होती थी। इनका स्वाभिमान कभी विकृत अहंकार के रूप में प्रकट नहीं होता था। दूसरों की भावनाओं के प्रति संवेदनशीलता इनके स्वभाव का अंग थी। इस संदर्भ में एक घटना याद आती है—एक बार हम लोग कहीं जाने के लिए एक कार में बैठे, चालक थे एक सरदार जी। डॉ. साहब ने उनसे आज्ञा ली—"सरदार जी, क्या मैं पाइप जला लूँ?" धार्मिक आस्था के प्रति इतना आदर था उनमें।

एक और घटना—

एक शाम विद्यानंद दुबे जी से, जिन्हें वे स्वामी विद्यानंद कहा करते (उनकी आध्यात्मिक रुचि के कारण)। सायंकालीन भ्रमण के समय कहा—"कल अमुक व्यक्ति मिल गये थे। मुझसे कहा—'आपका पाँच मिनट समय लूँगा।' फिर तो उनकी बात ऐसी शुरू हुई कि द्रौपदी के चीर की तरह खत्म ही नहीं हो रही थी। दस मिनट, आधा घंटा, एक घंटा बीत गया। अंत में दवाई खाने का समय हो गया है—कहकर छुट्टी लेनी पड़ी।" ऐसी थी उनकी विनोद-प्रियता। बातचीत में हँसी-मज़ाक की धारा बहा करती परंतु हमेशा एक शालीनता होती और शब्दों का चयन अपने-आप में हास्य-व्यंग्य का परिचायक। एक बार परिसर की दुर्व्यवस्था से क्षुब्ध होकर उन्होंने कहा— "इन लोगों को पता नहीं है, मेरा गुस्सा कितना तेज है। मैं पूर्वाशा का दुर्वासा हूँ।"

जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में डॉक्टर साहब का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। फिर भी साहित्य और समाजविज्ञान के शीर्षस्थ सम्मानों और पुरस्कारों के निर्णायक मंडलों के सदस्य होने के कारण उन्हें काफी श्रम करना पड़ता। अध्ययन तो करते ही, अनेक यात्राएँ भी करते। लीला ताई इन यात्राओं को लेकर चिंतित रहतीं; अनुरोध करतीं कि आप लोगों को सहमति न दें, आपकी तबीयत अच्छी नहीं है। परन्तु वे न केवल पूर्व नियोजित कार्यक्रमों को पूरा करके ही दम लेते अपितु नये आमंत्रण भी स्वीकार कर लेते। इसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ रहा था, परंतु उन्हें देखकर पता नहीं चलता था। हमेशा ड्राइंगरूम में आकर बैठते, मुस्कराकर स्वागत करते, याद रखते कि किसे क्या पसंद है; चाय आती तो उनकी चेष्टा रहती प्याली उठाकर आगन्तुक के हाथों में ही दें।

समाज में आये नैतिक मूल्यों के ह्रास से वे चिन्तित रहा करते थे। इस दौर में हुए लेखन में इसकी अभिव्यक्ति प्रचुर मात्रा में हुई है। 'यह विष का लावा कहाँ से फूटा' (परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति) में उन्होंने लिखा—

"तीन हज़ार वर्षों की परंपराएँ तीस वर्षों में अवमूल्यित कैसे हो गईं? हिंसा के विस्फोट के साथ लिप्सा और स्वार्थ का तांडव किस तरह आरंभ हुआ?"

बातचीत में बहुधा इस तरह के प्रसंग उठा करते और उनकी लक्षणा शैली की टिप्पणियाँ सुनने को मिलतीं। यह क्रम जीवन के अंतिम दिनों तक चला।

जनवरी 1996 में उन्हें हार्टअटैक हुआ। अस्पताल में भरती रहे, एन्जियोग्राम भी हुआ। उस समय हम लोग पूर्वाशा में नहीं थे। आने पर लीला ताई ने बताया कि डॉक्टरों का कहना है कि हृदय की धमनियों में अवरोध है, अतः सर्जरी की ज़रूरत हो सकती है। स्वास्थ्य की स्थिति ऐसी नहीं है कि सर्जरी हो सके। हम लोग उन्हें देखने पहुँचे। बिस्तर में थे किंतु चिर-परिचित सहास मुद्रा में मिले।

कुछ देर औपचारिक वार्तालाप के बाद लीला ताई ने बताया कि डॉक्टरों की राय है कि कुछ दिन दवा लेकर कमज़ोरी दूर करें। उसके बाद अस्पताल जाकर पूरी जाँच करवानी होगी, तभी तय होगा कि ऑपरेशन हो पायेगा या नहीं। डॉक्टर साहब ने हँसकर जोड़ा—

"अस्पताल तो जाऊँगा, परंतु यह मेरी अंतिम यात्रा नहीं होगी। अभी तो मुझे बहुत कुछ लिखना है।"

संकेत स्पष्ट था। अपनी बीमारी की चर्चा या सहानुभूति के शब्द उन्हें नहीं भाते थे। बातचीत की दिशा उनके लेखन तथा अन्य विषयों की ओर रही।

एक सप्ताह भी नहीं बीता था कि सुबह-सुबह अत्यंत घबराई आवाज़ में लीला ताई ने फ़ोन पर कहा— "रात से ही डॉक्टर साहब की तबीयत बहुत ख़राब है। तुरंत कुछ करना होगा।"

फ़ोन विद्यानंद जी ने उठाया था। ये स्वयं अस्वस्थ थे और घर के बाहर निकलना इन्हें मना था। फरवरी का महीना, सुबह के छः बजे थे, काफी ठंड थी। इन्होंने मुझसे कहा—"तुम चली जाओ, लीला जी के साथ रहना। मैं तब तक औरों को भेजता हूँ।"

तैयार होकर ए ब्लॉक से डी ब्लॉक पहुँचने में थोड़ी देर लगी। विद्यानंद जी से फ़ोन पर सूचना पाकर हरेंद्रसिंह, उनकी पत्नी श्रीमती रिपुदमन कौर तथा डॉ. चटर्जी पहुँच चुके थे। श्रीमती सिंह डॉ. साहब की पीठ पर मसाज दे रही थीं, हरेंद्रसिंह सामने से उन्हें थामे हुए थे। डॉ. चटर्जी उनकी परीक्षा कर रहे थे। लीला ताई इधर-उधर दौड़ रही थीं, रुलाई छिपाने की चेष्टा व्यर्थ हो रही थी। मिस्टर शिवनाथ भी आकर बैठे हुए थे। लीला ताई ने बताया— "पद्मावती हार्ट इंस्टीट्यूट से ऐम्बुलेन्स आने ही वाली है।"

मैंने उनसे कहा—"आप ज़रूरी सामान पैक कर लीजिए, हम लोग डॉक्टर साहब की देखभाल कर लेंगे।"

डॉक्टर साहब को साँस लेने में बहुत कष्ट हो रहा था। उन्होंने ओठों तक क्षीण-सी मुस्कान लाने की चेष्टा अवश्य की थी परंतु वह कराह में बदल गयी। उन्होंने बहुत चेष्टा करके कहा— "रात-भर सो नहीं पाया हूँ, इसी तरह बैठा रहा। साँस लेने में बहुत कष्ट हो रहा है...."

पहली बार उनके मुँह से कष्ट की बात सुनी। मेरे लिए यह कल्पना करना कठिन नहीं था कि उन्हें कितनी तकलीफ़ हो रही होगी।

तभी किसी ने आकर सूचना दी की ऐम्बुलेंस आ गयी है। डॉक्टर साहब को ड्रेसिंग गाउन पहना दिया गया था। श्रीमती सिंह ने लीला ताई के काँपते हाथों से मोजा लेकर स्वयं उनके पैरों में पहनाया, हरेंद्रसिंह ने ह्वील चेयर पर बैठाया। सिंह दंपती की सेवाभावना देख कर मैं दंग थी। लीला ताई ने कहा—"आप लोग इन्हें ले चलें, मैं ताला बन्द करके आती हूँ।"

हम लोग ह्वील चेयर को लिफ्ट में ले आये। लिफ्ट नीचे की ओर चल पड़ी, तभी डॉक्टर साहब ने अप्रत्याशित ही मुझसे कहा—"मेरे सिर पर हाथ रख दीजिए।"

मुझे लगा —कहीं यह अंतिम विदा का संकेत तो नहीं है?

किसी तरह ऐम्बुलेंस में उन्हें बैठाया गया और ऑक्सीजन की नली लगा दी गई। कुछ लोग वहाँ और आ गये थे; उन्होंने सबको प्रणाम किया और कहा—"मैं तो मृत्युपथ का पथिक हूँ।"

"ऐसी बात क्यों कर रहे हैं? आप ठीक होकर फिर पूर्वाशा आयेंगे," मैंने कहा।

उन्होंने प्रतिवाद किया—"मैं समाजशास्त्री हूँ। यथार्थ से मुँह मोड़ना मैंने कभी नहीं सीखा।"

तब तक लीला ताई आ गईं। इन्हीं शब्दों के साथ वे अस्पताल के लिए रवाना हो गये। पूर्वाशा से उनका यह अन्तिम जाना था।

इतने सारे पेरों के बावजूद

□ *प्रभाष जोशी*

यह वह पेरेग्राफ़ नहीं हैं जो दुबे जी कुछ व्यंग्य में और कुछ दुनियादारी की रीत बताकर कह रहे थे कि उनके जाने पर मैं लिख दूँगा, क्योंकि अगर वह पेरेग्राफ़ यह होता तो रविवार की शाम को ही लिख देता और उनके निधन की ख़बर के साथ छप भी जाता।

लेकिन श्यामाचरण दुबे के न रहने की ख़बर पर कोशिश कर के चुप, शांत और संयमित रहा। चंडीगढ़ प्रेस क्लब में एक सेमिनार में था। इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का उपयोग और महत्त्व समझनेवाले हमारे चंडीगढ़ के संपादक ओम थानवी के जेब में हलकी-सी घंटी बजी। पेज़र हथेली पर निकालकर पहले उन्होंने उसे चुप किया और फिर पढ़ा, फिर उठ कर आये और मेरे सामने कर दिया। उस पर मेरे लिए सूचना थी। पढ़कर मैं वैसा-का-वैसा ही बैठा रहा।

ओम थानवी ने सदन को सूचित किया और समाज कार्य और अख़बारों में लगे हम लोगों ने खड़े होकर दो मिनट दुबे जी को मौन श्रद्धांजलि दी। फिर हम सब अपने सेमिनार में लग गए। वहाँ से कई लोग साढ़े पाँच की हिमालयन क्वीन पकड़कर दिल्ली लौट रहे थे। उनके साथ अपन भी लौट सकते थे। लौट जाना चाहिए था लेकिन समाप्ति के बाद भी लोगों से बात करता रहा और रात के भोजन पर आनेवालों का शाम का कार्यक्रम जानकर ही लिखियों के घर लौटा।

अंदर भले ही लग रहा हो कि सूतक में हूँ, बाहर किसी को लगने नहीं दिया कि दुबे जी के न रहने से अपन को क्या हुआ है। इच्छा हुई कि दफ़्तर फ़ोन करके डेस्क से पूछ लूँ कि प्रिंटर पर क्या-क्या आया है? अपनी स्टोरी है या एजेंसी की? लेकिन लगा कि इस पत्रकारीय जिज्ञासा को भी क्यों प्रकट होने दिया जाए? यह जिज्ञासा भी शायद इसलिए थी कि मन कर रहा था कि दफ़्तर जाकर अपनी श्रद्धांजलि लिख दूँ।

न डेस्क से पूछा, न दफ़्तर जाकर लिखा। सिर्फ दिल्ली घर फोन करके मालूम किया कि अंत्येष्टि कब है? वहाँ से थोड़ी देर बाद फ़ोन आया कि अभी उन्होंने यानी दुबे जी के घरवालों ने बिजली के श्मशान में टाइम निश्चित नहीं किया है। हो जायेगा तो बता देंगे। लेकिन दोपहर बाद दो बजे तक तो दाह-संस्कार हो जायेगा। यानी दोपहर की बजाय सवेरे की शताब्दी से जाना होगा। टिकट बदलवाने का इंतजाम करवाने को कहकर टी.वी. में मन लगा लिया।

पत्रकारीय और दुनियादारी के तकाजों से सिर्फ इसलिए दूर नहीं रहा कि उन पर हफ्ते भर पहले ही दुबे जी व्यंग्य कर चुके थे। ये तकाजे हमें महसूस करने, मनन करने और सोचने के लिए अकेला नहीं छोड़ते—यह तो है ही, इससे भी बुरा यह कि ये हमें अपना दुःख, अपना नुकसान, अपना मर्ज दुनिया-भर को दिखाते फिरने में लगा देते हैं।

मुझे यह कई बार फूहड़ बल्कि झूठा लगता है। कई बार लोगों को फूट-फूटकर बल्कि दहाड़ें मारकर रोते देखकर मुझे लगता है कि यह पशुवत् प्रतिक्रिया है। या दुनिया को दिखाने के लिए किया जा रहा है कि, देखो हमारा कलेजा फटा जा रहा है। हमारा अपने पर कोई काबू ही नहीं है क्योंकि हमारा दुःख ही ऐसा है। मैं नहीं जानता कि इसमें कितना सहज और कितना सीखा हुआ है।

लेकिन जो अपने दुःख को प्रदर्शन में न जाने दे और उसे तभी व्यक्त करे, जब वह अंदर से अनिवार्य हो और ऐसा करते हुए भी संयम उसका साथ न छोड़े; वही व्यक्ति मुझे सचमुच दुःखी और उसी के लिए मेरे मन में सम्मान और सहानुभूति उपजती है। टी.वी. इसीलिए मुझे संवेदनाहीन माध्यम लगता है क्योंकि वह अपने सुख-दुःख को नाटक बनाकर पेश करता है और उसकी निजता को नष्ट कर देता है।

टी.वी. के सामने बैठा दुबे जी के जाने के निजी दुःख को बरगलाता रहा। छब्बीस जनवरी को हम राष्ट्रपति भवन के ऐट होम से सीधे दुबे जी के घर पहुँचे थे। लीला जी ने बताया था कि कल से फिर तकलीफ़ है। वे बिस्तर में थे और रजाई ओढ़े हुए थे। हम मियाँ-बीवी के आने पर वे प्रयत्न करके बैठने की मुद्रा में आये और तकिए से टिके अधलेटे-अधबैठे हो गये।

देखने के लिए लीला जी से मैंने उनके मेडिकल काग़ज़ माँगे। यह शायद दुबे जी को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कहा—हाँ, जो खुद भुगत चुका हो वह कुछ तो एक्सपर्ट हो ही जाता है। उनकी बात का व्यंग्य समझते हुए भी मैंने काग़ज़ देखे। बहुत ज़्यादा नहीं थे। ज़्यादातर वार्ड की रपटें थीं। ईसीजी, ईको, एंजियोग्राफ़ी, एक्सरे आदि की रपटें नहीं थीं। दो-तीन काग़ज़ तो यही बता रहे थे कि दवाएँ क्या दी जा रही हैं।

देखकर मैंने कहा कि इनमें से आधी तो भेनजी को भी दी गई थीं। मैंने नहीं कहा कि बंबई अस्पताल में मुझे कौन-कौन-सी दवाएँ दी गयीं। लेकिन दुबे जी ने पूछा कि बाईपास सर्जरी हुई तो क्या-क्या हुआ। पर आपको तो इस सबसे गुज़रना नहीं होगा। ऑपरेशन तो आपका होगा नहीं। इंफ्राक्शन एक बार हो चुके तो फिर तो दवाओं से ही काम चलाना पड़ता है। गये साल मेक्सिको जाने से पहले सौरभ ने बताया था कि दुबे जी को दिल का हलका दौरा पड़ चुका है। अपनी जानकारी तो यही थी कि एक बार अटैक पड़ जाये तो दिल को इतना नुकसान हो जाता है कि ऑपरेशन नहीं हो सकता।

लेकिन लीला जी ने कहा कि नहीं, डॉक्टर पद्मावती ने तो कहा कि ऑपरेशन करना पड़ेगा। अभी दो-तीन सप्ताह तो दवाएँ देकर दिल ठीक करते हैं फिर ऑपरेशन करेंगे। धमनियों में इतना अवरोध है कि उसके निकाले बिना काम नहीं चलेगा। फिर कुछ देर हम ऑपरेशन करवाने, न करवाने पर बात करते रहे। कभी कहा कि अब इस उमर में और इतनी ज़्यादा डाइबिटीज़ के होते हुए ऑपरेशन करवाने का क्या मतलब? फिर कहा कि सात-आठ साल भी ज़िंदगी अगर अच्छी चल सके तो ऑपरेशन करवा लेना चाहिए। वर्थ इट।

दुबे जी की छोटी टेबल पर पंप रखा था जो अस्थमा में साँस लेने में सुविधा करने के काम आता है। सार्बिट्रेट के एक-दो पत्ते भी पड़े थे जिनमें से कुछ गोलियाँ ली गई थीं। लगातार चुरट पीने के कारण दुबे जी के फेफड़े काफी बेकार हो गये थे। लीला जी और मेरे

चुरट-विरोधी होने की उन्हें थोड़ी चिढ़ थी और जब लीला जी ने कहा कि चुरट तो इनकी छूट गयी है तो उन्होंने जोर देकर कहा कि किसी ने क्या छुड़वाई ? मैंने ही छोड़ दी है।

दिल, डाइबिटीज़, फेफड़े आदि की बहुत बातें हो गयीं तो दुबे जी ने कहा कि, ये सब छोड़ो, कुछ और बातें करो अब ! बिस्तर के कोने में दबी कुछ पत्रिकाएँ उन्होंने निकालीं। एक पत्रिका निकालकर कहा कि ऐसा क्या लिख दिया था आपने परसाई जी पर, जो ये लोग अभी तक जवाब दिए जा रहे हैं। फिर निकाल के उन्होंने भगवत रावत का छपा हुआ पत्र दिखाया। दुबे जी को मालूम था कि मैंने क्या लिखा है, बल्कि लिखने के पहले और उसके बाद उनसे मेरी बात भी हुई थी।

साफ था कि दुबे जी अपनी बीमारियों और स्वास्थ्य की स्थिति पर बात नहीं करना चाहते थे। विषय बदलने के लिए कोई भी विषय चला देना चाहते थे। बीच में लीला जी और हमारी भेनजी उठकर दूसरे कमरे में चली गयीं और हमें उनकी बातें सुनाई देती रहीं। हम दोनों इधर-उधर की बातें करते रहे। काफी देर हो गयी तो उन्होंने आवाज़ देकर लीला जी को बुलाया। फिर बात करते-करते बढ़ी ललक से कहा— लीला, ऐसा करो कि कल नहीं तो परसों बहुत से बच्चों को इकट्ठा करो। खूब मजा करेंगे। हमने कहा कि कुछ बच्चे हम भी ले आयेंगे। मुझे लगा कि हम अपने पोते को ले आयेंगे।

इसी तरह की बातें करते मैंने कहा होगा कि अभी कुछ नहीं होना है आपको। और अभी आप आठ-दस साल खूब मजे में जियेंगे और लिखेंगे। उन्होंने यह तो बताया कि कितनी मुश्किल से बी. बी. सी. पर वे गांधी और भ्रष्टाचार आदि पर बोले। लेकिन यह भी कहा कि किसी के आने-जाने से क्या होता है ? चला जाऊँगा तो क्या होगा ? कोई लिखे, न लिखे, जोशी जी एक पेरेग्राफ लिख देंगे। इसमें व्यंग्य था और दुनिया की रीत भी। लेकिन अच्छा नहीं लगा कि दुबे जी ऐसी स्थितियों पर सोचें और मानें कि उनके जाने का कोई नोटिस ही नहीं लेगा।

फिर हम जाने लगे तो उन्होंने कहा कि आते रहें। ये क्या कि साल में एक-दो बार आयें। मैं गिनाता रहा कि साल में एक-दो नहीं कई बार आया हूँ। लीला जी ने शायद हुँकारा भी भरा। वे माने नहीं और उठकर हमें बैठक तक छोड़ने आये। आगे हमने आने नहीं दिया। तीसरे दिन फ़ोन किया तो किसी ने बताया कि रात दुबे जी की तबीयत बिगड़ गयी थी तो लीला जी उन्हें फिर अस्पताल ले गयी हैं। जी हाँ, उसी नेशनल हार्ट इंस्टीट्यूट में।

तभी मेरा माथा ठनका था और दिल बैठ गया था। दुबारा ले जाना और वह भी आने के चार दिन बाद ही, अच्छा नहीं है। यों भी, छब्बीस जनवरी को जब हम उनके घर गये थे तो लीला जी ने कहा था कि रात से फिर तबीयत ख़राब है और हार्ट-बीट (धड़कनें) गड़बड़ कर रही हैं। कोई बारह-तेरह दिन वे उस अस्पताल में रहकर ही आये थे और वहाँ जाना भी उन्होंने तभी मंजूर किया था जब देखने आने-जानेवाले डॉक्टरों ने कहा था कि ले जाइये। दिल तो कमज़ोर और अटैक खाया हुआ था ही, फेफड़ों में भी पानी भर रहा था और यह सब ठीक नहीं था।

इतने दिनों जब वे अस्पताल रहे तो घूमते-फिरते रहने के चक्कर में उन्हें देखने जाना नहीं हुआ था। इस बार गया तो लीला जी रिसेप्शन के पास ही बैठी मिलीं और कहा कि ऊपर तो किसी को बैठने नहीं देते। देखनेवाले भी नहीं जा सकते। लेकिन अब तबीयत ठीक है। हमने तय किया था कि अब उन्हें यहाँ से छोड़ेंगे तो घर ले जाने के बजाय महीने-भर पंत

अस्पताल के ही किसी अच्छे से कमरे में रखेंगे। इतना तो कर ही सकते हैं अपन, फिर हार्ट थोड़ा ठीक हो जाएगा तो ऑपरेशन करवायेंगे। लीला जी ने बताया कि अब तो वे भी ऑपरेशन के लिए तैयार हो रहे हैं। कह रहे थे कि इस्टिमेट तो बनवाओ।

चूँकि लीला जी के रात-भर नीचे बैठे रहने का कोई मतलब नहीं था और डॉक्टर ने उन्हें जाने को कह दिया था इसलिए मैं उन्हें उनके घर ले आया। रास्ते में उन्होंने कहा कि इस तरह छोड़ के आने को मेरा जी नहीं करता। जानती हूँ कि वे मुझे उनके साथ रहने नही देंगे और मेरे रहने से उनके इलाज में कोई मदद भी नहीं होगी। फिर भी मैं घर रहूँ और वे आईसीयू में— इसे मेरा मन नहीं मानता। लगा तो मुझे भी अटपटा था उन्हें कहते वक़्त लेकिन ऐसी बीमारी, ऐसे इलाज और ऐसे अस्पताल में पत्नी, बेटे या भाई की जगह तो बाहर होती है।

फिर मैं घूमता रहा और चंडीगढ़ में यही सूचना मिली। अख़बार में छपा था कि अंत्येष्टि चार बजे होगी इसलिए दोपहर की शताब्दी से आकर सीधे बिजली के श्मशान पहुँचा लेकिन अंत्येष्टि तीन बजे ही हो चुकी थी और अपने लिए शामिल होने को कुछ नहीं रह गया था। दुबे जी का व्यंग्य ही सच हुआ और अपने उनसे जुड़े रहने और उन्हें अपना मानने का आभास रीता निकला।

दुबे जी बीमारियों से आजिज आ चुके थे और उनकी बातें करना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था। वे घर में खूब सारे बच्चे इकट्ठे करवाना चाहते थे ताकि उन्हें नवजीवन का, भविष्य का और खिलते हुए फूलों का स्पर्श मिले। नवजीवन और भविष्य की यह कामना उनकी पूरी नहीं हुई। मुझ सरीखे उनके प्रदेश और उनके परिवेश के लोग उन्हें चाहते और मानते हुए भी दिल्ली में उन्हें वह अपनापा और जीवंत संबंधों का कच्चा सूत नहीं दे सके जिनसे आदमी इस बियाबान में हिलगा रहता है।

श्यामाचरण दुबे इस देश के विश्व-प्रसिद्ध समाजशास्त्री थे। उनकी बौद्धिकता में हम लोग गौरव महसूस करते थे। उनकी उपलब्धियाँ हमारे गर्व की संदर्भ लाइब्रेरी थीं। वे थे, इसलिए हम लोग बौद्धिक रूप से समृद्ध थे। लेकिन वे मुझसे कहते थे कि, आप तो मालवा से जुड़े हैं और उसकी याद में ऐसे हुमकते हैं और आपका अपना नगर है जिसके आप हैं। मैं किसे अपना कहूँ ? कहाँ का होकर रहूँ ?

छत्तीसगढ़ की मिट्टी और आदिवासी समाज की समझ लेकर श्यामाचरण दुबे विश्वविख्यात् हो गये। हम उन्हें अपने होने का निरंतर और अटूट विश्वास भी नहीं दे सके। दुबे जी, हम अपने पर रोयें तो आप स्वर्ग से व्यंग्य तो नहीं करेंगे। प्लीज़।

त्वमेव गुरुश्च पिता त्वमेव

□ *योगेश अटल*

4 फरवरी, 1996 को मैं एक बार फिर अनाथ हो गया। प्रोफेसर दुबे का प्रस्थान भारतीय समाजशास्त्र के लिए बड़ी हानि तो था ही, मेरे लिये व्यक्तिगत रूप से असहनीय आघात था। छात्र के रूप में उनके संपर्क में आया, बाद में जाने कब मैं उनके पितृतुल्य स्नेह का पात्र हो गया। हम दोनों एक-दूसरे के सुख-दुःख से परिचित थे। चार दशक की लंबी अवधि में संबंधों और अंतःक्रियाओं का जो सिलसिला चला, वह उनकी अकाल मृत्यु से यकायक ही टूट गया। अपनी षष्ठिपूर्ति पर रिटायर होकर मैं भारत लौटने की योजना बना रहा था। सोचा था कि पुनः वह अवसर आयेगा जब हम लोग साथ मिल-बैठकर चर्चाएँ कर सकेंगे और हिंदी के माध्यम से समाज और समाजशास्त्र की सेवा कर सकेंगे। वह स्वप्न अधूरा ही रह गया।

शायद उन्हें आभास हो गया था अपनी इति के सामीप्य का। इसीलिए वे सब-कुछ लिख डालने की त्वरा में थे। उनके गिरते स्वास्थ्य के संकेत मिलने पर कई बार मैंने चाहा कि छुट्टी लेकर चला जाऊँ और उनकी सेवा करूँ। पर उन्होंने प्रोत्साहित नहीं किया। उसी से प्रेरित होकर मैंने कभी एक कविता लिखी थी। वही सच हुआ :

तुम रुक भी गए
तो भी ठहर नहीं पाऊँगा
और यदि समय हुआ शेष
तो तुम्हारे जाने पर भी
गुज़र नहीं पाऊँगा।

भाग्य कहूँ या दुर्भाग्य, उनकी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व ही मैं उनसे मिला था। वे अस्पताल से वापस लौटे ही थे। जब उनसे विदा ली, तो मन आशंका से ग्रस्त था। पर जैसे वे मुझे मेरी ही कविता सुना रहे हों :

रुकोगे तो
देख नहीं पाओगे जाना
चले गए तो
यही रहेगा
कि मैं बिन कहे हो गया रवाना।

और हुआ भी वही। स्वास्थ्य-सुधार के सभी आश्वासनों के बावजूद, मेरे चले जाने पर वे भी चले गए। संतोष है तो यही कि अपने पिता-तुल्य गुरु की अंत्येष्टि में सम्मिलित हो सका।

उनकी प्रथम पुण्यतिथि पर श्रद्धांजलि दूँ या उनका करूँ श्राद्ध। उनकी पहुँच की इति जगाती है मेरी स्मृति।

पर क्या-क्या लिखूँ। संबंधों की इस लंबी यात्रा के कई पड़ाव हैं। कठिन है कलमबद्ध करना। फिर भी थोड़ा-सा श्रद्धा-स्मरण।

चालीस वर्ष पूर्व, सन् 1957 की अगस्त के इन्हीं दिनों में पहली बार प्रोफ़ेसर दुबे से भेंट हुई। उसी वर्ष वे सागर विश्वविद्यालय में नृतत्व के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए थे। मैंने उदयपुर के महाराणा भोपाल कॉलेज में उसी वर्ष से प्रारंभ हुए एम. ए. समाजशास्त्र की कक्षा में प्रवेश पा लिया था। पर मेरे गुरुजी, प्रोफ़ेसर ब्रजराज चौहान ने मुझे राय दी कि मैं सागर चला जाऊँ। एक ओर उदयपुर में रहने का मोह था, दूसरी ओर प्रोफ़ेसर दुबे का शिष्य बनने का आकर्षण। भय था कि सागर में प्रवेश बंद हो गये होंगे। फिर भी एक पोस्ट-कार्ड पर मैंने प्रोफ़ेसर दुबे को पत्र लिखकर प्रवेश पाने की इच्छा व्यक्त की। दस-बारह दिन तक उत्तर न आने पर तय कर लिया कि उदयपुर ही रहना है। तभी दो पंक्तियों का लिफ़ाफ़े में बंद दुबे जी का प्रथम पत्र प्राप्त हुआ—प्रवेश मिल जायगा; चले आओ।

सोच नहीं पा रहा था कि क्या करूँ? पिताजी दूर नीमच में थे; दादाजी के पास उदयपुर में रहता था। नव-विवाहित था और एक बेटी का बाप भी। जाने के साधन भी जुटाने थे; पिताजी पर अतिरिक्त व्यय-भार की भी चिंता थी। मेरे दादाजी चौहान साहब से मिले। वे जानना चाहते थे कि जब एम. ए. वहीं खुल गया है और मैं चौहान साहब का चहेता शिष्य हूँ, फिर क्यों वे मुझे वहीं रहने के लिए नहीं कह रहे हैं। चौहान साहब ने जो उत्तर दिया, वह मुझे अभी भी याद है। कहने लगे, "बा साहब! मेरा बस चलता तो मैं पंडितजी (चौहान साहब मुझे इसी नाम से बुलाते हैं) को सागर तो क्या सागर पार भेज देता। यहाँ और सागर में फर्क यह है कि यहाँ रहे तो इनको नौकरियों के पीछे भागना पड़ेगा और वहाँ गये तो नौकरियाँ इनके पीछे भागेंगी।"

चौहान साहब के भाषणों से ही मेरा दुबे जी से परिचय हुआ। हम बी. ए. के प्रथम वर्ष में थे तभी 'इंडियन विलेज' छपकर आयी थी। पाठ्यक्रम को एक तरफ छोड़कर चौहान साहब ने दो-तीन दिन तक उसी पुस्तक पर भाषण दिये। हमारी पढ़ाई हिन्दी के माध्यम से होती थी, पर हिन्दी में समाजशास्त्र की आधिकारिक पुस्तकों का अभाव था। चौहान साहब इसीलिए अपने चुनिन्दा छात्रों को अंग्रेज़ी में मूल पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे, और फिर घर पर होनेवाली छोटी गोष्ठियों में हम लोगों से उन पर अंग्रेज़ी में भाषण देने को कहते थे। भारतीय ग्राम पर प्रकाशित दुबे जी की पुस्तक पढ़ने के लिए देते हुए प्रोफ़ेसर चौहान ने कहा कि इसके पारायण से दो लाभ होंगे—एक तो विषय की जानकारी, और दूसरा अंग्रेज़ी का सीखना। चौहान साहब दुबे जी से व्यक्तिगत रूप से परिचित थे; जयपुर में विश्वविद्यालय की समाजशास्त्र पाठ्यक्रम-समिति के विशेषज्ञ के रूप में दुबे जी आते थे, वहीं चौहान साहब उनसे मिले थे और उनकी प्रतिभा, उनके ज्ञान, उनकी हिंदी और उनके सुसंस्कृत व्यवहार से परम प्रभावित थे। दोनों के रहन-सहन में भारी भिन्नता होने के बावजूद एक समानता थी। दोनों ही शाकाहारी, और दोनों ही सुपारी खाने के शौक़ीन। सागर जाने से पहले ही दुबे जी की प्रशंसा

में चौहान साहब से इतना कुछ सुन चुका था कि लगा, जैसे किसी आत्मीय के पास ही जा रहा हूँ। उदयपुर छूटने का दुःख तो हुआ, पर किसी अज्ञात का भय नहीं लगा। सागर पहुँचा तो स्वप्न खंडित हुआ। छोटा-सा शहर। शहर से दूर मिलिटरी की खाली की गयी बैरकों में चलनेवाला विश्वविद्यालय। बरसात का मौसम, ताँगे की सवारी, और छुट्टी का दिन। न जान, न पहचान। नये प्रवेशार्थी होस्टल के एक कॉमन हॉल में डेरा डाले थे, वहीं एक खाट मिली। कई तरह के विचार उपजे। दुविधा में था : रहूँ या लौट चलूँ।

दूसरे दिन जल्दी ही विभाग खोजता हुआ पहुँचा। टीन के टप्पर के नीचे, गेराज जैसे कमरे में नृतत्व की कक्षाएँ लगती थीं। ग्यारह बजे नीले रंग की मोरिस माइनर गाड़ी आकर रुकी। चहल-पहल हुई। मुँह में पाइप दबाये प्रोफ़ेसर दुबे उतरे और तेज चलते हुए अपने कमरे में गये। सारे छात्र—एम. ए. प्रीवियस और फाइनल—के भी उनके साथ ही उनके दफ़्तर में चले गये। दुबे जी ने शीघ्रता से अपनी डाक खोली और प्रत्येक पत्र का उत्तर उसी फर्राटे से लिख कर क्लर्क को थमा दिया। फिर मुझसे बात की, मेरे फार्म पर हस्ताक्षर किये, होस्टल में मेरी कक्षा के ही मुटाटकर के साथ रहने की व्यवस्था भी कर दी। और फिर प्रारंभ हुआ उनका भाषण···पूरे दो घंटे का। मैं हत्प्रभ था; उन्हें देखूँ, या नोट्स लूँ। क्या लिखूँ और क्या छोड़ूँ? वे जो बोल रहे थे, वह किसी पाठ्यपुस्तक में तो था नहीं। जाने कितनी पुस्तकों का निचोड़ था और फिर कहने का अनोखा अंदाज़। दो वर्ष की समाजशास्त्र की पढ़ाई और अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तकें पढ़ने के कारण, उनके भाषण समझने में मुझे सहूलियत महसूस हुई। मेरे अन्य सहपाठियों के लिए विषय का यह नया 'एक्सपोज़र' था। दुबे जी यह अंतर शीघ्र ही भाँप गये।

भाषण समाप्त होने पर हम लोग बाहर आ गये। शीघ्र ही दुबे जी भी निकले। कार तैयार थी, उन्हें घर ले जाने के लिए। कार में बैठते हुए ही उन्होंने मुझे आवाज़ दी—"कविता की डायरी साथ लाये हो?"

"कमरे में रखी है।"

"जाओ, ले आओ और घर चलो।"

मैं भागा-भागा कमरे में आया और डायरी लेकर लौटा। वे कार में बिठाकर मुझे घर ले गये, जो सागर कैंट में था।

पहली बार डाइनिंग टेबल पर बैठकर पाश्चात्य विधि से मैंने उनके यहाँ भारतीय भोजन किया। हैदराबाद से साथ आया उनका ड्राइवर मौलाना घर आकर खानसामा हो गया। भोजन में दुबे साहब के पिताजी भी साथ थे। वे भोजन कर अपने कमरे में चले गये और हम ड्राइंगरूम में। मैंने नोट किया कि आधुनिक होते हुए भी दुबे जी ने अपने पिता के सामने पाइप नहीं सुलगाया।

ड्राइंगरूम में लीला जी भी आ गईं। दुबे जी ने अपना सिगार जलाया और मुझे कविताएँ सुनाने को कहा। मुझे संकोच भी लगा और प्रसन्नता भी हुई। साहित्य और हिंदी के प्रति उनका इतना झुकाव पहली ही भेंट में प्रकट हो गया। बाद में पता चला कि चौहान साहब ने पत्र लिखकर उन्हें मेरे बारे में बता दिया था।

शाम को चाय और पकौड़े खाकर मैं चलने को हुआ तो डॉक्टर साहब ने मौलाना को कहा कि वह मुझे गाड़ी में छोड़ आये।

वह दिन मेरे लिए अविस्मरणीय है। एक नये साधारण-से छात्र का इतना सत्कार; एक नवयुवक कवि को प्रोत्साहन; उनका स्नेह और सहानुभूति, सब एक साथ मन को कहीं छू गये। ऐसे अनुभव की मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी।

फिर तो अंतःक्रिया का मार्ग खुल गया। मैं ही नहीं, कक्षा के अन्य सहपाठी भी दुबे जी के यहाँ जाते थे और उनके संसर्ग का लाभ उठाते थे। सभी का स्वागत था। सभी को पूरा आतिथ्य मिलता। मेरे लिए तो वह घर जैसा हो गया था। उन अनेक भेंटों में दुबे जी मेरे और मेरे परिवार के विषय में बहुत कुछ जान गये थे।

इसी दौरान हमारा विभाग, भूगोल विभाग और अप्लाइड ज्योलॉजी विभाग पथरिया हिल्स में बने विश्वविद्यालय के एक नये भवन में भेज दिये गए। हम छात्रगण भी वहाँ के बने स्टाफ क्वार्टर्स में रहने लगे। पहाड़ी पर बने इन नये भवनों के बीच अभी सड़कें नहीं थीं। भोजन के लिए पैदल चलकर दूर जाना पड़ता था और रात में लालटेन के सहारे छोटी पगडंडियों से हम लोग अपने कमरों में पहुँचते थे। बत्तियाँ रात के 10 बजे बंद हो जाती थीं एवं बँगले में विश्वविद्यालय के इंजीनियर के घर टेलिफोन था। एक रात भोजन कर लौटते हुए मार्ग में मुझे एक पहाड़ी बिच्छु ने काट खाया। मेरे सहपाठी किसी भाँति मुझे कमरे तक ले गये। एक ने बिजली का करंट लगाकर जहर जलाने की चेष्टा की, दूसरे ने चाकू से एक घाव किया, तीसरा फ़ोन पर दुबे जी को ख़बर देने पहुँचा। आधे घंटे के भीतर ही दुबे जी कच्ची सड़क पर अपनी गाड़ी चलाकर आ पहुँचे और मुझे शहर के अस्पताल में उपचार के लिए ले गये। मैं रात-भर वहीं रहा। सुबह उनके घर से ही नाश्ता आया, दिन का भोजन स्वयं दुबे जी और लीला जी लेकर आये और फिर अपनी ही गाड़ी में मुझे वापस अपने कमरे पर पहुँचाया।

यह बात मैं उस समय की कर रहा हूँ, जब दुबे जी की आयु 35 वर्ष की थी। कहा जाता था कि एकाध अपवाद को छोड़ सारे भारत के विश्वविद्यालयों में एक वे ही थे, जो इतनी कम आयु में प्रोफ़ेसर बने। उस समय सागर विश्वविद्यालय में गिनती के प्रोफ़ेसर थे। कला संकाय में तो एक भी नहीं था। भूगोल और नृतत्त्व, दोनों ही प्रशासनिक दृष्टि से विज्ञान संकाय में आते थे क्योंकि दुबे जी के आने से पहले दोनों का मिला-जुला एन्थ्रोपोज्योग्राफ़ी विभाग था। 1958 में दोनों अलग हुए और दोनों में प्रोफ़ेसर पद पर नियुक्तियाँ हुईं। उस समय हिंदी के वरिष्ठ और परम प्रसिद्ध समालोचक पं. नंददुलारे वाजपेयी हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे, पर थे रीडर। यही हाल गणित विभाग के अध्यक्ष मुन्नालाल जी मिश्र का था। एक छोटे कस्बे में स्थित होने पर भी इस विश्वविद्यालय में जानी-मानी हस्तियाँ थीं। यह बात दूसरी है कि वे सभी प्रोफ़ेसर के पद पर नहीं थे। इस कारण हम नृतत्त्व के छात्र अपने-आपको बड़ा गौरवशाली मानते थे। समाजशास्त्री और नृतत्त्व के क्षेत्र में उन दिनों सारे भारत में भी गिनती के ही प्रोफ़ेसर थे और प्रसिद्धि की दृष्टि से दुबे जी का नाम अग्रणियों में था। 1958 में आगरा में हुए अखिल भारतीय समाजशास्त्र सम्मेलन में दुबे जी को एक अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया गया था। सागर से भी कुछेक छात्र इसमें गये। मैं भी गया और मेरे आने-जाने का सारा खर्चा भी दुबे जी ने ही दिया। बाद में कलकत्ता और लखनऊ में होनेवाले सम्मेलनों में भी उन्हीं के प्रोत्साहन से मैंने भाग लिया। एक छात्र होते हुए भी मैंने कलकत्ता और लखनऊ में कुछ शोध-पत्रों पर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। जब लखनऊ के प्रोफ़ेसर मजुमदार ने आकर मेरी

पीठ थपथपायी तब मैं दुबे जी के पास ही खड़ा था। मजुमदार ने दुबे जी से कहा, "श्याम, यह तुम्हारा विद्यार्थी है। इस पर आँख रखना।" स्वभावनुसार दुबे जी ने स्पष्टतः कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई, बस गर्व से पाइप पीते हुए अपना सिर हिला दिया। मजुमदार खुश इस बात से थे कि मैंने अपने 'इंटरवेंशन' में मजुमदार की मोहाना गाँव पर लिखी सद्य प्रकाशित पुस्तक का संदर्भ देकर किसी अन्य पत्र पाठक की बात काटी थी। मजुमदार ने कहा कि वे तो वह बात लिखकर भूल ही गए थे, और उन्हें ताज्जुब हुआ कि एम. ए. के छात्र ने उनकी पुस्तक भी पढ़ डाली है।

दुबे जी के संसर्ग में रहने का यही एक लाभ था। उनके पास पुस्तकों का भंडार था। जब भी दिल्ली जाते हिन्दी साहित्य की नव प्रकाशित कविता, कहानी, उपन्यास की पुस्तकें खरीद लाते; विषय संबंधी नयी पुस्तकें भी उनके पास आतीं। इस प्रकार हिंदी साहित्य और समाजशास्त्रीय साहित्य के नये आयामों का बराबर पता चलता रहता। इन्हीं से माँग-माँगकर पुस्तकें पढ़ने को मिल जातीं। उनके साथ बिताई शामें भी शिक्षण का, या यूँ कहूँ, समाजीकरण का, एक माध्यम थीं। कक्षा में सुने गए भाषणों से कहीं अधिक तो उनके यहाँ सीखने को मिलता। विभिन्न विषयों के प्राध्यापकों, शोधकर्ताओं, साहित्यकारों का उनके यहाँ आना और बैठकर बात करना मेरे लिए बड़ा शिक्षाप्रद रहा।

दुबे जी किसी भी विषय को दायरे में बाँधने के हामी नहीं थे। इनका ज्ञान की एकता में अटूट विश्वास था। हम लोग सामाजिक नृतत्त्व पढ़ रहे थे, पर हमें शारीरिक नृतत्त्व (फीजिकल एन्थ्रोपोलॉजी) और प्रागेतिहास एवं पुरातत्त्व भी पढ़ाया गया। आदिवासियों के अध्ययन के साथ-ही-साथ ग्राम और नगर का समाजशास्त्र भी हमारे प्रशिक्षण का अंग था। विषयों की अंतर्निर्भरता की दुबे जी बात ही नहीं करते थे, उसे क्रियान्वित भी करते थे। उन्होंने स्वयं राजनीति शास्त्र में नागपुर के हिस्लाप कॉलेज से बी. ए. ऑनर्स किया था—ठीक उन्हीं दिनों जब हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री नरसिंह राव भी वहीं पढ़ रहे थे। राजनीति शास्त्र के व्याख्याता के रूप में ही वे लखनऊ विश्वविद्यालय गये, जहाँ उन्होंने नृतत्त्व की पुस्तकें पढ़ीं और पढ़ाना प्रारंभ कर दिया। इसके पहले नागपुर से ही पी-एच. डी. के लिए उन्होंने छत्तीसगढ़ के कमार आदिवासियों का नृतत्त्वशास्त्रीय अध्ययन किया था। लखनऊ से वे चले गये हैदराबाद— उस्मानिया विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग में। सागर में भी, हमारे पाठ्यक्रम से परे जाकर दुबे जी ने अन्य विभागों के विशेषज्ञों को बुलवाकर भाषण दिलवाये। प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री डॉ. दयाकृष्ण ने टाल्कट पार्सन्स पर भाषण दिये। गणित विभाग के मिश्र जी ने हमें सांख्यिकी पढ़ाई। मनोविज्ञान विभाग के एक व्याख्याता ने 'व्यक्तित्व' पर भाषण दिये। सामाजिक नृतत्त्ववालों को भी, पेलियेण्टोलॉजी, डरमेटोग्लाइफिक्स, सेरोलॉजी और एन्थ्रोपोमेट्री में कुछ काम करना पड़ा और सभी के लिए फोटोग्राफी सीखना आवश्यक था।

विश्वविद्यालय के नये परिसर में ज्यों ही हमारे विभाग का स्थानांतरण हुआ, तो ऐसा लगा, जैसे हम परंपरा से आधुनिकता की ओर आ गये हैं। दुबे जी ने विभाग के लिए तरह-तरह के उपकरण खरीदे, नृतत्त्व का संग्रहालय स्थापित किया, फोटोग्राफी के लिए लेबोरेटरी बनाई। स्थान साफ-सुथरा हो, काम करीने से हो, हर चीज पूर्व नियोजित हो—ये सब उनके कार्यादर्श थे। एक बार हमारा एक साथी कक्षा में हवाई चप्पल पहन कर चला आया।

उन्होंने अपने ड्राइवर को बुलाकर कहा कि "इन्हें कार में इनके कमरे पर ले जाओ, ये भूल से गलत चप्पल पहन कर आ गये हैं।" किसी को ठीक करने का यह ढंग निराला ही था।

दुबे जी स्वयं उदार थे पर अपने मूल्य दूसरों पर नहीं थोपते थे। वे स्वयं अपने पिता के सम्मुख पाइप या सिगार नहीं पीते थे, पर उन्होंने अपने पुत्रों को अपने सामने सिगरेट या बीड़ी पीने से नहीं रोका। मुझे याद है हमारी कक्षा में आंध्र प्रदेश का एक छात्र था आचार्यलू—वह एक के बाद एक सिगरेट फूँकता था पर अध्यापकों के समक्ष नहीं। एक बार दुबे साहब के घर सब छात्रों को पार्टी के लिए बुलाया गया। जब सब चाय पी चुके तो दुबे साहब सिगार का डिब्बा लेकर आचार्यलू के पास गये और कहा, "लो पीओ।" आचार्यलू पानी-पानी हो गया। काँपते हाथों से उसने सिगार ली जिसे दुबे जी ने खुद अपनी माचिस से जलाया। सिगरेट मैं भी पीता था, पर बहुत छिप-छिपकर। कई वर्षों तक तो उन्हें पता ही नहीं चला। पहली बार मैंने उनके सामने सिगरेट सन् 61-62 में पी होगी, जब मेरे सहयोगी और डॉ. दुबे के मित्र, डॉ. सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव ने अचानक दुबे जी के सामने मुझे सिगार पीने को कहा। मेरी आनाकानी को देखकर डॉ. श्रीवास्तव ने व्यंग्य किया कि मैं नहीं सोच सकता कि दुबे जी इतने परंपरावादी हैं। दुबे जी ने तब बोला, "योगेश! तुम पीते हो तो पीओ। ले लो।" बड़े संकोच के साथ मैंने उनके सामने सिगरेट पीना प्रारंभ किया।

विद्यार्थियों को इतनी छूट देने वाले दुबे जी का अपने गुरुओं के प्रति व्यवहार परम्परागत ही रहा। जयपुर के प्रोफ़ेसर एम. वी. माथुर ने रायपुर के छत्तीसगढ़ कॉलेज में दुबे जी को इंटरमीडिएट कक्षाओं में अर्थशास्त्र पढ़ाया था और वे उनकी अध्यापन-कुशलता का बार-बार जिक्र करते थे। माथुर साहब जब सागर में अर्थशास्त्र के छात्रों का 'वाइवा' लेने आये तब दुबे जी के घर.उनका जिस श्रद्धा से सत्कार किया गया, वह मैं भूल नहीं सकता। माथुर साहब के सामने भी दुबे जी ने पाइप नहीं पिया। जब दुबे साहब मसूरी में सामुदायिक विकास के केन्द्रीय संस्थान के निदेशक बनकर चले गये तब सन् 62 में एक सेमिनार में माथुर साहब भी आमंत्रित थे; मैं भी। वहाँ बार-बार दुबे जी सेमिनार कक्ष को छोड़कर बाहर जाते थे, पाइप पीने। माथुर साहब समझ गए। उन्होंने चाय के अवकाश के समय दुबे जी से जाकर कहा कि उन्हें पाइप पीने के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह क्षण देखने लायक था।

दुबे जी परम्परा से जुड़े आधुनिक थे। मैं जब सागर में ही था तभी दुबे जी के पिताश्री का देहावसान हो गया। वे अमरकंटक की यात्रा पर गये हुए थे; और वहीं उन्होंने प्राण तज दिए। दुबे जी सवारी बस में बैठकर अकेले ही वहाँ गये। उनका क्रियाकर्म कर जब लौटे तो उनका सिर मुँडा हुआ था और शोक के पूरे समय वे खादी का कुर्ता-पाजामा और सिर पर सफेद टोपी पहने रहे। लगभग इसी समय उनका मुसलमान ड्राइवर मौलाना हैदराबाद लौट गया। दुबे जी ने उसकी जगह एक हरिजन शिव प्रसाद को रख लिया, जो ड्राइवर ही नहीं था, उनका अर्दली भी था। घर में सब जगह जाने की स्वतंत्रता थी—रसोईघर तक। वहाँ वर्षों तक साथ रहकर वह जाने हिन्दी के कितने उपन्यास पढ़ चुका होगा।

इसी संदर्भ में एक बात और याद आती है। जब मैं सागर छोड़कर चंडीगढ़ जा रहा था तो दुबे जी से आशीर्वाद लेने पहुँचा। दुबे जी का भी कंठ कुछ अवरुद्ध हो गया। लीला जी तो रो पड़ी थीं। दुबे जी बोले, "ऐसा लगता है कि एक दादी माँ की तरह मैं तुम्हें कुछ समझाऊँ।

यह करना, वह नहीं करना।" फिर बोले, "देखो योगेश, जो सब मैं करता हूँ वह तुम्हें करने की आवश्यकता नहीं है। पंजाब जा रहे हो, जरा अपव्यय से बचना। शराब की आदत मत डालना।" मैंने उनकी इस बात का अक्षरशः पालन किया। चंडीगढ़ में मेरे विभागाध्यक्ष चोपड़ा इससे कुछ कुपित भी हुए पर मैं टिका रहा।

और फिर एक दिन जब दुबे जी विदेश से लौट रहे थे तो मैं उनका स्वागत करने चंडीगढ़ से दिल्ली आया। वे डॉ. मेहरा के यहाँ ठहरे थे। शाम की महफिल जमी। वहाँ दुबे जी ने कहा, "योगेश! अब तुम बड़े हो गए हो। मेरे साथ यदा-कदा लेने में कोई बुराई नहीं है।" चरणामृत की तरह मैंने उस दिन पहली बार मदिरा का स्पर्श किया। गुरु की अनुज्ञा थी।

फिर भी परंपरा जैसे मुझे भीतर ही भीतर से कोस रही थी। ब्राह्मण परिवार में, दादा-दादी के कठोर अनुशासन में पले होने के कारण शराब पीना मेरी दृष्टि में बुरा था। अध्यापकों में चौहान साहब आदर्श थे जो शराब तो क्या सिगरेट भी नहीं छूते थे। इसके विपरीत मेरे पिताजी की आदतें बिगड़ी हुई थीं; मेरे श्वसुर भी खाने-पीने के शौकीन थे—रेलवे में रहकर दोनों ने इन आदतों को अपनाया क्योंकि ये आधुनिकता की सूचक गिनी जाती थीं और अंग्रेज़ों के नक्शे-कदम। मैं दोनों की ही आलोचना करता था और मन से चाहता था कि वे यह कुवृत्ति छोड़ दें। पर सिगरेट के लिए आपत्ति नहीं थी क्योंकि मेरे दादाजी भी पीते थे और पिताजी भी। सागर आने पर दुबे जी से सामीप्य इतना बढ़ गया था कि मैं उनमें अपने पिता की छबि देखने लगा था, और सागर रहते हुए एक लंबे अर्से तक ढेरों शामें बिताने के बाद भी मैंने उन्हें कभी मदिरा-पान करते नहीं देखा था। विश्वविद्यालय की मर्यादा और आचार्य की गरिमा का उन्हें पूरा आभास था। शराब उनकी शाम का अंग नहीं थी। सागर में गिने-चुने अवसरों पर अतिथि-सत्कार में बहुत ही 'डिस्क्रीट' होकर वे एकाध पेग ले लिया करते होंगे। मुझे बहुत दिन बाद इसका पता चला। और जिस दिन यह ज्ञात हुआ, तो मुझे कुछ ठेस-सी लगी-वैसी ही प्रतिक्रिया-उभयभावी-जागी, जैसी मेरे पिताजी के प्रति थी। यह भी भय लगा कि लोग उन्हें बदनाम न कर दें। अपने आदरणीय की प्रतिष्ठा पर मैं नहीं चाहता था कि कोई आँच आये।

पर दुबे जी इस दृष्टि से समझदार थे। उन्हें इस बात का पूरा ध्यान रहता था कि उनके कृत्य से किसी दूसरे की भावना को ठेस नहीं पहुँचे। जब सागर में उनकी दादीजी आती थीं, सारे अंडे ही नहीं, प्याज-लहसुन भी निकालकर बँटवा दिये जाते थे। अंतिम समय तक, जब भी दुबे जी किसी सरदारजी की टैक्सी में बैठते, तो पहले पूछ लेते—"सरदारजी, मेरे पाइप पीने से आपको एतराज तो नहीं है?"

इतना ध्यान रखते हुए भी एक बार वे चूक कर बैठे। राजस्थान विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर डॉ. मोहनसिंह मेहता दुबे जी को वहाँ प्रोफ़ेसर के पद पर लाना चाहते थे। विभाग नया-नया खुला था और उन्नीथान वहाँ रीडर की हैसियत से अध्यक्ष का कार्य कर रहे थे। भाषण देने के बहाने डॉ. मेहता ने दुबे जी को वहाँ आमंत्रित किया। समाजशास्त्र विभाग ने रात्रि-भोज का आयोजन किया और उसमें जाने से पूर्व दुबे जी को कुछ अन्य अतिथियों के साथ अलग से शराब भी पिलाई गयी। जयपुर में थोड़ी-बहुत शराब पीने में उन्हें क्या एतराज हो सकता था, क्योंकि किसी से डरकर कुछ करने या न करने का उनका स्वभाव नहीं था। पर

दूसरे दिन सारे विश्वविद्यालय में अफ़वाह फैला दी गयी कि दुबे जी शराब पीते हैं। परिणाम यह हुआ कि डॉ. मेहता ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। हानि राजस्थान की ही हुई; और मेजमान की स्वार्थसिद्धि। दुबे जी ने इस 'उत्पात' को क्षमा ही कर दिया। किसी से उनके संबंध नहीं बिगड़े।

लखनऊ के प्रोफ़ेसर धीरेंद्रनाथ मजूमदार के असामयिक अवसान के बाद वहाँ के उपकुलपति डॉ. कालिप्रसाद ने भी दुबे जी को उस पद पर लाना चाहा, पर विश्वविद्यालय की भीतरी राजनीति ने यह होने नहीं दिया। उन्हें बुरा तो अवश्य लगा, पर उन्होंने वहाँ के विरोधियों के प्रति भी उदारता ही दिखाई।

शायद एक कारण यह भी रहा होगा कि दुबे जी ने भारत सरकार के निमंत्रण पर मसूरी के सामुदायिक विकास संस्थान के निदेशक पद को स्वीकार कर लिया। उनके लिए तो कहा जाता था कि इनकी जितनी जेबें हैं, उतनी ही नौकरियों की ऑफर्स भी। भारत की सामुदायिक विकास योजना पर फील्ड वर्क आधारित पहली पुस्तक दुबे जी की ही थी जो 1958 में प्रकाशित हुई थी। कार्नेल विश्वविद्यालय में अध्यापन करते हुए लिखी गयी यह पुस्तक भारतीय समाजशास्त्र के नये मोड़ की सूचक थी और प्रशासन के उच्च पदाधिकारियों के लिए अनिवार्य पठन-सामग्री। मसूरी की नियुक्ति ने प्रोफ़ेसर दुबे को एक विश्वविद्यालय की सीमाओं से निकालकर जैसे राष्ट्रीय प्रोफ़ेसर बना दिया। निर्देशन, योजनाबद्ध सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए दुबे जी ने विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोधकर्मी समाज वैज्ञानिकों को प्रोत्साहित किया और अपने संस्थान के माध्यम से आर्थिक सहायता भी प्रदान की। समाजविज्ञान के क्षेत्र में ग्रामों के और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के अध्ययन की जो परिपाटी चली, उसके प्रणेता होने का श्रेय दुबे जी को ही जाता है। इस संस्थान के कार्यकाल में दुबे जी ने भारत-भर के विश्वविद्यालयों का दौरा किया और उभरती हुई प्रतिभाओं को खोजा और प्रोत्साहित किया।

ऐसी ही एक यात्रा में बड़ौदा विश्वविद्यालय में दुबे जी की रजनी कोठारी से भेंट हुई, जो वहाँ राजनीति शास्त्र पढ़ाते थे। दुबे जी ने रजनी की प्रतिभा को भाँप लिया और यह भी अनुभव किया कि वहाँ के वातावरण में घुटन है, जो रजनी की प्रतिभा को कुंठित कर रही है। उन्होंने तत्काल रजनी को मसूरी बुला लिया और उनके लिए उपनिदेशक का नया पद स्थापित किया। किन्तु सरकारी संस्थान होने के नाते यह लाजिमी था कि चयन लोक-सेवा आयोग के मार्फत हो। थी यह मात्र औपचारिकता, पर रजनी स्वाभिमानी थे; उन्होंने इंटरव्यू देने से मना कर दिया। दुबे जी ने उस पद पर दूसरे की नियुक्ति नहीं होने दी और रजनी को 'ऑफ़िसर ऑन स्पेशल ड्यूटी' बना दिया, जिसके लिए लोक-सेवा आयोग जाने की ज़रूरत नहीं थी। मसूरी रहते-रहते ही रजनी ने दुबे जी के साथ भारत-चीन युद्ध पर भारतीयों की प्रतिक्रिया के एक अखिल भारतीय सर्वेक्षण में कार्य किया और दिल्ली में अपने स्वयं के शोध-केंद्र की स्थापना की योजना बनायी।

रजनी की ही भाँति ऐसे कई समाजवैज्ञानिक हैं जिन्हें दुबे जी के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर आने का अवसर मिला। जब सामुदायिक विकास संस्थान मसूरी से हटकर हैदराबाद में पुनर्स्थापित हुआ तब दुबे जी उसके प्रथम प्रिंसिपल बने। पर वे पुनः सागर लौट आये। मसूरी

और हैदराबाद रहते हुए भी उनका सागर से संबंध नहीं टूटा। वे समय निकालकर सागर जाते रहते और अपने प्रवास के दौरान विभाग में जाकर अपनी कक्षाएँ पढ़ाते। प्रशासक और प्रशिक्षक, दोनों ही भूमिकाओं का उनके व्यक्तित्व में अद्भुत मिश्रण था।

सागर पुनः लौटने पर विभाग अपने नये भवन में आ चुका था। दुबे जी ने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र, दोनों विषयों में एम. ए. की कक्षाएँ खुलवा दी थीं। नवीनतम विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर उन्होंने इन विषयों का अध्ययन बड़ा आधुनिक बना दिया था। विभाग को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से स्पेशल असिस्टेंस प्रोग्राम भी मिल रहा था। इन्हीं दिनों अलीगढ़ विश्वविद्यालय के इतिहासज्ञ प्रोफ़ेसर नूरुल हसन जो लखनऊ में दुबे जी के सहयोगी रह चुके थे, भारत के शिक्षा-मंत्री बने। उस समय मैं दिल्ली स्थिति इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी में समाजशास्त्र का प्राध्यापक था। एक बार जब दुबे जी मेरे यहाँ ठहरे थे, तभी नूरुल हसन का फोन आया। हम उनसे मिलने गये और वहीं प्रोफ़ेसर हसन ने दुबे जी से आग्रह किया कि वे शिमला की इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़ के निदेशक का पद-भार सँभाल लें। दुबे जी मना नहीं कर सके। सागर एक बार फिर छूट गया, पर वे सागर से जुड़े रहे।

शिमला के संस्थान के माध्यम से भी दुबे जी ने कई प्रतिभाओं को उभरने का अवसर दिया। उनके कार्यकाल में शिमला में कई महत्त्वपूर्ण सेमिनार और सम्मेलन हुए और कई विद्वानों ने वहाँ रहकर अपनी पुस्तकें लिखीं। उनके निर्देशन में, उनके द्वारा संपादित कई पुस्तकें शिमला के संस्थान ने प्रकाशित कीं—शायद जितनी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उस समय छपीं, वह उस संस्थान के लिए एक रिकॉर्ड था। यूनेस्को के तत्त्वावधान में समाजविज्ञान का प्रथम एशियाई सम्मेलन भी उसी संस्थान में संपन्न हुआ।

मुख्य बात यह है कि दुबे जी के जीवन में 'ठहर' नहीं थी, न वे किसी एक स्थान पर अधिक ठहरे; न किसी एक विषय या एक विचारधारा पर। न उनका कोई संप्रदाय था, न कोई मठ। जो उनके छात्र नहीं रहे, वे भी उन्हें अपना गुरु मानते थे; पर उन्होंने चेलों की जमात नहीं खड़ी की। वे ऐसे उस्ताद थे, जो अपनी चिलम खुद ही भरते थे। एक अच्छे लेखक होने के साथ-साथ वे प्रभावशाली वक्ता भी थे और अंग्रेज़ी एवं हिन्दी पर उनका समान अधिकार था। समाजविज्ञान के क्षेत्र में उन दिनों तो क्या, आज भी ऐसे व्यक्तियों की संख्या गिनी-चुनी है जो दोनों भाषाओं में समान गति और अधिकार रखते हों, लिख और बोल सकते हों। जब हम सागर में पढ़ रहे थे तभी दुबे जी 'मानव और संस्कृति' शीर्षक से मानवशास्त्र पर पाठ्य-पुस्तक लिख रहे थे। हिंदी में टाइप की सुविधा न होने के कारण, मैं और मेरे तीन साथियों—गोपाल भारद्वाज, जैनेंद्र दोषी और रविदत्त शर्मा—ने मिलकर उनकी उस पुस्तक की पांडुलिपि की पूरी कॉपी तैयार की थी। कई समाजशास्त्रीय संबोधों के हिंदी पर्याय उस समय गढ़े गये, जो अब प्रचलन में आ गये हैं। उसी समय उन्होंने 'भारतीय समाज परिचय माला' शीर्षक से 20 पुस्तकें सरल हिन्दी में तैयार करने की योजना बनाई थी। उनके संपादन में तीन पुस्तकें इस माला के अंतर्गत राजकमल से प्रकाशित हुईं। एम. ए. का छात्र होते हुए भी मुझे आदिवासी भारत पर पुस्तक लिखने का अवसर प्राप्त हुआ। दो अन्य पुस्तकें सच्चिदानंद और ललिताप्रसाद विद्यार्थी ने लिखी थीं। बम्बई में हुए अखिल भारतीय समाजशास्त्र सम्मेलन में जब मेज़बानों को धन्यवाद देने के लिए दुबे जी को आमंत्रित किया गया तो उन्होंने हिंदी में

बोलकर सबको आश्चर्य में डाल दिया। यही बात उन्होंने अहमदाबाद और चंडीगढ़ में हुए सम्मेलनों में दुहराई। भारत में हुए अंतर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र सम्मेलन के बाद जयपुर में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार में भी दुबे जी ने हिंदी में ही समापन भाषण दिया, जिससे प्रेरित होकर कोरिया और रूस के प्रतिनिधियों ने भी अपनी-अपनी भाषा में कृतज्ञता ज्ञापित की। आम तौर से भारत में लोग अंग्रेज़ी बोलने में शान और हिंदी बोलने में हीनभाव महसूस करते हैं। दुबे जी को ऐसा कोई दुराग्रह नहीं था। घर की बैठक में होनेवाले वार्तालापों में दुबे जी जिस शिष्ट हिंदी का, और जिस सहज ढंग से प्रयोग करते थे, वह सामान्यतया देखने को नहीं मिलता। सेवानिवृत्ति के पश्चात् तो दुबे जी हिंदी की ही ओर मुड़ गये। उसी में लेखन, उसी में प्रवचन। मुझे भी कहा कि मैं हिंदी में लिखूँ। जब मैंने अपने पिताजी की जीवनी 'दौलत दरबार' लिखना प्रारंभ किया और उसके कुछ अध्याय उन्हें पढ़कर सुनाये, तो वे बड़े प्रसन्न हुए। पुस्तक जब छपकर आयी तो उन्होंने रातों-रात पूरी पढ़ डाली और दूसरे दिन नाश्ते की मेज़ पर उससे संबंधित वे कई प्रश्न मुझसे पूछते रहे।

प्रोफ़ेसर दुबे ने अपनी समाजशास्त्र की यात्रा वर्तमान के वर्णन, विश्लेषण से प्रारंभ की। धीरे-धीरे उन्हें भविष्य की चिंता भी होने लगी। उन्हें उन लोगों से शिकायत रही, जो इतिहास के बंद बरामदों में घूमते हैं या विगत की विरुदावली गानेवाले सूरदास बनकर होनेवाले सामाजिक परिवर्तनों से आँखें मूँद लेते हैं। उनके लिए मनुस्मृति समाजशास्त्रीय महत्त्व की पुस्तक अवश्य थी पर न तो वे मनुवादी थे, और न ही मनु को समाजशास्त्री मानते थे। कई वर्षों तक अमरीका में रहकर लौटे हुए एक समाजशास्त्री—मोटवानी—जब सागर में हुए समाजशास्त्र सम्मेलन में भाग लेने आये तो बस मनु की ही महिमा गाते रहे और जाति पर होनेवाले शोध-कार्य की अवहेलना करने लगे। वे तो चाहते थे कि दिल्ली के राजपथ पर लगी जार्ज पंचम की मूर्ति को हटाकर वहाँ मनु की मूर्ति स्थापित की जाय। बहुत देर चुप रहने के पश्चात् दुबे जी ने मोटवानी से बस इतना ही कहा, "आपके पास यदि मनु की कोई तस्वीर हो तो दीजिए, उसे राष्ट्रपतिजी को भिजवा देते हैं।" कई वर्षों बाद जब मायावती ने गांधीजी को गालियाँ दीं और मनुवादी बताया, तो दुबे जी ने 'मायावती ! सोचो, मायावती समझो' शीर्षक से एक करारा-सा लेख लिखा।

दुबे जी की मान्यता थी कि नये समाज की स्थापना के लिए पुराने समाज की संस्थाओं और मूल्यों का ध्वंस नहीं किया जा सकता। अपने लेखों में दुबे जी ने न तो परंपरा को तिलांजलि देने का दुराग्रह किया है और न ही आधुनिकता को अवांछित मानकर उस पर असंगत प्रहार। वे न तो पूर्वज-पूजा में विश्वास रखते थे और न ही मूर्ति-भंजन में। आलोचना और संहार की शब्दावली में दक्ष और विश्वसनीय विश्लेषण द्वारा कोई सृजनात्मक विकल्प देने में अक्षम लोगों के प्रति उनकी कोई सहानुभूति नहीं थी।

दुबे जी सीमान्तों के समाजशास्त्री थे। एक यात्री की भाँति वे सतत् आगे बढ़ते रहे और नये आयामों का उद्घाटन करते रहे। वे संकीर्ण विशेषज्ञ नहीं थे। नृतत्त्व के निष्णात प्रोफ़ेसर दुबे समाज की विस्तृत भूमि में विचरण करनेवाले यायावर थे। वे चाहते थे कि भारतीय समाजवैज्ञानिक केवल पश्चिम का अनुकरण और अनुसरण ही नहीं करें, वरन् नया भी कुछ दें जो इस देश में की गयी शोध से निःसृत हो और जो इस देश की पहचान को आगे बढ़ाये तथा

उसे प्रगति की सही दिशा दिखाए। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में लिखे गये उनके विचारपूर्ण लेखों में सहभागी प्रेक्षण का ठोस आधार है, एक प्रतिबद्ध प्राध्यापक की पीड़ा है, और एक समर्पित समाजशास्त्री का आह्वान है। उनका कहना था कि "समय आ गया है कि हम भविष्य के बारे में गंभीरता से विचार करें और जीने के लिए एक नया अभिकल्प तैयार करें।"

दुबे जी की भारतीयता की समझ केवल प्रश्नतालिकाओं के उत्तरों के सांख्यिकीय विश्लेषण पर, या एक-दो गाँवों के समीप-प्रेक्षण पर ही आधारित नहीं थी। ज्ञान के सागर में बहनेवाले इस पंडित ने केवल समाजशास्त्र और नृतत्त्व के ग्रंथों का ही पारायण नहीं किया था; पढ़ने का शौक उन्हें अज्ञेय, नागार्जुन और धर्मवीर भारती की साहित्यिक कृतियों की ओर ही नहीं ले गया, आम आदमी की पसंद को जानने के लिए गुलशन नंदा के उपन्यास, किस्सा तोता-मैना, मनोरमा, और यहाँ तक कि सुख-संचारक कंपनी के सूची-पत्र पढ़ने में भी वे रुचि लेते रहे। 'काम के साथी' और 'शाम के साथी' दोनों ने ही उनके बोध के विस्तार में सहायता दी है। एक जगह उन्होंने लिखा है : "तैरना पत्राचार-पाठ्यक्रम से नहीं सीखा जा सकता, प्यार की गुत्थियाँ प्रेम-विश्वकोश से नहीं सुलझाई जा सकतीं और साहित्य की परख विकसित करने में आचार्य एक सीमा तक ही सहायक हो सकता है।" कई प्रकार से भारतीय समाजशास्त्र को प्रभावित करनेवाले प्रोफ़ेसर दुबे का यह कभी आग्रह नहीं रहा कि लोग उनके ही ढंग से सोचें या उनके विचारों का विरोध नहीं करें।

समाजवैज्ञानिक की प्रतिबद्धता पर दुबे जी और मुझमें मतभेद रहा है। सन् 1982 में उनकी साठवीं वर्षगाँठ पर मेरे द्वारा संपादित उनके लेखों के एक आकलन की भूमिका में मैंने इस मतभेद को सार्वजनिक किया। छपने से पहले मैंने दुबे जी को अपना लेख दिखाया और कहा कि यदि उन्हें आपत्ति हो तो मैं वह अंश निकाल दूँ। उनसे पहले मुनीस रज़ा मेरा लेख पढ़ चुके थे और उन्होंने यह आशंका व्यक्त की थी कि "दुबे जी को शायद बुरा लगेगा।" पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। वे बोले, "तुम्हारी बात ठीक है, पर मैं अपनी बात पर क़ायम हूँ। दोनों की बात पाठक तक पहुँचनी चाहिए।" यह बात फ़रवरी-मार्च महीने की है जब वे कुआला लुंपूर जाते हुए बैंकाक में मेरे पास रुके थे। उसी समय मेरे पुत्र संकेत ने पेंसिल से दुबे जी का स्केच बनाया था, और उसने जान-बूझकर पाइप नहीं बनाया, जो दुबे जी की पहचान थी। दुबे जी जब भी दिल्ली में मेरे यहाँ ठहरते तो संकेत उनके पाइप को ध्यान से देखा करता था। दुबेजी ने उसे तोते की तरह दो वाक्य रटा दिये : "बुड्ढे पाइप पी" और "नेलपालिश लगाने से मूँछ नहीं आती।" बड़े होने पर संकेत का आग्रह था कि दुबे जी पाइप पीना बंद कर दें। जहाँ तक दूसरी सलाह का प्रश्न था, उसका स्मरण संकेत ने दुबे जी को उस समय दिलाया जब अपने विवाह पर उसने दुबे जी के चरणस्पर्श किये—"अंकल! देख लीजिए, मैंने नेलपॉलिश नहीं लगाया है।"

मैं बात कर रहा था उनकी साठवीं वर्षगाँठ की। वे 22 जुलाई को ही कुआलालुंपूर से बैंकाक आ गये। मैं कोरिया गया हुआ था। मेरी पत्नी से बोले कि "तीन दिन बाद साठ का हो जाऊँगा सो सोचा योगेश के पास ही चल दें।" मुझे फ़ोन से सूचना मिली तो मैं भी लौट आया। तुरंत ही आयोजन किया गया एक भोज का। साठ व्यक्तियों को बुलाया गया। संकेत केक का ऑर्डर दे आया था। दुबे जी को जबरन उठाकर केक कटवाना पड़ा। मेरी बेटी

शुचि—जिसकी बाद में अकाल मृत्यु हो गई—ने 'हैप्पी बर्थ डे' गाने की बजाय, मलका पुखराज का गाया गीत लगा दिया 'अभी तो मैं जवान हूँ।'

दुबे जी के निकट वैचारिक असहमति व्यक्तिगत संबंधों की टूट का कारण नहीं थी। 1957 में प्रारंभ हुआ हमारी अंतःक्रियाओं का सिलसिला उनके अंतिम समय तक बना रहा। वे मुझे ही नहीं, मेरे छात्रों को भी अपना स्नेह देते रहे। मेरी बेटियाँ उन्हें बड़ी प्रिय थीं। जब मेरे तीसरी लड़की हुई तो मैंने उसका नाम 'इति' रख दिया। वे बड़े नाराज हुए और नाम बदल कर 'रुचि' रख दिया—संकेत स्पष्ट था।

बेटियों का अभाव उन्हें कहीं खटकता था। उनकी अपनी एक बेटी हुई थी पर बची नहीं। एक बार जब मैं मसूरी में उनके घर ठहरा हुआ था तो देहरादून में रहनेवाली मेरी एक छात्रा—सुधा जसवाल—मसूरी मिलने आयी। उसके बाद दुबे जी जब भी देहरादून जाते तो उसके यहाँ चाय पीने अवश्य जाते। उन्होंने उसे अपनी बेटी बना लिया। यहाँ तक कि उसके विवाह के अवसर पर दुबे जी के नाम से भी निमंत्रण छपे, और उन्होंने 'कन्या दान' भी दिया। इनकी अपनी सागर की एक छात्रा—अंजलि—का विवाह दिल्ली में उनके निवास से ही हुआ। इसी प्रकार जम्मू व भोपाल विश्वविद्यालय में संस्कृत की प्राध्यापिका उमा पांडे की बेटी पद्मा को वे अपनी बेटी ही कहते थे। उसकी डॉक्टरी-शिक्षा में उन्होंने सक्रिय रुचि ली। अपनी भांजी मृदुला को जो जबलपुर विश्वविद्यालय में गणित पढ़ाती हैं, प्रो. दुबे ने बेटी का ही प्यार दिया। मुझे तो वे अपना बड़ा बेटा ही मानते थे कुछ वर्ष पहले जब हम एक साथ पेरिस आये तो कहने लगे, "योगेश! अब लगता है, बुढ़ापे को स्वीकृति दे देनी चाहिए। तुम अग्नि-शिखा दोगे न।" मैं रो पड़ा था। वे चुप नहीं रहे, "चाहता यही हूँ कि प्राण छूटते समय हाथ में कलम हो और काग़ज़ पर कोई अधूरा वाक्य।"

शायद उन्हें मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था। मैं उसके बाद से थोड़े-थोड़े अंतराल पर टेलीफ़ोन से बात कर लिया करता था। जब भी भारत आता, तो मिलने जाता। घंटों बिठाये रखते और अपनी नयी लिखी रचनाएँ दिखाते, नयी छपी पुस्तकें देते। उनके कार्य की गति में कोई कमी नहीं दीख पड़ती थी। अपने अगस्त 1995 के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा : "मेरा स्वास्थ्य गिरता जा रहा है और लगता है कि काम करते रहना ही इसका निदान है।" नवम्बर 1995 में फिर हाथ से हिंदी में लिखा एक पत्र आया : "बस, अब भारत लौट आओ। बैठकर कुछ हिंदी में काम करो।"

मुझे कुछ अंदेशा हुआ, और मैंने अपनी छुट्टी की प्रस्तावित तिथियों को बदलकर दिसम्बर में ही भारत जाने का कार्यक्रम बना डाला। फ़ोन पर जब मैंने अपने आने की सूचना दी तो कहा कि एक अच्छा-सा पाइप और कुछ तम्बाकू लेते आना। जब मैं उनसे मिलने गया तो तुरंत ही उन्होंने बड़े चाव से नये पाइप में तम्बाकू भरकर पीना प्रारंभ कर दिया। मैं कह ही नहीं पाया कि उन्हें अब यह बंद कर देना चाहिए। उनसे मिलकर मैं बंगलौर चला गया। पीछे से एकाएक उनकी तबियत ख़राब हुई और अस्पताल ले जाना पड़ा। मुझे सूचना दी गई। जब तक मैं लौटा, वे वापस घर आ चुके थे। मुझे समझ नहीं पड़ रहा था कि कैसे बात करूँ? पर दुबे जी अपनी आनेवाली तीन पुस्तकों की चर्चा करने लगे। एक अध्याय में कुछ लिखना शेष रह गया था, उसकी चिंता थी। हम लोग, मेरे रिटायर होकर लौटने पर, क्या कार्य करेंगे—इस

पर कुछ बात हुई। मेरे भाई मुक्तेश, जो डॉक्टर है, ने इशारा किया, हमें चलना चाहिए। सो हम चरण-स्पर्श कर बाहर आ गये। ड्राइंगरूम में खड़े-खड़े लीला जी से हम बात कर ही रहे थे कि दुबे जी भी बिस्तर से उठकर बाहर आ गये। हमें अचरज हुआ। वे बोल पड़े, "अभी ऐसी कोई चिंता की बात नहीं है। तुम्हें रोने का अवसर इतनी जल्दी नहीं मिलेगा।"

पहली बार था कि वे ठेठ लिफ्ट तक मुझे छोड़ने आये। मैं दूसरे दिन उदयपुर के लिए प्रस्थान कर रहा था, और चार फरवरी को लौटकर पुनः मिलने की योजना थी, जब दुबे जी कुछ साहित्यकारों को घर पर भोजन के लिए निमंत्रण देकर मुझे उनसे मिलवाना चाहते थे। घर लौटते समय मुक्तेश ने कहा, "भाई साहब, आपकी इस विज़िट ने तो दुबे जी के लिए दवा का काम किया है। उनका डिप्रेशन दूर हो गया है।"

किसे पता था कि वे मुझे अंतिम आशीर्वाद देने बाहर तक आये थे। चार फरवरी को लौटने की मेरी तिथि, उनकी मृत्युतिथि भी होगी, यह मैं सोच ही नहीं सकता था। अपने गुरु को अग्निशिखा दे पाया, इसे संयोग कहूँ या क्या? वरना पेरिस से दिल्ली पहुँचते तो बहुत देर हो जाती।

मेरे मित्र श्यामाचरण दुबे

□ ब्रह्मदेव शर्मा

एक हल्की-सी सहज मुस्कान-भरा आत्मीय स्वागत, यही एक अत्यन्त सरल और सादा मगर शालीन पहचान न जाने कितने दिलों में समायी है। सहसा विश्वास नहीं होता, विश्वास करने को जी नहीं चाहता कि वह मुस्कान अब नहीं रही। चाहे घर हो या बाहर, ड्राइंगरूम हो या शयन कक्ष, रोग-शैया हो या भोजन की मेज़, अकिंचन कमरा हो या विशाल सभागार, समान व्यवहार, मानो परिवेश का कोई अर्थ ही नहीं था उनके लिए, क्योंकि उनका अपना ही एक आभा-मंडल था या जिसे गणित या भौतिक शास्त्र में फील्ड या क्षेत्र कहते हैं, जिसमें कहीं कोई विचलन नहीं होती, चाहे उसके पास से श्रीविहीन अदना-सा नक्षत्र निकले, विशालकाय धधकता हुआ सूरज निकले या कोई प्रलयंकर धूमकेतु····उनकी योग-मुद्रा अविचलित, अप्रभावित बनी रहती और उसके बदले सभी को साध लेती, बाँध लेती, अपने अप्रतिभ व्यक्तित्व के क्षेत्र में।

और 'आइए शर्मा जी' के अभिवादन के बाद उसी फील्ड की गिरफ़्त में घंटों बीत जाते बातें करते, न जाने क्या-क्या और कहाँ-कहाँ की, बस पाइप की व्यवस्था के व्यवधान के साथ। ऐसा सहज, समरस और अविशिष्ट सम्बन्ध रहा जीवन-पर्यन्त कि उसमें लिखने के लिए विशिष्ट कुछ ढूँढ़ पाना या छाँट पाना असंभव जैसा है। और उस कोशिश में याद करते ही उन्नीस सौ सत्तावन से लेकर लगभग जीवन-पर्यन्त चार दशकों का आयाम स्पंदित होने लगता है मानस पटल पर। हाँ, उन्नीस सौ सत्तावन के मई महीने की सागर के सर्किट हाउस में मेरी पहली संध्या, भारतीय प्रशासनिक सेवा में प्रवेश के बाद सहायक कमिश्नर के रूप में पहली पद-स्थापना थी। और उसी दिन एक बड़ा स्टेशन वैगन भी लगा था सर्किट हाउस के पोर्च में। साँझ के झुटपुटे में बाहर लॉन में सामान्य-सा परिचय। उसी दिन नागपुर से अपने पुराने सरकारी पद को छोड़कर विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर के पद पर आये थे श्यामाचरणजी। उस साँझ का वह संयोग-मिलन आत्मीयता में बदलता गया। श्यामाचरणजी उसे याद कर ही लिया करते थे जब कभी, खास तौर से परिचय देते समय। मैं उस शाम धोती-कुर्ता पहने हुए बैठा था लॉन में, आई. ए. एस. के सहायक आयुक्त के पद पर होने के बावजूद। उस मिलन को क्या कहूँ 'लव एट द फर्स्ट साइट' या···। बहरहाल, वह मिलन हमारी स्मृति-दीर्घा में अशेष बना रहा।

इस अविशिष्ट अतिविशिष्ट मानव ने मानवशास्त्र को मानो आत्मसात् करके जिया हो, ऐसा लगता है। हर मानव यदि मानव है तो अपनी विशेषता लिये होगा और उसी मान से अपनी कमज़ोरियाँ भी। मगर इस मानवशास्त्री ने सदा उन कमज़ोरियों को भी एक ऐसे आलोक और ऐसे आयाम में घेरने की कला में महारत हासिल कर ली थी कि वे सहज लगने लगती थीं,

मानवीय लगने लगती थीं और उनमें कभी भी कटुता की झाहीं भी नहीं मिल पाती थी। 'उनके पास तो जानकारी का जखीरा है। काश! वे उसे व्यवस्थित कर पाते'—इससे अधिक कड़ी आलोचना उनके मुँह से उनके कटु आलोचकों के बारे में मैंने नहीं सुनी। या फिर किसी के बारे में 'पूरा लिखने के बाद एक बार पढ़ तो लिया करें'-कहकर वे चुप हो जाते थे—किसी के काम की बखिया उधेड़ने की बजाय। 'काश! वे थोड़ा कम बोलते तो अच्छा रहता'—सतही ज्ञान का भारी बोझ ढोनेवाले महापंडितों के बारे में उनकी कड़ी आलोचना हुआ करती थी।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि वे अपनी दो-टूक राय देने में हिचकिचाते थे। व्यक्ति से अलग व्यवस्था पर वे तीखे-से-तीखे प्रहार हर मौसम में, चाहे एमरजेंसी हो या किसी का भी राज हो या 'अराज', करते ही रहे। परन्तु वे प्रहार, प्रहार के लिए प्रहार, कभी नहीं थे, उनमें सदा ही देश के भविष्य के प्रति अकुलाहट झलकती थी, वही राह की खोज उनके लेखन में और उनके जीवन में सहज व्याप्त थी। व्याकुलता से घिरे रहे वे जीवन-पर्यन्त।

इतने नज़दीक होते हुए भी कई मुद्दों पर अलग भी थे। मद्यपान एक ऐसा ही मुद्दा था जिस पर मेरे अत्यन्त कठोर विचार होते हुए कभी चर्चा नहीं की। वे जानते थे कि मैं स्वयं तो पीता ही नहीं हूँ साथ ही मैं नशाबन्दी का घोर पक्षधर हूँ। और मुझे उनके साथ निब्बूपानी के साथ लम्बी साँझ बिताने में कभी कोई असमंजस नहीं रहा। अपना-अपना विचार। परन्तु वह भेद उनके मन में हमेशा बना रहता था और उन विचारों का ज़िक्र भी कर ही दिया करते थे। मगर एक दिन, शायद सत्तर के अंत, अस्सी के शुरू में बात हो रही थी। पंजाब घूमकर आये थे। कहने लगे 'शर्मा जी, पंजाब में जो हो रहा है उसे देखने के बाद मैं आपसे नशाबंदी की बात पर भी सहमत हूँ। क्या हमारे विकास की यही परिणति होनी है?' और फिर बताने लगे, 'जहाँ कल तक बड़े-बड़े गिलासों में छाछ पीना एक स्वाभिमानी परंपरा थी, वहाँ आज हर तीसरी दूकान शराब की दूकान है।' तथ्यों के सामने सिद्धान्तों को बदलने के लिए सदा तैयार सच्चा समाजशास्त्री बोल रहा था। यही तथ्यों की खोज उनकी बातचीत का अभिन्न अंग हुआ करती थी। और उन्हीं तथ्यों से वे अपने सिद्धान्तों का ताना-बाना बनाते रहते थे, उसमें रंग भरते रहते थे और उन पर विद्वता का बोझ लादे बिना सहज रूप से सभी से शेयर करते थे, जिससे उनसे मिलने के बाद सदा ही नयेपन की, सदा ही कुछ मिल जाने की अनुभूति होती थी। यही उनके इतने सर्वप्रिय होने का राज़ है, अपने ढंग का अरस्तू।

ऐसे ही आत्मीय क्षणों में वे कमारों के बारे में बात करते थे। उनके बारे में अपनी चिन्ता ही नहीं, अपने न कुछ कर सकने का एहसास भी दुबे जी के मन में बना रहा। जिस कमार के अध्ययन ने उन्हें दुनिया के समाजशास्त्रियों की सभा में प्रतिष्ठित किया, वह कमार अभी उसी हालत में है, शायद उसकी लँगोटी कुछ और छोटी ही हुई है। उसी बोध से वे हमेशा उसकी बात करते रहे, कुछ हो सके तो करूँ, कहते रहे। कमार-परियोजना उसी का परिणाम है। सामान्य शासकीय पदावलि में आदिवासी एक नाम है, कुछ आँकड़े हैं, बस··· । उनकी इसी संवेदना ने मुझे याद आता है कि उनके ऑपरेशन के बाद जब मैं मिलने गया तो कहने लगे, 'शर्माजी, बस्तर जरूर जाइए, वहाँ धोतीवाले कलेक्टर की ज़रूरत है।' यह एक छोटा-सा वाक्य सब कुछ कह गया जिसे मैं अपनी गाँठ में बाँधे रहा 'धोतीवाला कलेक्टर' के रूप में, और उनको भी जिसका एहसास हमेशा बना रहा।

बस्तर के मेरे काम में उन्होंने सदा बड़ी रुचि ली। वहाँ से जब विवाद के घेरों में भोपाल आया तो मुझे दिल्ली से बुलावा आया। उनके मित्र प्रोफ़ेसर नूरुल हसन उस समय मंत्री थे और समाज कल्याण उनके पास था। समाज कल्याण में ही आदिवासी शामिल थे। उनसे मुलाक़ात में साफ़ कह दिया—'दिल्ली के वातानुकूलित कमरों से आदिवासी-विकास नहीं हो सकता है।' बाद में मालूम हुआ कि दुबे जी ने अपने मित्र को इस तरह की प्रतिक्रिया के लिए पहले ही आगाह कर दिया था और आपस में बात करके किसी भी हालत में मुझे दिल्ली लाने का फ़ैसला भी कर लिया था। सो बड़े ही संजीदा और सुसंस्कृत प्रोफ़ेसर नूरुल हसन मेरा वार पी गये और सवाल को ही सवाल का जवाब बनाकर मुझे निरुत्तर कर दिया, 'आप बताइए, अब क्या करें?'

आज़ादी के बाद आदिवासी विकास की नीतियों पर आम धारणा है कि एल्विनवाद छाया रहा। एल्विनवाद क्या है यह किसी ने जानने की ज़रूरत नहीं समझी। जब एल्विनवाद की गाली से काम चल जाय तो और करना भी क्या है! अपनी दूकान चलाने ही नहीं, उसके फलते-फूलते रहने के लिए भी अचूक नुस्ख़ा है। 'क्या आदिवासियों को अज़ायबघर की वस्तु बनाये रखना ठीक है?' एल्विन की किसी किताब में, वह भी उत्तर-पूर्व सीमांत एजेंसी के संदर्भ में कही गयी बात, 'काग़ज़ों की दुनिया' का सत्य हो गयी जिस पर अंतहीन बहस, अंतहीन लेखन होता रहा क्योंकि उस दुनिया में शब्दों का बाज़ार है, वह शब्द किसी वास्तविकता से भी जुड़ा हो, यह ज़रूरी नहीं। आदिवासी क्षेत्रों में हर तरह की घुसपैठ ही नहीं खुला आक्रमण होता रहा और हमारे देश के विद्वान् एल्विनवाद के शव-परीक्षण में मुस्तैदी से लगे रहे। डॉ. दुबे उन गिने-चुने समाजशास्त्रियों में से थे जो कहा करते थे कि कब तक नाक की लंबाई और आँखों के रंग का आकलन करते रहोगे? वे उस संघर्षरत संक्रमणकाल की विभीषिका को झेलते हुए उस मानव समूह की समस्याओं और उनके निदान के लिए अध्ययन के पक्षधर थे। इसी गहरी चिन्ता ने उन्हें विश्वविद्यालयों के बाहर आदिवासियों में अलग-अलग हैसियत से काम करनेवालों के अध्ययनों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रेरित किया। इसी के चलते उनके काम को अकादमिक मान्यता भी दी। कई बार तो ख़ास अकादमिक मूल्य न होते हुए भी तथ्यों के या सिर्फ़ काग़ज़ों के संकलन तक को डिग्री के लिए उपयुक्त मान लिया। जब उनसे इस बात के लिए मैं अपनी असहमति जताता, तो कह देते 'क्या करें डॉक्टर साहब, चलो इतना तो किया।'

दिल्ली में जब आदिवासी-विकास के मामले के लिए मेरी पद-स्थापना हुई तो पहला काम तो यही था कि क्या किया जाये? आदिवासी विकास की नीति क्या हो? उस पर चर्चा ही न होकर उसके लिए ठोस भूमिका तैयार की जाये। दुबे जी उस समय इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडीज़, शिमला के अधिष्ठाता थे। उन्हीं की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई जिसने आदिवासी विकास के लिए एक रूप-रेखा तैयार की, जिसे 'आदिवासी उपयोजना' का नाम मिला। देश में पहली बार एक व्यवस्थित कार्य-नीति बनी, जो आज बाईस साल के बाद भी उसी रूप में नीति के रूप में स्थापित है। यह अलग बात है कि उसे ईमानदारी से लागू नहीं किया गया जिसके कारण स्थिति बिगड़ती गयी है। परन्तु एक व्यावहारिक और वैचारिक नीति के रूप में उसका कोई विकल्प नहीं है। यही नहीं, प्रशासन में

इससे काम नहीं चल रहा है, कह कर नित नयी कार्य-योजना बनाकर कुछ न होने के बावजूद कुछ करते रहने का भ्रम पैदा करने की बात भी आदिवासी विकास के मामले में नहीं हो पायी, क्योंकि वह कार्य-योजना एक ऐसे चिन्तन और सिद्धान्तों पर आधारित थी जो ज़िन्दगी की वास्तविकता से जुड़ी थी और मानवसमाज के उदात्त आदर्श जिसके दिशा निर्देशक थे। उस नीति को आदर्शमय व्यावहारिक रूप देने में उस ऊबड़-खाबड़ धरती पर खड़े और विचार-जगत की उच्चतम ऊँचाइयों में सहज गति से उड़नेवाले मृदुभाषी मगर अक्खड़ व्यावहारिक चिन्तक डॉ. श्यामाचरण दुबे का एकल नेतृत्व अविस्मरणीय है और उनका अनन्य योगदान है। मेरी नज़र में उनकी उपलब्धियों में उनसे ही अगर पूछा जाता आकलन के लिए, तो वे भी उसे ही अलग रखकर कह देते कि इसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। ज्ञान का मानवता के लिए समर्पण उनकी सहज वृत्ति थी।

मेरी दुबे जी से एक ही शिकायत रही। देश में वे उन विरल समाजशास्त्रियों में से थे जो आदिवासियों की आज की संक्रमणकालीन स्थिति में एक मुक़म्मिल अध्ययन पीठ ही नहीं, एक अध्ययन की धारा जिसे 'स्कूल' कहते हैं, का निर्माण कर सकते थे। उसके लिए ज़रूरी था एक जगह बैठना। मध्यप्रदेश और उनका अपना प्रारंभिक अध्ययन का क्षेत्र, दोनों ही दृष्टियों से नियति ने उन्हें उस स्थान पर खड़ा भी कर दिया था। परन्तु दूसरी चुनौतियों, उनके व्यापक चिन्तन मूलक कार्य-आयाम, और विचरण-वृत्ति से वह संभव नहीं हो पाया। मैं जब मध्यप्रदेश में सचिव बना तो उन्हें एक ऐसे संस्थान को स्थापित करने के लिए राज़ी भी कर लिया था परन्तु नियति ही कहा जाय कि जब तक उसे व्यवस्थित रूप दे पाता, उसके पहले ही मैं स्वयं विवादों के घेरे में वहाँ से चला गया। हमारे देश में 'स्कूल' बनाने की उन लोगों ने कोशिश की जो उसकी ऊँचाइयों तक पहुँचने में असमर्थ थे। और सहज रूप से उस ऊँचाई पर अवस्थित था वह घुमंतू, जो कहीं रुक नहीं पाया, रुका नहीं। यह अवसर, लगता है चूक गया, जिसकी पूर्ति कभी हो नहीं पायेगी।

विवादों के घेरे में रहना मानो मेरी सहज वृत्ति ही रही है। उन्हीं क्षणों के बीच दुबे जी से लम्बी बातें, लीला जी का बीच-बीच में चाय या छाँछ और मिठाइयों के साथ सहज और सजग हस्तक्षेप अविस्मरणीय हैं। जब भी पहुँच जाता तो मन खोलकर रख देता। बड़े सजग ढंग से उन तक पहुँची बात वे बता देते और बिना कुछ जाने हुए भी सहज विश्वास के आधार पर उसका प्रतिवाद और खंडन भी जता देते। जनहित के मामलों में किसी भी वक्तव्य से जुड़ना उनके लिए आम बात थी। परन्तु उसके साथ एक ख़ास बात थी हम दोनों के बीच की कि उनसे बिना पूछे उनकी ओर से वक्तव्य ज़ारी करने का अधिकार, ज़रूरत हो तो उनके दस्तख़त बनाकर भी। कैसे मानूँ कि वह व्यक्ति आज नहीं है। लगता है, कहीं ऊपर से ही उसी मीठी मुस्कान से किसी कमरे का अवकाश ही वह आकाशीय अवकास ही भर गया हो, काल की सीमाओं को लाँघता हुआ। और निहार रहा हूँ, उसी ओर अपलक···निश्शब्द, संवाद को मन की गहराइयों में सँजोये हुए··

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी

□ नामवर सिंह

"आज का बुद्धिजावी देशज चिंतन से कटता जा रहा है, साधारणजन से उसकी दूरी बढ़ती जा रही है। वह अधिकांशतः विदेशी भाषा में लिखता और छपवाता है। भारतीय भाषाओं में लिखनेवाले की या तो अनदेखी की जाती है, या उसे दूसरे या तीसरे दर्जे का बुद्धिजीवी मान लिया जाता है।" ये शब्द हैं प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे के। उनकी अंतिम पुस्तक 'समय और संस्कृति' से। मरणोत्तर प्रकाशित। मूलतः हिन्दी में लिखित। अंतिम दिनों में दुबे जी अधिकांशतः हिंदी में ही लिखते थे। इस गुनाह की सज़ा भी मिली। दूसरे दर्जे के 'बुद्धिजीवी' माने जाने लगे। इन शब्दों में कहीं-न-कहीं उनकी अपनी पीड़ा भी है। 'भारतीय ग्राम' मूलतः अंग्रेज़ी में लिखी गयी थी। यह दुबे जी की दूसरी पुस्तक थी। देश के साथ-साथ विदेश में भी सराही गयी। आज भी दुबे जी उसी पुस्तक के लिए याद किये जाते हैं। इस प्रशंसा में भी एक दंश है। उसे दुबे जी ख़ूब समझते थे।

सवाल सिर्फ़ भाषा का नहीं है। असली मुद्दा है, देशज चिंतन। दुबे जी यदि इस पक्ष से विचलित नहीं हुए तो इसलिए कि उनके सामने और भी मिसालें थीं। धूर्जटिप्रसाद मुखर्जी ने भी अपना बहुत-सा महत्त्वपूर्ण लेखन बंगला में किया था। थे समाजशास्त्री, पर लिखा संगीत पर, साहित्य पर और संस्कृति पर भी। ऐसे ही समाजशास्त्री थे अक्षय कुमार देसाई। अंग्रेज़ी के साथ-साथ गुजराती में भी लिखनेवाले। साधारणजन के संघर्षों से संबद्ध। ऐसे देशज चिंतन करनेवाले बुद्धिजीवी और भी होंगे लेकिन फिलहाल दुबे जी के साथ धूर्जटि बाबू और अक्षय भाई ही याद आ रहे हैं। आकस्मिक नहीं कि इन तीनों समाजशास्त्रियों की दृष्टि में संस्कृति प्रधान थी और सांस्कृतिक संवेदना उनके समाजशास्त्रीय चिंतन के केन्द्र में थी। फिर वह सांस्कृतिक संवेदना ही क्या जिसमें अपनी भाषा, साहित्य और कला की पहचान का कोई प्रमाण न हो।

हिंदी को दुबे जी ने वरण किया था, स्वेच्छा से। किसी प्रलोभन से नहीं। बड़े प्रलोभनों को ठुकराकर। इसलिए जो हिंदी लिखी वह मातृ-भाषा मानकर बायें हाथ से नहीं, बल्कि गद्य को एक कला समझकर। प्रांजल, सायास। लेकिन अंग्रेज़ी का अनुवाद नहीं। भाषा की मौलिक प्रकृति का सम्मान करते हुए। दुबे जी को पढ़ते हुए, और सुनते हुए भी, बराबर यह एहसास होता रहा है कि यह समकालीन साहित्य से रसी-बसी वाणी है। अच्छी भाषा लिखना और बोलना भी उनकी दृष्टि में एक संस्कृति है।

वैसे, वे अपने आपको सिर्फ़ एक पाठक मानते थे। यह उनकी विनम्रता थी। इस प्रसंग में उनकी दो आत्मस्वीकृतियाँ याद आती हैं। एक तो यह कि "साहित्य किसी चोर दरवाज़े से मेरी ज़िंदगी में आया और जमकर बैठ गया है। सुख-दुःख के इस साथी को मैंने कभी अपने

से अलग करने की कोशिश नहीं की।" और दूसरी यह जो अधिक मार्मिक है : "साहित्य मेरे अन्तर्मन में कितनी गहराई तक उतर गया है, इसका एहसास उस दिन हुआ जब 1969 में एक के बाद एक कठिन ऑपरेशनों के बाद, ज़िंदगी और मौत के बीच अनिश्चय की घाटियों में भटकते हुए, मूर्च्छा से चेतना की ओर मैं हिन्दी कविता-पंक्तियों के साथ लौटता था।"

ये दोनों ही आत्मस्वीकृतियाँ 'साहित्य की मेरी पहचान' शीर्षक लेख में हैं जो 'परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति' नामक पुस्तक में संकलित है। यह लेख मूलतः उनके एक भाषण का आलेख है, जो उनके प्रकाशक मित्र स्वर्गीय ओंप्रकाश की स्मृति में आयोजित एक सभा में दिया गया था। संयोग से उस आयोजन में मैं भी एक वक्ता था, लेकिन यादगार भाषण तो दुबे जी का ही है। बहरहाल, उन आत्मस्वीकृतियों से स्पष्ट है कि दुबे जी साहित्य के सच्चे पाठक थे ; वर्जीनिया वुल्फ के 'सामान्य पाठक' जिसकी तलाश हर लेखक को होती है, लेकिन जो दिन-पर-दिन दुर्लभ होता जा रहा है। हिंदी में इस अहैतुक पाठक के अभाव की शिकायतें तो अक्सर सुनाई पड़ती हैं, लेकिन उस अलक्षित पाठक के अनुभव की एक झलक दुबे जी ने ही पहली बार दी थी। शास्त्र में साधारणीकरण के द्वारा संप्रेषण-ग्रहण की समस्या भले ही सरल ढंग से सुलझा दी गयी हो, लेकिन अनुभव के स्तर पर पाठक के अन्तर्मन की प्रतिक्रियाओं में अनेक परतें होती हैं—इसका एहसास दुबे जी ने ही पहली बार कराया। इस प्रसंग में उनका यह अनुभव-सत्य आज भी स्मरणीय है : "अंततः साहित्य की पहचान एक व्यक्तिगत अनुभव है, बेहद अपना, बहुत निजी।"

यह अनुभव-सत्य साधारणीकरण के प्राचीन काव्य-शास्त्र के लिए भी चुनौती है और साहित्य के आधुनिक समाजशास्त्र के लिए भी। साहित्य के अपने निजी अनुभव से प्रेरित होकर ही दुबे जी साहित्य के माध्यम से समाज के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि समाज के "प्रत्यक्ष अध्ययन का हिमायती होते हुए भी मैं साहित्य के माध्यम से भी भारतीय समाज में होनेवाले परिवर्तनों को समझने की कोशिश कर रहा हूँ।" इस कोशिश का निष्कर्ष यह है कि प्रेमचंद, रेणु, श्रीलाल शुक्ल, राही मासूम रज़ा आदि के उपन्यास साहित्यिक रचनाएँ भी हैं और समाजवैज्ञानिक दस्तावेज़ भी। इतना ही नहीं, बल्कि "भारतीय ग्रामीण जीवन को उन्होंने साहित्यकार की तीसरी आँख से देखा है और उसके कुछ ऐसे पहलुओं के सूक्ष्म तत्त्वों की मार्मिक विवेचना की है, जो हमारी शुष्क वैज्ञानिक दृष्टि और कष्ट-साध्य सांख्यकीय विश्लेषण की पकड़ में नहीं आते।" इस प्रसंग में 'राग दरबारी' का उल्लेख करते हुए दुबे जी ने तो यहाँ तक कह दिया कि "विराट् समाजशास्त्रीय कल्पना वाले बीस विद्वान् ग्रामीण यथार्थ के बारे में जो नहीं कह सकते, वह इस एक उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने कह दिया है।"

साहित्य का कोई समालोचक ऐसा वक्तव्य देता, तो वह अतिशयोक्ति कहलाती, लेकिन दुबे जी की यह उक्ति साहित्य के प्रति समाजशास्त्र का समुचित सम्मान है। खेद है कि तीन-चार फुटकर लेखों के अलावा दुबे जी ने हिंदी उपन्यासों के समाजशास्त्र पर कोई व्यवस्थित ग्रंथ प्रस्तुत नहीं किया। फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि इस दिशा में उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत-सूत्र छोड़े हैं।

सच पूछिए तो 'उपन्यास का समाजशास्त्र' और 'साहित्य का समाजशास्त्र' उनके अध्ययन की मुख्य विषय-सूची में था भी नहीं। हिंदी की कविता, कहानी, उपन्यास आदि

पढ़ना दरअसल उनके शौक में शामिल था। यह और बात है कि इन साहित्यिक कृतियों ने उनकी 'समाजशास्त्रीय कल्पना' को प्रीतिकर विस्तार दिया। साहित्यानुशीलन को सीधे-सीधे इससे क्या मिला, यह बताना तो फिलहाल थोड़ा मुश्किल है, पर समाजशास्त्र को निश्चय ही संस्कृति का एक नया आयाम मिला। एहसास हुआ कि संस्कृति में अप्रत्याशित प्रतिरोधात्मक शक्ति है और इस प्रत्यय का प्रयोग एक आलोचनात्मक औज़ार के रूप में हो सकता है। 'विकास' की आलोचना भारतीय संदर्भ में दुबे जी ने इसी सांस्कृतिक औज़ार से की। उपलब्धि है 'विकास का समाजशास्त्र'।

और अब अंत में एक नज़र उस दुर्लभ व्यक्तित्व पर : विविध भूमिकाओं के साथ। मनोहरश्याम जोशी के उपन्यास 'कुरु-कुरु स्वाहा' में दुबे जी को जोशी जी के व्यक्तित्व की तिमंज़िली इमारत का प्रतिरूप बहुत दिलचस्प लगा था। उनके ख़याल में उपन्यास की कथावस्तु और शिल्प में तीन से अधिक व्यक्तित्व दबे पड़े थे। क्या दुबे जी के व्यक्तित्व की इमारत में भी कहीं ज़्यादा मंज़िलें नहीं थीं?

दुबे जी को एक और 'मॉडल' या प्रतिरूप पसंद है 'कंथा' का। संस्कृति को वे पेड़ या नदी की अपेक्षा एक 'कंथा' के रूप में देखते हैं। कंथा अर्थात् 'कंथरी' जिसका निर्माण अलग-अलग रंगों, आकारों और बुनावटों के कपड़ों को जोड़कर किया जाता है। प्रसादजी को भी कभी अपना जीवन 'कंथा' की तरह लगा था और उनका यही अनुरोध था कि "सीवन को उधेड़कर देखोगे क्यों मेरे कंथा की?" क्या दुबे जी का भी व्यक्तित्व एक रंग-बिरंगी कंथा नहीं था?

आज उस कंथा की सीवन उधेड़कर देखने का न अवसर है, न आवश्यक अवकाश। फिर भी बनावट, बुनावट और रंगरेजी पर एक नज़र तो डाली ही जा सकती है।

देखने में अत्यंत आधुनिक, लेकिन साथ ही परंपरा के परम पक्षधर।

बुनावट में शहर की सभ्यता का ताना और गाँव की संस्कृति का बाना, कहीं-कहीं आदिवासियों की विलक्षण कारीगरी भी।

विवेचन-विश्लेषण में एक प्रशिक्षित मानवविज्ञानी की वैज्ञानिक दृष्टि के साथ ही साहित्य के अवलोकन से अर्जित संवेदनशीलता।

सत्ता-संस्थानों से निरंतर संबद्ध रहते हुए भी असहमति और विरोध की हिमायत।

संगोष्ठियों-सभा-सम्मेलनों का अभ्यस्त प्राणी होते हुए भी कहीं-न-कहीं अपने-आपमें रहने की क्षमता।

हर तरह से पर्याप्त सफल, फिर भी विफलता के एक दंश से पीड़ित।

सर्वथा सुरक्षित, फिर भी असुरक्षा से आशंकित।

कहना न होगा कि यह कोई वस्तुगत व्यक्तित्व-विश्लेषण नहीं, बल्कि एक ऐसे व्यक्ति का शुद्ध मनोगत और नितांत निजी आकलन है, जो दुबे जी के संपर्क में पहली बार 1959 में सागर में आया था और तब से छोटे-मोटे अंतराल के बावजूद लगातार संपर्क में रहा है। आज भी मेरी आँखों के सामने ओठों में दबी पाइप के साथ ईषत् स्मिति वाली छवि है, जो लगभग दुबे जी की स्थायी छवि थी। इस छवि के साथ जाने क्यों निराला की वे दो पंक्तियाँ अनायास याद आ जाती हैं : *वह हँसी बहुत कुछ कहती थी/फिर भी अपने में रहती थी।*

समान-धर्मा समाजशास्त्री

□ पूरनचंद्र जोशी

कितने तो फूल झरे, जब से तुम बंधु गये
कितने नव फूल खिले, जब से तुम बंधु गये।

प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे का निधन 1996 की एक राष्ट्रीय महत्व की दुखद घटना है और देश और अकादमिक जगत् की अपूरणीय क्षति। दुबे जी बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे जो अकादमिक और गैर-अकादमिक दोनों क्षेत्रों में फलीभूत हुई। विदेश, देश और समाज द्वारा शिक्षा, समाज और हिंदी लेखन में अपने बहुमुखी योगदान के लिए वे मान्यता प्राप्त भी थे। अपने जीवन काल में ही जितना सम्मान दुबे जी को मिला वह बहुत कम लोगों को मिलता है। दुबे जी उस त्रिमूर्ति में (एम.एन. श्रीनिवास, ए.आर. देसाई और एस.सी. दुबे) में शामिल थे जो समाज- शास्त्र के क्षेत्र में स्वतंत्रता संग्राम के युग को नवोदित राष्ट्रीय राज्य द्वारा प्रेरित राष्ट्रीय निर्माण के युग से और उस युग के धर्म विकास के मुद्दों से जोड़ती थी जिसने राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्र निर्माण के अंतर्विरोधों से पैदा हुए असंतोष और मोह भंग के युग का आरंभ भी देखा और उभरते नये मुद्दों को समाजशास्त्रीय चिंतन और शोध का विषय बनाया।

आदरणीय दुबे जी नहीं रहे, यह सूचना मुझे हिंदी के नामी लेखक डॉ. रमेश उपाध्याय के पत्र से अमरीका प्रवास के दौरान मिली। अचानक स्तब्ध-सा रह गया। वहाँ अपने आस-पास कोई ऐसा न था जिसे अपने शोक और दुःख का भागीदार बनाता। ई. मेल द्वारा करोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली में इतिहास की प्राचार्या डॉ. वंदना चौधरी से संपर्क किया और उनके द्वारा लीला जी को शोक और संवेदना संदेश भेजा। (दुबे जी मुझसे पहले करोड़ीमल कॉलेज की प्रबंधक समिति के अध्यक्ष रह चुके थे)। उत्तर में लीला जी का पत्र मिला और उनसे अंतिम दिनों में दुबे जी के तेजी से गिरते स्वास्थ्य की स्थिति ज्ञात हुई और पता चला कि किस प्रकार अंत तक वे सचेत थे, मृत्यु का सामना करने के लिए मनोबल से कदापि कमजोर नहीं और किस प्रकार उन्होंने अंतिम क्षण में दृष्टि के संकेत द्वारा ही मूक संभाषण से उनसे विदा ली। यह सब उनके चरित्र के अनुकूल ही था। याद आया, कई वर्ष पूर्व महाजन नर्सिंग होम में गाल ब्लैडर की शल्यचिकित्सा के उपरांत जब कुछ कांप्लीकेशन के कारण वे इलाज करा रहे थे तब भी कष्ट और बेचैनी के बावजूद उन्होंने अपना धैर्य नहीं खोया, अपने पर काबू रखे रहे।

नवंबर 1995 में ही तो उनसे साक्षात्कार हुआ था। वे दिल्ली विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में एम.एन. श्रीनिवास के सम्मान में आयोजित अभिनंदन ग्रंथ विमोचन

समारोह में शरीक थे। शरीर से कमजोर अवश्य दीखे, छड़ी लेकर चलने लगे थे, शायद पाँव की तकलीफ के कारण, किंतु उनका श्रीनिवास के सम्मान में मुख्य अतिथि के रूप में दिया गया भाषण अत्यंत स्पष्ट, सारगर्भित और प्रासंगिक था। संक्षेप में, कम समय में वे कई महत्त्वपूर्ण बातें कह गये। उनसे मिलकर इस बात का कोई संकेत नहीं मिला था कि जल्दी ही, एक वर्ष के भीतर ही, उनके स्मृति ग्रंथ के लिए उनके संस्मरण लिखने का पीड़ा देने वाला कर्तव्य निभाना पड़ेगा। इस बात को स्मरण कर अत्यंत दुःख हुआ कि उनसे पिछले कई वर्षों में उनके दिल्ली आवासी होने के बाद गोष्ठियों और औपचारिक मीटिंगों में ही भेंट होती रही। हर बार यह तय हुआ कि उनके घर पर कभी लंबी बातचीत के लिए बैठक होगी। लेकिन महानगर व दिल्ली की दूरियों और अन्य विवशताओं के कारण यह संभव न हो सका, बहुत कुछ अनकहा रह गया; कई मुद्दों पर बहस अधूरी रह गयी, उनसे बात कर जो प्रेरणा, मार्गदर्शन मिल सकता था उसके अवसर खो दिये।

कहते हैं जिस प्राकृतिक वैज्ञानिक की प्रतिभा तीस वर्ष के अंदर किसी मौलिक योगदान के रूप में फलीभूत नहीं हुई, वह बाकी जीवनकाल में भी मीडियौकर ही रहेगा। लेकिन अब सभी मानते हैं कि मानव संबंधी अनुशासनों में साठा पाठा होता है, यानी साठ के ऊपर अनुभव और मनन से पकी हुई प्रतिभा सर्जनात्मकता का एक नया बसंत लेकर उभरती है। दुबे जी की भी पकी हुई, तपी हुई प्रतिभा अभी अन्य नयी दिशाओं, नये क्षेत्रों में प्रस्फुटित होने के लिए तैयार थी। दुबे जी उस पके हुए दौर में प्रवेश कर चुके थे—जब एक शोधकर्ता अपने अनुभव, चिंतन और निरीक्षण के आधार पर अपने अहं, अपने पूर्वाग्रहों और अपनी सीमाओं से ऊपर उठकर अपने कृतित्व का ही पुनर्मूल्यांकन करने में समर्थ होता है, जब वह, जिसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हर्शमैन ने 'सेल्फ सबमरजन' या 'अपने से विद्रोह कहा है,' का साहस जुटा पाता है, लेकिन इसके पहले कि इस नये दौर का पूरा फल अकादमिक जगत् और देश को मिले, दुबे जी की आत्मा अनंत में विलीन हो गयी। अब उनसे उनके लेखन के आधार पर ही संवाद हो सकता है। जो नयी दिशा, नयी अवधारणाओं के संकेत उन्होंने अपने अंतिम लेखन में छोड़े हैं, उन्हीं के आधार पर संवाद को, उनकी परंपरा को आगे बढ़ाया जा सकता है। एक बुनियादी अर्थ में हर प्रतिभाशाली विचारक का काम सदा अधूरा ही रहता है, जिसे आगे बढ़ाना नयी पीढ़ी का दायित्व है, उसके लिए चुनौती भी।

अब दुबे जी से प्रत्यक्ष संवाद नहीं हो पायेगा, यह बात व्यक्तिगत तौर पर मेरे मन में इसलिए भी कसक पैदा करती है कि दुबे जी मेरे साथ कभी ऐसे पेश नहीं आये जैसे एक 'सीनियर' किसी जूनियर के साथ पेश आता है। आरंभ से ही उन्होंने सदा बराबरी के स्तर पर बातचीत की। यही कारण था कि उनके साथ मेरे संबंध औपचारिकता से एकदम मुक्त थे। याद नहीं उनके साथ प्रथम परिचय कब हुआ। लेकिन जान-पहचान के आरंभ से ही मैंने सदा अपनी बात दो टूक कही, उन्होंने सुनी और कभी-कभी बात के अप्रिय होने पर भी नाराज़गी का इज़हार नहीं किया। उन दिनों मेरे जैसे लोगों में बात करने में संयम, शिष्टता और मधुरता का अभाव-सा ही था। लेकिन दुबे जी हमारी विचारधारा का आदर तो करते ही थे हमारी अभिव्यक्ति की उग्रता के प्रति भी सहिष्णु ही लगे। किसी को जवाब देने में वह तीखे वचन बोलना भी जानते थे और हँसते-हँसते मधुर वचनों से ही बड़ी मार्मिक चोट करने में भी माहिर

थे। लेकिन मुख्य बात यह है कि वे वैचारिक टकराहट से कभी नहीं कतराए। यही वजह है कि उनके साथ हर टकराहट से मुझे नये प्रकार से सोचने का प्रोत्साहन मिला।

हमारे अकादमिक जगत् में मठाधीशी परंपरा का बड़ा बोलबाला रहा है और किसी प्रकार की भी आलोचना अधिकतर वरिष्ठ पीढ़ी के विद्वानों को बहुधा सहनीय नहीं रही है। सुनते हैं समाजशास्त्र के एक सर्वश्रेष्ठ केंद्र में जिसे श्रेष्ठता के लिए यू.जी.सी. से मान्यता मिली थी, एक युवा छात्र द्वारा एक विदेश से आये प्रोफ़ेसर से बार-बार प्रश्न करने पर विभाग के प्रमुख लोगों द्वारा उसकी भर्त्सना हुई और उस प्रोफ़ेसर से अपने अशिष्ट व्यवहार के लिए खेद प्रकट करने को कहा गया। वह छात्र आश्चर्यान्वित हुआ जब उस विदेशी प्रोफ़ेसर ने उसका उसके प्रश्नों के लिए आभार प्रकट किया। जब छात्र ने स्वयं अपने प्रोफ़ेसरों द्वारा अस्वीकार का बोध कराया, तो प्रोफ़ेसर बोल उठे : "अरे भाई, मैं भारतीय प्रोफ़ेसर नहीं हूँ। हमारे यहाँ प्रश्न न करने वाले का अस्वीकार होता है, प्रश्न करने वाले का नहीं।"

छात्रों द्वारा आचार्यों की आलोचना के अस्वीकार की यह परंपरा बड़ी पुरानी है जिसके शिकार भारतीय समाजशास्त्र के संस्थापक पीढ़ी के अनेक आचार्य रहे हैं। इस परंपरा ने भारतीय समाजशास्त्र के विकास में बड़ा अवरोध पैदा किया है। मेरे अपने गुरु प्रो. राधाकमल मुखर्जी भी इस दुर्गुण से मुक्त नहीं थे। अप्रिय सत्य को न सह पाने की उनके चरित्र दुर्गुण की ज्वलंत मिसाल अपने गुरु को आदरणीय मानते हुए भी गुरुडम को चुनौती देने वाले उनके पूरे अध्यापन काल के सबसे मेधावी और सबसे निर्भीक छात्र अवधकिशोर सरन से उनके दुर्व्यवहार की है। सरन साहब ने 'इंडियन सोशियोलॉजी' नामक अपने बहुचर्चित लेख में मुखर्जी साहब के योगदान की भरपूर प्रशंसा से भरी व्याख्या के बाद एक छोटे से अनुच्छेद में उनकी कमजोरियों की तरफ भी संकेत किया था। एक वाक्य में तो उन्होंने गागर में सागर भरते हुए मुखर्जी साहब के शब्दाडंबर (वर्बीसिटी) और 'लॉजिकल रिगर' की कमी की तरफ बड़े सारगर्भित शब्दों में इशारा किया : "इंटैलैक्चुअल रिगर इज फौरेन टु हिज होल मोड ऑफ थाट"। बस यह पढ़ते ही मुखर्जी साहब ऋषि दुर्वासा की तरह क्रुद्ध हो उठे और जैसे उन्होंने शाप दे दिया—जा मेरे रहते तेरी कभी भी तरक्की नहीं होगी! क्योंकि तू गुरुनिन्दक है और गुरु निन्दा से बढ़कर कोई बड़ा पाप नहीं है!

यही व्यवहार उन्होंने उच्च कोटि के विद्वान् अपने सहकर्मी धूर्जटि बाबू के साथ किया। जब तक वे विभागाध्यक्ष रहे अपने अध्यापन काल के अधिकांश भाग में धूर्जटि बाबू लेक्चरर-रीडर पद से ऊँचे नहीं उठ सके। बाद में कुलपति आचार्य नरेन्द्रदेव के हस्तक्षेप से ही वे अल्प काल के लिए प्रोफ़ेसर बन पाये लेकिन उसके बाद उन्हें अलीगढ़ जाना पड़ा, लखनऊ विभाग ने उन्हें एक्सटेन्शन नहीं दिया। कालान्तर में लखनऊ के एक समय के श्रेष्ठता की ऊँचाइयों को छूने वाले विभाग के पतन के बीज भी संस्थापक आचार्य ने ही बोये थे।

दुबे जी के संस्मरण में इस सब चर्चा की प्रासंगिकता क्या है? यह सब इसलिए प्रासंगिक है कि सागर के बाद किसी केन्द्रीय, महानगरीय विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर के रूप में दुबे जी का न चुना जाना भी उनकी स्वयं अपनी स्वतंत्र प्रकृति से ही संबंधित है। केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के मठाधीशी नेटवर्क को भेद कर इनमें दुबे जी का प्रवेश पाना शायद उतना ही कठिन हुआ जितना अवध किशोर सरन का। ये दोनों समाज विज्ञान के प्रमुख केन्द्रों में

हाशिये पर ही रहे, मुख्य केन्द्र पर नहीं। और तुर्रा यह कि आज उन्हीं केन्द्रों के लोग उनके प्रति बड़ी कृपालुता ('कन्डैसैन्शन') का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि क्षेत्रीय विश्वविद्यालय तक ही सीमित होने के कारण उनकी प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हुआ।

यह सचमुच भारतीय समाजशास्त्र का दुर्भाग्य था कि एक ऐसा विद्वान् जो अपने बौद्धिक क्षितिज के सतत विस्तार द्वारा सदा विकासशीलता का परिचय देता रहा, जो भारतीय नृशास्त्र और समाजशास्त्र को विरासत में मिली औपनिवेशिक मानसिकता से सर्वाधिक मुक्तता का परिचय देता रहा और जो तीसरी दुनिया के नवोदित राष्ट्रों की वास्तविकता, नव भविष्य की खोज के आग्रहों और आकांक्षाओं से प्रेरित होकर समाजशास्त्रीय शिक्षण और शोध को नयी दिशा देने के सामर्थ्य का भी यथेष्ट संकेत देता रहा, वह समाजशास्त्र के मुख्य केन्द्रों में प्रवेश से वंचित रहा। यह स्वयं दुबे जी की इन केन्द्रों द्वारा मान्यता का प्रश्न नहीं है, उससे भी बड़ा प्रश्न है इन केन्द्रों द्वारा समाजशास्त्रीय शिक्षण और शोध के नयी दिशाओं में प्रयोग के अस्वीकार का प्रश्न, समाजशास्त्र को बदलती हुई सामाजिक पारिस्थितियों, सामाजिक आग्रहों और नये सामाजिक व्यवहारों और प्रयोग से न जोड़ पाने के कारण समाजशास्त्र के ठहराव का प्रश्न, समाजशास्त्र के एक नव औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त होने का प्रश्न। दुबे जी का अस्वीकार तो इन महत आग्रहों के अस्वीकार का इंगित या प्रतीक मात्र है।

मैं यह नहीं स्थापित कर रहा हूँ कि दुबे जी स्वयं मठाधीशी प्रवृत्ति से एकदम मुक्त थे। लेकिन कुछ अपने चरित्र के खुलेपन के कारण और कुछ इस कारण कि संकीर्ण माने में किसी आइडियोलॉजी या किसी अवधारणा विशेष के बंदी न होने के कारण वह अपने छात्र-छात्राओं और सहकर्मियों में भी खुलेपन के साधारणतः प्रोत्साहक रहे, बाधक नहीं। वे जहाँ भी निर्णायक भूमिका में रहे, विभिन्न विचारधाराओं के प्रतिभाशाली युवक-युवतियों की खोज में रहे और अपनी संस्था को श्रेष्ठता के उच्च स्तर पर ले जाने के लिए सचेष्ट। साथ ही ज्ञान की अविभाज्यता को मानते हुए वे समाजशास्त्र को अन्य अनुशासनों से और समाजशास्त्र विभाग को अन्य विभागों से जोड़ने के लिए सचेष्ट रहे। वे स्वयं बहुआयामी दृष्टि के समर्थक रहे। भारतीय संदर्भ में एक ही छत के नीचे काम करने वाले लोग दूसरे अनुशासनों में ज्ञान की प्रगति से अनजान ही रहते हैं और अपने दिमाग की खिड़कियाँ बंद रखने के आदी पाये जाते हैं, दुबे जी का इस दृष्टि से खुलापन उनके बौद्धिक चरित्र की बड़ी विशेषता मानी जानी चाहिए। उनके मित्र केवल समाजशास्त्री ही नहीं, अनेक अनुशासनों में पाये जाते हैं।

मैंने ऊपर इस बात का जिक्र किया था कि उनके साथ संवाद में कई बार मेरे चिंतन को, शोध को नया मोड़ मिला। इसकी दो-तीन मिसालें देना चाहता हूँ। सागर विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग की ओर से उन्होंने 'विकास का समाजशास्त्र' विषय पर एक सेमिनार साठ के दशक के अंत में आयोजित किया था। वहाँ मेरे 'कास्ट एण्ड इकानॉमिक डेवलेपमेंट' शीर्षक पर्चे को लेकर खूब बहस हुई, जिसमें दुबे जी ने भी हिस्सा लिया था और मेरे पर्चे की आलोचना की थी। पहले अपने घर पर भोजन के समय उन्होंने अलग से मुझे प्रोवोक करते हुए जैसे हँस-हँसकर एक शोशा छोड़ा : "लगता है अब जोशी जी मार्क्स को त्यागकर श्रीनिवास को गुरु मानने लगे हैं।" मैं चुप रहकर यह सुनता रहा। गोष्ठी में मेरी आलोचना में दुबे जी ने गंभीर तर्क पेश किया। उनका कथन था कि विकास की गति को तेज या मंद करने

में कारगर भूमिका 'कास्ट' की नहीं ('कास्ट' तो एक गौण घटक है), प्रमुख भूमिका तो ऐसे घटकों की है जिनका संबंध सीधे आर्थिक घटकों से है, यानी वर्ग-संबंधों से है, नये राज्य के संदर्भ में सत्ता संबंधों से भी है, यह बुनियादी मार्क्सवादी अवधारणा जोशी जी भूल गये लगते हैं। एक ऐसे विद्वान् से जो न मार्क्सवाद के ज्ञान, न मार्क्सवादी सम्मान के लिए जाना जाता था, मैं ऐसी मर्मस्थल पर चोट के लिए तैयार नहीं था। मैं एकदम कोई संतोषजनक जवाब नहीं दे सका। लेकिन अपने फील्ड वर्क के और सहज बुद्धि के आधार पर 'कास्ट' को गौण मानने के लिए भी तैयार नहीं था। 'कास्ट' की विकास में भूमिका के महत्त्व का प्रश्न मेरे लिए श्रीनिवास से परिचय के पूर्व ही एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बनकर उभरा था। 'कास्ट' के विकास प्रक्रिया पर प्रभाव का प्रमाण मुझे यदि पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जिलों में मिला था जहाँ किसानों में जाटों की प्रधानता है तो 'कास्ट' के विकास अवरोधक होने का प्रमाण मुझे पूर्वी उत्तर प्रदेश में मिला था जहाँ भूपति अधिकतर उच्च जाति के लोग थे और मध्य और निम्न जातियों के लोग काश्तकार और खेतिहर मजदूर थे। यानी 'कास्ट' और 'क्लास' का एक विचित्र संयोग मुझे देखने को मिला था जिसे मैं अभी सिद्धांत रूप में पकड़ नहीं पाया था। गोष्ठी के समाप्त होने के बाद मैं थ्योरिटिकल दृष्टि से इस समस्या का समाधान खोजता रहा। यानी 'कास्ट' की विकास प्रक्रिया में क्या भूमिका है? क्या यह 'क्लास' को नकारती है, या उसको 'रिइनफोर्स' करती है? क्या 'कास्ट' 'डिपेन्डेन्ट' है और 'क्लास' 'प्राइमेरी'? इस उलझन से निकलने के लिए मैंने मार्क्स की 'प्रीकैपिटैलिस्ट फार्मेशन' संबंधित रचनाओं का अध्ययन किया। मैं दुबे जी का ऋणी हूँ कि उन्हीं के द्वारा दिये गये 'प्रोवोकेशन' के फलस्वरूप मेरा शोध लेख 'स्टेटस एण्ड क्लास इन डेवलपिंग सोसाइटीज़' तैयार हुआ जो संक्षिप्त रूप में बहुआयामी पत्रिका 'इन्क्वायरी' में छपा और उसका वृहत रूप अभी अप्रकाशित है। इसी चिंतन से मेरा भारत में भूमि संबंधों का शोध कार्य भी प्रभावित रहा जिसमें दुबे जी से हुई चर्चा से भी मैं लाभान्वित हुआ।

दुबे जी के कथन से जो 'थ्योरिटिकल' मुद्दा सामने आया वह यह था कि क्या मार्क्स के सिद्धांत की दृष्टि से 'कास्ट' आर्थिक आधार (इकोनॉमिक वेसिस) का अंग है या सामाजिक और आइडियोलॉजिक अधिरचना (यानी 'सुपरस्ट्रक्चर') का? मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि 'आधार' और 'अधिरचना' का तीव्र विभेदीकरण पूँजीवादी विकास की उपज है। 'प्रिकैपिटैलिस्ट इकोनॉमिक फारमेशन' में तो, जिसका भारत में औपनिवेशिक युग में और उसकी विरासत के रूप में बाद में भी प्राधान्य रहा है, 'आधार' और 'अधिरचना' का तीव्र विभेदीकरण नहीं पाया जाता। वे एक संयुक्त संरचना के अविभाज्य अंगों की तरह एक-दूसरे को मजबूत करते और प्रभावित करते रहते हैं। 'कास्ट' और 'क्लास' की इस संगति ('कान्मुएन्स') पर बाद में समाजशास्त्रियों के बीच खूब वाद-विवाद हुआ है।

इसी सिलसिले में याद आता है कि मेरा बहुचर्चित पर्चा 'द कल्चरल डाइमेन्शन ऑफ इकोनॉमिक डेवलेपमेंट' भी दुबे जी के आग्रह के कारण ही लिखा गया। शिमला इंस्टीट्यूट द्वारा आयोजित 'टुवर्ड्स ए कल्चरल पॉलिसी' सेमिनार में दुबे जी द्वारा बार-बार निमंत्रित होने पर भी मैं शरीक न हो सका। दुबे जी से उसके बाद जब मुलाकात हुई तो मैंने क्षमा माँगी। उन्होंने कहा क्षमा एक शर्त पर मिलेगी कि यदि आप उस सेमिनार के लेख संग्रह के लिए

अपना लेख शीघ्र लिख कर दें। लेख बड़ा न हो तो छोटा ही सही। उसके बाद उनके ऑफिस से टेलीफोन आते रहे। वह पर्चा टाइप में करीब 130 पन्ने का हो गया। दुबे जी टेलीफोन पर बोले : आप भेजिए। बाकी हम देख लेंगे। बाद में उस संग्रह के संपादक सतीश सबरवाल ने घटा कर 75-80 पृष्ठ का पर्चा बनाया। उस पर्चे पर 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के उस समय के संपादक श्री श्यामलाल ने 'द नेशनल सीन ह्वैर पैरेसाइट्स प्रोस्पर' शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादक मनोहर श्याम जोशी ने 'परजीवी संस्कृति और बिचौलिया सत्ता' के नाम से। इन दोनों संपादकों के लेखन के बाद उस पर्चे की माँग कई क्षेत्र के लोगों से हुई और वह पर्चा एक सार्वजनिक बहस का आधार बना। दुबे जी अत्यंत संतुष्ट हुए कि उनका 'प्रोवोकेशन' सार्थक सिद्ध हुआ और उनके प्रति आभार से मैं आज भी नत मस्तक हूँ।

तीसरे वैचारिक 'एनकाउंटर' का आरंभ जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित एक गोष्ठी से कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ जो 'परंपरा और आधुनिकता' विषय पर आयोजित शायद छात्रों द्वारा हुई थी। विनम्रता की सीमा लाँघ कर कहूँ तो इस बार 'प्रोवोकेशन' मेरी तरफ से था। गोष्ठी जिस समसामयिक पृष्ठभूमि में हुई थी उसे मैं स्पष्ट कर दूँ। राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टि से 'रिग्रेशन' के दौर में सेक्यूलरिज़्म की अवधारणा पर जिस प्रकार सब तरफ से कड़े प्रहार हो रहे थे उससे अन्य बुद्धिजीवियों की भाँति मैं भी अत्यंत चिंतित और बेचैन था। मैं उम्मीद लगाये था कि यह परिस्थिति समाजशास्त्रियों के लिए एक सुनहरा अवसर प्रस्तुत करेगी और वह सेक्यूलरिज़्म के इस आंतरिक और बाहरी संकट से जूझने की पहल करेंगे, सेक्यूलरिज़्म की अवधारणा और उस पर आधारित व्यवहार दोनों की निर्मम समीक्षा करेंगे और एक नयी अवधारणा, परिभाषा, व्यवहार की दिशा खोजने में मार्गदर्शी बनेंगे। मैं सोचता था वे इस पहल द्वारा धर्मोन्माद से मुक्ति और एक नये पुनर्जागरण में सहायक तो बनेंगे ही, समाजशास्त्र को भी हाशिये से केन्द्र में लाने में सफल होंगे। प्रश्न था क्या श्रीनिवास जी और दुबे जी जैसे चोटी के समाजशास्त्री इस नये आग्रह के वाहक बनेंगे और इस नयी लहर को नेतृत्व प्रदान करेंगे? लेकिन इस उम्मीद को जबर्दस्त धक्का लगा जब श्रीनिवास और दुबे दोनों ने अपने-अपने विचार अलग-अलग प्रकट किये जिनसे मुझे लगा कि धर्मोन्माद और प्रतिगामी पारंपरिकता के अभियान की लपेट में ये दोनों भी आ गये हैं। श्रीनिवास के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित लेख में तो 'सेक्यूलर ह्यूमेनिज़्म' की अवधारणा की तीखी आलोचना की गयी थी और 'रिटर्न टु गॉड एज सेवियर' शीर्षक से ईश्वर की शरण में लौटने का आह्वान भी किया गया था। मुझे लगा कि भारतीय समाजशास्त्र के स्तंभ स्वयं 'रिग्रेशन' की प्रवृत्तियों के प्रभाव में आने लगे हैं, जब दुबे जी ने भी भारतीय परंपरा में लौटने की बात करना आरंभ किया। यही बात स्पष्ट और तीखे शब्दों में दुबे जी को लक्ष्य कर मैंने गोष्ठी में कही।

मुझे बीच ही में टोक कर दुबे जी ने कहा : "परंपरा का मुद्दा मैंने नहीं आपके गुरु धूर्जटि साहब ने 'इंडियन सोशियोलॉजिकल कान्फ्रेंस' को दिये गये अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में सन् 1950 के लगभग उठाया था। वक्तव्य का शीर्षक ही था 'ट्रेडीशन एण्ड सोशल चेन्ज इन इंडिया'।" उनके तर्क को काटते हुए मैंने कहा जब पश्चिमी आधुनिकीकरण की अवधारणा को

भारतीय देश, काल, सभ्यता, संस्कृति की विशिष्टताओं की उपेक्षा करते हुए भारत पर थोपने की प्रवृत्ति का नव मध्यम वर्ग शिकार हो रहा था, उस समय परंपरा का मुद्दा उठाना बौद्धिक साहस का प्रकाशन था। धूर्जटि साहब ने तब आँधी बनकर हमें अपनी जड़ों से उखाड़ती हुई प्रवृत्ति को चुनौती देकर हवा के विरुद्ध चलने का साहस प्रदर्शित किया था। लेकिन आज तो परंपरा के झंडे के नीचे जब परिवर्तन और विकास-विरोधी शक्तियाँ गठजोड़ कर रही हैं और जब सेक्यूलरिज़्म-विरोध नव उपनिवेशवाद का सहायक बनकर उभर रहा है, तब परंपरा के आंतरिक संकट की बात न उठाकर और केवल परंपरा की ओर लौटने की बात कर समाजशास्त्री भी क्या जाने-अनजाने चेतना के इस ढलान में सहायक नहीं हो रहे हैं! दुबे जी ने मेरी बात सुनी और मुझे लंबी बहस के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने मेरे वक्तव्य के बाद अपने वक्तव्य में संवाद को जारी रखने का प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा कि पश्चिमी आधुनिकीकरण के, अंधानुकरण की वह प्रवृत्ति जिसको बीज रूप में धूर्जटि साहब ने देखा था और जिससे बौद्धिक रूप से जूझने के लिए आधुनिकीकरण और परंपरा के सामंजस्य पर आधारित मार्ग की खोज का प्रश्न उठाया था, वह बीज अब भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से बल पाकर वट-वृक्ष का रूप लेता हुआ नजर आता है। ऐसे में उन्होंने कहा वे धूर्जटि साहब की विरासत को ही आगे बढ़ा रहे हैं। उन्होंने स्वीकार किया कि आज की परिस्थिति धूर्जटि बाबू के युग की परिस्थिति से अधिक जटिल और पेचीदा है। इस जटिल परिस्थिति को समझने के लिए हमें विरासत में मिली अवधारणाओं पर अवश्य पुनर्विचार करना होगा। उन्होंने स्वीकार किया कि वे अभी इस विषय पर चिंतन के प्रारंभिक दौर में हैं। अपने विचारों को अधिक परिपक्व रूप में उन्होंने इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन में दिये गये व्याख्यान 'परंपरा और आधुनिकता' तथा उसके बाद अपनी बहुचर्चित और सम्मान प्राप्त कृति 'परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति' में प्रस्तुत किया।

आज जब मैं इस मुद्दे पर पुनर्विचार करता हूँ तो मुझे लगता है कि धूर्जटि साहब की तरह दुबे जी भी विरासत में न सिर्फ भारतीय समाजशास्त्र के लिए महत्त्वपूर्ण शोध का एक विषय ही परिभाषित कर गये हैं बल्कि साथ में इस विषय की व्याख्या के लिए विचारोत्तेजक एनेलिटिकल फ्रेमवर्क और खोज की संभावित दिशाओं का भी संकेत दे गये हैं। परंपरा जैसे एक महत विषय पर संवाद को आगे बढ़ाकर हमारी पीढ़ी उस सृजनशील समाजशास्त्री को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकती है जो अब हमारे बीच नहीं रहा लेकिन जिसके योगदान को भारतीय समाजशास्त्र के विद्यार्थी सदा याद रखेंगे।

मैं इस लेख को दुबे जी के अन्तिम वर्षों के उस महत् योगदान की ओर संकेत कर समाप्त करना चाहता हूँ जिसका भारत के बुद्धिजीवी वर्ग के लिए, भारतीय समाजशास्त्र के लिए, हिन्दी भाषा के लिए और विशेषकर विशाल हिन्दी भाषी क्षेत्र के लिए विशेष महत्त्व है। दुबे जी की हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य, हिंदी लेखन में युवा काल से ही रुचि थी। लेकिन अंतिम वर्षों में उन्होंने हिंदी में समाजशास्त्रीय चिंतन और लेखन को जो अहमियत दी वह एक नये प्रयोग का आरंभ था। इस प्रयोग को इस विचार बोध से प्रेरणा मिली थी कि अंग्रेजी के माध्यम से किया गया समाजशास्त्रीय चिंतन और लेखन न वास्तव में वैचारिक स्तर पर पूर्णतः मौलिक हो सकता है, (वार्स्क उसमें नकल का ख़तरा बना रहता है), न वह व्यवहार के स्तर पर

स्वदेश के लिए प्रासंगिक और उपयोगी ही हो सकता है। अंग्रेजी में उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान को अवश्य ग्रहण करो लेकिन उसे गंभीर मनन द्वारा तथा भारतीय भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने के प्रयास द्वारा ही वह केवल उधार लिया हुआ नहीं रहेगा, उसका वास्तव में स्वदेशीकरण, पुनः नवसृजन होगा। जिस भारतीय समाजशास्त्री ने केवल अंग्रेजी में पढ़ा, मनन किया और लिखा, और जो किसी भी भारतीय भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के कठिन कार्य से कतराता रहा, वह विदेशी विद्वानों से प्रशंसा-पत्र तो अवश्य पा सकता है लेकिन स्वदेश की विचारधारा, चेतना और व्यवहार पर उसका प्रभाव नगण्य ही होगा। यही भारतीय नवजागरण की मूल स्थापना थी जिस पर दुबे जी ने अपने अन्तिम वर्षों में संपूर्ण मन से अमल किया।

विचारवान विद्वान, सहृदय मित्र एवं शिक्षक

☐ सुरेशचन्द्र शुक्ल

प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे से मेरा परिचय उनकी अब जगजाहिर विशेषताओं और गुणों तथा उपलब्धियों के ही कारण हुआ। यह परिचय तीन दशक से अधिक काल में विद्वत् कार्यों और पड़ोस में कुछ दिन रहने से ऐसा पनपा कि अन्तिम वर्षों में महीनों-महीनों साक्षात्कार न होने पर भी मेरे लिये एक स्थायी, सुखदायी, ज्ञानदायी प्रभाव बन गया।

मैं कोई प्रशिक्षित समाजशास्त्री नहीं था। सिर्फ़ अपने देश और समाज को, आज़ाद, न्यायपूर्ण, समृद्ध बनाने का इच्छुक एक व्यक्ति और पिछले 40-एक वर्षों में पढ़ने-पढ़ानेवाला और वह भी स्कूली मास्टरों को पढ़ानेवाला अध्यापक। जब पहली बार 1964 में कुछ समय के लिए मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय में केन्द्रीय शिक्षा संस्थान को चलाने की ज़िम्मेदारी मिली तो अभी तक जो कुछ भारतीय शिक्षा के इतिहास और सामाजिक परिप्रेक्ष्य के बारे में काम करने का अवसर मिला था, उसे आगे बढ़ाने के लिए मैंने शैक्षणिक समाजशास्त्र को पढ़ाने के सम्बन्ध में एक छोटी-सी समिति की बैठक बुलायी। हमारे अपने विश्वविद्यालय में, सड़क के दूसरे छोर पर एक बहुत प्रतिष्ठित समाजशास्त्र विभाग बन चुका था और ख्याति प्राप्त कर रहा था। परन्तु सोच-समझकर यही उचित लगा कि मसूरी से राष्ट्रीय सामुदायिक विकास संस्थान के प्रधान अध्यापक व निदेशक डॉक्टर श्यामाचरण दुबे को बुलाकर मार्ग-निर्देशन हासिल करें। वह आये और थोड़ा-बहुत काम शुरू हुआ। काम तो मेरे हटने के बाद वहीं-का-वहीं रह गया पर मुझे एक बड़ी उपलब्धि हुई। आगामी 30 वर्षों के लिए एक ऐसे सहृदय और बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्तित्व से सम्बन्ध बना जिनसे सारा जीवन ज्ञान और सद्भावना प्रचुर मात्रा में पाये। बहुत सोचने पर भी मुझे याद नहीं आता कि कभी, कहीं, कोई ऐसा अनुभव उनके संसर्ग में हुआ हो जो सुखद और ज्ञानप्रद न रहा हो या विचार और अनुभूति को परिष्कृत करनेवाला न रहा हो।

दिल्ली में व बाहर, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय—स्थानीय और छोटी-छोटी विचार-गोष्ठियाँ, देश-विदेश के समाजशास्त्रीय व साहित्यिक-सांस्कृतिक सम्मेलन, सागर व शिमला में, थोड़े समय कुलपति काल में जम्मू में भी उनके अपने आयोजन, कुछ वर्ष तक उनका पड़ोस और अनेक व्यक्तिगत चर्चाओं के अवसर—सभी में एक ऐसा व्यक्तित्व उभरकर आया जो ज्ञान, जनजीवन, व्यक्तिगत सम्बन्ध आदि सभी क्षेत्रों में समझ और सद्भाव फैलाता था। दुबे जी का एक ऐसा व्यक्तित्व रहा जिसके प्रति मेरा भाव कृतज्ञता एवं सुख का ही रहा।

मैं उनसे कम उम्र का था—थोड़ा ही, पर कम। परन्तु हमारी पीढ़ी थी, जिसने बचपन और यौवन-काल में गुलामी देखी थी, स्वतंत्रता के लिए कामना की थी, संघर्ष का अनुभव किया था। अलग-अलग दिशाओं और विचारधाराओं से ही, परन्तु एक साझे स्वप्न से प्रेरित

होकर आज़ाद भारत के लिए सोचा, काम किया। ज्ञान-अर्जन और प्रसार, अध्ययन-अध्यापन, शोध और लेखन-प्रकाशन, भाषण और विवाद-संवाद, इन प्रक्रियाओं के द्वारा हमारी पीढ़ी के बुद्धिजीवियों ने जो काम किया, उसमें श्यामाचरणजी ने एक अग्रणी भूमिका निभायी है, देश-विदेश के विद्वानों के बीच, बौद्धिक जगत् में ऊँचा स्थान बनाया—एक विशिष्ट स्थान, जिसकी अपनी पहचान थी।

अल्पायु में ही उनकी पुस्तकें देश-विदेश में काफ़ी विख्यात हुईं—विषय-वस्तु के कारण भी और लेखक की कुशलता और पाण्डित्य के कारण भी। एक भारतीय गाँव का अध्ययन, एक भारतीय आधुनिक मानस से और आधुनिकीकरण और विकास की तरफ़ उन्मुख भावों को लिये हुए। जैसा, इस देश के इतिहास के कारण होता है, अंग्रेज़ी में और विदेश में प्रकाशन ने उनके काम को और भी चर्चित बना दिया। प्रो. दुबे भारतीय समाज-चिन्तन के अत्यधिक युवा नेता बने। पर वह केवल इसी से सन्तुष्ट नहीं थे, शायद। भारत के राष्ट्रीय विकास के लिए सामुदायिक विकास योजनाओं में योगदान, हिन्दी में लेखन, साहित्य-सेवा, ये इस समाजशास्त्री की विशेषताएँ। यही उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के द्योतक थे। यही किसी हद तक शायद उनके वर्चस्व में रुकावट बने। जिन्होंने न केवल अंग्रेज़ी में लिखा, जिन्होंने विकास की ओर ध्यान नहीं दिया, जो मातृ-भाषा और साहित्य के प्रति उन्मुख नहीं हुए, 'उन 'विशुद्ध' समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों के बीच प्रथम स्थान न प्राप्त करने में सम्भवतः दुबे जी इन्हीं कारणों के शिकार बने। यह विचार एक माने में बहुत उचित नहीं है। प्रो. दुबे के मूर्धन्य व्यक्तित्व को कोई नकार नहीं सकता। फिर भी देश की 'केन्द्रीय' प्रशासनिक या शैक्षणिक व्यवस्था के उच्चतम पदों और नेतृत्व स्थलों के इस अधिकारी को मेरे विचार में उन अधिकारों से वंचित रखा गया। स्वतंत्र राष्ट्र की व्यवस्था को अपनी इस मूल्यवान निधि का और अधिक और महत्त्वपूर्ण उपयोग कर सकना चाहिए था। शिमला के भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान के निदेशक, भारतीय समाजशास्त्र सम्मेलन के अध्यक्ष, जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति और अन्तिम मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा आयोग के अध्यक्ष—सभी पदों पर दुबे जी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये परन्तु देश उनके नेतृत्व से और अधिक, और काँटे के काम ले सकता था। यह हमारी राष्ट्रीय स्थिति का द्योतक है, यह देशी विचार और विधियों की उपेक्षा का चिह्न है कि ऐसा नहीं हुआ।

प्रो. दुबे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हमारे महत्त्वपूर्ण समाजवैज्ञानिक प्रतिनिधि के रूप में जाने जाते और याद किये जाते रहेंगे। फिर भी हम उनसे और भी अधिक लाभ उठा सकते थे। जो कुछ उन्होंने किया और पाया, वह किसी एक जीवन-काल के लिए बड़ी उपलब्धि थी, पर, उसका और ऊँचा उपयोग सम्भव था।

जैसाकि दुबे जी से कनिष्ठ विख्यात समाजशास्त्री आंद्रे बेते ने—जिन्हें युवा अवस्था में प्रोफ़ेसर दुबे ने स्वयं काफ़ी प्रोत्साहित किया था—लिखा है, प्रो. दुबे ने देश का पहला ऐसा ग्रन्थ शोध के आधार पर लिखा जो एक गाँव का सबल अध्ययन प्रस्तुत करे। इस प्रकार वे देश में एम्पिरिकल, अनुभवजन्य समाजशास्त्र, ग्राम समाजशास्त्र के प्रवर्तक बने या कम-से-कम प्रवर्तकों में एक थे। परन्तु विडम्बना है कि घुर्ये, श्रीनिवास आदि की पंक्ति में उनका नाम तो लिया जाता है पर चूँकि वह अन्य विधाओं और भाषा में काम करने के अलावा समाजशास्त्र के

अन्य क्षेत्रों में भी प्रवर्तन-निर्देशन करते रहे, उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा कुछ उतनी नहीं आँकी गयी। स्मरणीय है कि शिमला के भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान के निदेशक के रूप में उन्होंने समाजशास्त्र को गाँव और जाति की उसकी पारम्परिक लीक से बाहर निकालने और भारतीय समाज को एक समग्र दृष्टि से समझ पाने के प्रयास का नेतृत्व किया। सतीश सब्बरवाल की सहायता से दसियों वर्ष से बने गाँव-जाति ठहराव को तोड़कर अन्य क्षेत्रों, नगर, काम, संस्कृति, प्रगतिशील वैचारिक सांस्कृतिक विकास, सामाजिक सच्चाई और संक्रांति ऐसे विषयों की तरफ़ समाजशास्त्र को उन्मुख किया।

सोचते-सोचते इस संदर्भ में विचार आता है, संभवतः यह ज़माना लिओनार्डो दाविंजी की तरह सार्वभौमिक ज्ञान का नहीं है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर क्षेत्र के बारे में अधिकतम विशेषज्ञतापूर्ण जानकारी, जिसमें चाहे अंश का सम्पूर्ण से सम्बन्ध ठीक स्पष्ट न भी हो पाये— यह प्रवृत्ति ज्ञान-अर्जन में घर कर गयी। प्रो. दुबे ने विशेषज्ञता को ताक पर रखे बिना ज्ञान और स्वयं मानव के सर्वतोमुखी समग्र विकास के सतत प्रयास जारी रखे और अपनी और नयी पीढ़ी का इसमें नेतृत्व किया।

वह एक अत्यन्त प्रभावशाली और सहृदय अध्यापक थे। अपने या दूसरों के शोध-छात्रों से चर्चा, उनका मार्गदर्शन, सहायक और मैत्रीपूर्ण आदान-प्रदान दुबे जी के अध्यापक व्यक्तित्व के अभिन्न चिह्न थे। नौजवान पीढ़ी से सरल आदान-प्रदान, उन्हें अपने वरिष्ठ स्तर के व्यक्तित्व के संसर्ग से सीखने का अवसर जैसा दुबे जी प्रदान करते थे, कम लोग कर पाये।

प्रो. दुबे सागर विश्वविद्यालय की विभूतियों में प्रमुख थे। उनके कारण इस प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संपर्कों से लाभान्वित होने, पाने और देने का बहुत अवसर मिला। दूसरी तरफ़ अन्य क्षेत्रों में, जैसे यूरोप, अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व प्रदेश, अमरीका आदि में, भारतीय दृष्टिकोण और ज्ञान को प्रस्तुत करना-कराना और उन प्रक्रियाओं को भारत तक लाना भी उनके योगदान से और अधिक बढ़ा। 1986 में अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन को दिल्ली लाने की पहल प्रो. दुबे ने की और फिर उनके अन्य सहयोगियों ने इस काम को आगे बढ़ाया।

यह सब इस सच्चाई की उपज है, जो प्रो. दुबे की बुनियादी समझ और दृष्टिकोण में थी कि भारत की आधुनिकता और उसका अर्वाचीन विकास भारत की अपनी परम्परा, उसकी अपनी समाज-व्यवस्था और संस्कृति पर आधारित होगी। परम्परा के कुछ तत्त्व राह में गिर जायेंगे, कुछ अन्य विकासशील आधुनिकता में प्रस्फुटित होंगे। अनेकता में एकता भारतीयता, आधुनिक नयी भारतीयता का आधार होगी और इसमें पाश्चात्य और देशी, दोनों तत्त्वों का समाधान होगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस विषय में विभिन्न दृष्टिकोण हैं इसे माना जाये, उन्हें पहचाना जाये, और उसमें प्रो. दुबे के विशिष्ट दृष्टिकोण को समझा जाये।

किसी परम्परा में महान् (Great) तत्त्व होते हैं और लघु (Little) तत्त्व भी होते हैं। अधिकतर भारतीय परम्परा के प्रतिपादक महान् परम्परा पर ही अपने को आधारित करते हैं। कभी-कभी ऐसा आभास होता है कि प्रो. दुबे, एक बहुत जानकार नृतत्त्वशास्त्री होकर भी जनजातियों और जन की लघु परम्परा के तत्त्वों से बख़ूबी परिचित होकर भी सम्भवतः महान् (Great) परम्परा को अधिक महत्त्व देते थे। इस प्रवृत्ति की एक संभावना है हिन्दू—

सम्प्रदायवादी हिन्दू—विचारधारा। किन्तु यह प्रो. दुबे के दृष्टिकोण से बिल्कुल विरुद्ध थी। वे देश के बहुसांस्कृतिक रूप को क़ायम रखने और विकसित करने के कायल थे।

इसी प्रकार समाज में सहयोग, सांस्थानिक स्थिरता का भी स्थान है और संघर्ष, विरोधात्मक सम्बन्धों और विसंगतियों का भी। द्वंद्वात्मक (Dialectical) दृष्टिकोण में या समाजशास्त्र की संघर्ष (Conflict) आधारित परिकल्पना में भी विकास और रचना की संभावनाएँ हैं और सहयोग, स्थिरता में भी। दुबे जी परिवर्तन के कायल थे परन्तु संघर्ष के नहीं। भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिए जो स्वतंत्रता-संघर्ष किया गया था, उसके बाद काफ़ी विचारधारा संघर्षों से विमुख, संरचना, स्थिरता और व्यवस्थित परिवर्तन की कायल थी। प्रो. दुबे इस विचारधारा के अत्यन्त गतिशील रूप के मुखर प्रतिपादक थे— परन्तु संघर्ष और द्वंद्व के नहीं।

भारतीय समाज में इन दोनों मुद्दों पर चिन्तकों में काफ़ी मतभेद हैं और रहेंगे। इन विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रेरित सामाजिक अध्ययन और कार्य अनेक लोग और समूह अलग-अलग रूप से करते रहे हैं और करते रहेंगे। इनमें दृष्टिकोण का अन्तर और मतभेद स्वाभाविक तथा उचित है और आवश्यक भी। ऐसे मतभेदों का आधार है प्रो. दुबे जैसे महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रियों और विचारकों के लिए प्रगाढ़ आदर। इस आदर के वे पात्र हैं और रहेंगे।

भारतीय विचार और मानस में इस व्यक्तित्व का एक विशिष्ट स्थान है, और रहेगा।

व्यक्ति की अस्मिता के प्रबल समर्थक

□ नन्दू राम

अक्सर यह कहा जाता है कि हानि और लाभ या खोने के दुःख और पाने के सुख को एक साथ रखकर देखने पर पता चलता है कि दोनों में समरसता है। यानि एक की कमी दूसरे से पूरी हो जाती है। हानि और लाभ, या खोने और पाने के बीच का यह समीकरण आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता के संदर्भों में तो सही हो सकता है, परंतु मानवीय भावुकता या संवेदना के संदर्भ में यह समीकरण उतना उपयुक्त नहीं मालूम होता; वहाँ खोने का दुःख और पाने का सुख—दोनों अलग-अलग अनुभूतियाँ हैं तथा दोनों कतई एक-दूसरे के पूरक नहीं हो सकते। वास्तव में पाने का सुख सामान्यतया क्षणिक होता है, जो समय के अनुसार घट या बढ़ सकता है किन्तु खोने का दुःख एक तरह से स्थायी होता है। क्योंकि खोयी हुई भावुकता या संवेदना पुनः वापस नहीं हो पाती चाहे वह व्यक्तिगत लगाव के आधार पर हो या सामाजिक-संबंध की नींव पर। यहाँ सुख सुख है और दुःख दुःख है। यह बात उस संदर्भ में और भी सटीक है, जब खोने का दुःख एक ऐसे व्यक्ति से जन्मा हो जो बिल्कुल अपना हो, प्रेरणा का स्रोत हो और मार्ग-द्रष्टा हो।

प्रो. श्यामाचरण दुबे, जिन्हें न केवल समाजशास्त्रीय जगत् वरन् प्रबुद्ध वर्ग ने आदर के साथ प्रो. दुबे के रूप में जाना है, एक ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्हें पाने की खुशी से कहीं ज़्यादा खोने का दुःख है। कभी-कभी वे स्वयं कहा करते थे कि वे खुशी और दुःख से परे थे, या फिर हानि और लाभ की गणना उनके शब्दकोष में नहीं थी। प्रो. दुबे को मैंने पहली बार 1976 में चंडीगढ़ में भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए सुना और देखा था। उस समय तक वे समाजशास्त्र में एक सफल एवं प्रबल हस्ताक्षर सिद्ध हो चुके थे। एक शोध-छात्र के रूप में उस समय प्रो. दुबे के नजदीक जाने एवं उनसे बात करने की मेरी हिम्मत नहीं थी। लेकिन मात्र एक-दो मिनट के औपचारिक परिचय के दौरान ही प्रो. दुबे की विनोद-प्रिय छोटी-सी टिप्पणी के बाद ऐसा लगा, जैसे उनके साथ वर्षों पुराना सम्बन्ध हो। फिर उसके बाद तो अनेकों अवसर आये जब उनको बहुत नज़दीक से सुनने और समझने का लाभ प्राप्त हुआ। यही नहीं बल्कि हर अवसर पर मेरे प्रति उनका स्नेह एवं उनकी आत्मीयता बढ़ती गयी।

1976 के संक्षिप्त एवं सामान्य परिचय के बाद 20 वर्षों के अंतराल में मेरे प्रति प्रो. दुबे के स्नेह एवं उनकी आत्मीयता ने एक अभिन्न सम्बन्ध का रूप ले लिया था जिसका आभास मुझे काफी समय बाद हुआ। नृतत्त्वशास्त्री तथा समाजशास्त्री प्रो. दुबे ने हमारे इस सम्बन्ध को एक नातेदारी या विस्तृत-परिवार के तहत मानते हुए मुझे इसका अभिन्न सदस्य बना लिया था जिसकी चर्चा उन्होंने एक-दो अवसरों पर मुझसे एवं मेरे सहयोगियों से भी की

थी। मैं अपने प्रति प्रो. दुबे के इस स्नेह को पितृवत् समझता था और बाद के दिनों में मुझे ऐसा लगने लगा था कि वे सदैव मेरे कल्याण एवं प्रगति के प्रति विशेष अभिरुचि रखते थे, हालाँकि हिंदू समाज-व्यवस्था एवं सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक-व्यवस्था के तहत उनकी जातीय पृष्ठभूमि और आभिजात्य जीवन-शैली के संदर्भ में मुझे कभी-कभी ऐसा आभास होता था कि उनका मेरे प्रति प्रगाढ़ स्नेह संभवतः उदारचित्त होने की एक कड़ी मात्र था। लेकिन यह एक सर्वविदित सत्य है कि उन्होंने अपनी जातीय एवम् सामाजिक पृष्ठभूमि का, अपनी सोच तथा कृतित्व द्वारा प्रतिनिधित्व करने के बजाय विरोध ही किया। मेरी उनके प्रति यह सोच महज मेरी एक धृष्ठता थी, हालाँकि उच्च जाति एवं वर्ग विशेष के प्रति मेरा पूर्वाग्रह बिल्कुल निराधार नहीं है। प्रो. दुबे के बारे में यदि मैं यह कहूँ कि वे एक जाति एवम् वर्गविहीन व्यक्ति थे, तो यह पूर्णतया ग़लत नहीं होगा। कभी-कभी वे स्वयं कहा करते थे कि उनका अपना परिवार न केवल समाजवैज्ञानिकों का परिवार है बल्कि वह एक विश्वग्राही (Cosmopolitian) परिवार है जिसमें कई जातियों एवं धर्मों के लोग एक साथ रहते हैं। फिर भी इस सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता कि सामान्य-जन के प्रति उनकी सोच, रचनाधर्मिता तथा उनके स्वयं के रहन-सहन में उच्चस्तरीय भद्रता थी। जीवन-पर्यन्त इसमें कोई विसंगति या विरोधाभास नहीं आया।

प्रो. दुबे के देहावसान के ठीक 25 दिन पूर्व उनके उपचार के दौरान नर्सिंग होम में जब मैं उनसे मिला था, तब वे काफी प्रसन्नचित्त दिखाई दिये। उस समय उन्होंने कहा था कि बहुत जल्दी उनसे संबंधित कोई दुर्घटना नहीं होने वाली। उनके प्रति मेरी 'शतम्जीवेत्' की शुभकामना के उत्तर में उन्होंने यह कहा था कि शास्त्रोक्त शतम्जीवेत की कामना ब्राह्मण पुरोहित की राजन्य के प्रति कामना थी न कि एक सामान्यजन की दूसरे सामान्यजन के प्रति कामना। उन्होंने यह भी कहा था कि व्यावहारिक तौर पर यह कामना कल्याणकारी होने के बजाय कष्टकारी है क्योंकि परिपक्व आयु पार करने के बाद जीने पर शरीर एवं आत्मा—दोनों ही कष्ट के भागी होते हैं। तथापि प्रो. दुबे को उस दिन नर्सिंगहोम में प्रसन्नचित्त देखकर मैं इस आशा से वापस लौटा था कि वे इतने अल्प काल में ही हम सबसे मुँह नहीं मोड़ेंगे। लेकिन जब चार फरवरी, 96 की सुबह प्रो. दुबे के दिवंगत होने का दुःखद समाचार मिला तो ऐसा लगा जैसे 1985 (जबकि मेरे अपने पिताजी का देहावसान हुआ था) के बाद मैं एक बार फिर पितृविहीन हो गया। उस समय अपनों के खोने और पाने से अनन्य दुःख एवं सुख के बीच का समीकरण एक बार फिर मेरे मन तथा मेरी सोच को झकझोर गया। मुझे लगा कि खोने की पीड़ा, पाने के सुख से कहीं अधिक प्रबल है जिसे सहन करना अत्यंत मुश्किल कार्य है।

ज्ञान के विशिष्टीकरण के इस युग में बुद्धिजीवी दिनों-दिन एक-मुखी या विषय-विशेष में पारंगतता हासिल करने में लगे हुए हैं हालाँकि उन्हें अन्य विषयों की भी थोड़ी-बहुत जानकारी अवश्य रहती है। प्रो. दुबे इसके अपवाद थे। उन्हें अपने मूल विषयों—नृतत्त्वशास्त्र एवं समाजशास्त्र के अलावा समाजविज्ञान के अन्य विषयों में भी महारत हासिल थी। इसीलिए वे कभी-कभी अपने को समाजवैज्ञानिक कहा करते थे। प्रो. दुबे दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र एवं भाषा-

विज्ञान में भी निपुण थे। भाषा पर उनकी गहन पकड़ थी, चाहे वह अंग्रेज़ी भाषा हो या हिंदी। वे दोनों ही भाषाओं में धाराप्रवाह लिखते और बोलते थे। अपनी भाषा की सहजता एवं लिखने तथा बोलने की शैली से वे अपने पाठकों और श्रोताओं का मन मोह लेते थे। उनकी यह विशेषता विरल थी तथा समाजशास्त्रीय जगत् में तो अब तक देखने को मिली नहीं है।

हिंदी भाषा से उन्हें प्रगाढ़ प्रेम था। कभी-कभी वे कहा करते थे कि अंग्रेज़ी में उन्होंने बहुत लिखा है जिसका दुनिया की दर्जनों भाषाओं में सफल अनुवाद भी हुआ है। लेकिन उनका कहना था कि वे सामान्यजन के लिए लिखना चाहते थे, उन तक अपनी बात पहुँचाना चाहते थे। यही कारण था कि पिछले वर्षों से लगातार हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में गंभीर-से-गंभीर विषयों पर लिखते रहे। जिसके फलस्वरूप वे वर्तमान हिंदी-साहित्य में भी आदर के साथ जाने गये हैं। उन्होंने एक-दो बार मुझे भी हिंदी में लिखने के लिए कहा था लेकिन हिंदी-भाषा में अपनी असहजता, विशेषकर तकनीकी शब्दों पर पकड़ के अभाव में मैं उनकी यह इच्छा अब तक पूरी नहीं कर सका जिसका मुझे बेहद दुःख है। शायद आनेवाले वर्षों में मैं उनकी यह इच्छा पूरी कर सकूँगा।

प्रो. दुबे के व्यक्तित्व का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू उनका नयी पीढ़ी को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ उससे सुखद तालमेल स्थापित करना भी था। भारतीय एवं अंतर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र तथा सामाजिक व सांस्कृतिक नृतत्त्वशास्त्र में एक पितामह की स्थिति बनाये हुए वे समकालीन समाजशास्त्रियों के लिए सदैव प्रेरणास्रोत रहे। इसके अलावा वे समाजशास्त्र के नवयुवक अध्यापकों तथा शोध-छात्रों के शोध-कार्यों में भी भरपूर दिलचस्पी लेते थे जिसे देखने और जानने का अवसर मुझे अनेकों बार मिला था। कई गोष्ठियों व सम्मेलनों में सत्रों की समाप्ति पर ऐसे नवयुवकों के बीच वे सीधे चले जाते थे और उनके शोध के बारे में बहुत ही दिलचस्पी के साथ बातचीत करते थे। यही नहीं बल्कि प्रो. दुबे की मित्रमंडली में अनेकों वरिष्ठ व उभरते साहित्यकार, पत्रकार, कलाकार तथा राजनेता और अधिकारी थे, जिनके कार्यों एवं विचारों में प्रो. दुबे बखूबी दिलचस्पी लेते थे। इसके पीछे जहाँ उनकी मंशा अधिक-से-अधिक सामाजिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त करना थी वहीं उनके बीच समाजविज्ञान के विस्तार एवं उसके औचित्य को स्थापित करने का महत् उद्देश्य भी था। यहाँ यह कहना उचित होगा कि सरकार की कई पंचवर्षीय योजनाओं एवं अन्य कार्यक्रमों में सामाजिक-सांस्कृतिक पहलुओं के प्रति रुझान के पीछे प्रो. दुबे का बहुत बड़ा योगदान रहा है। इसके अलावा देश के अधिकांश विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों तथा माध्यमिक विद्यालयों में समाजशास्त्र को एक प्रतिष्ठित अध्ययन-विषय की मान्यता दिलाने में प्रो. दुबे के सराहनीय प्रयासों का भारतीय समाजशास्त्र सदैव ऋणी रहेगा।

भौतिकता की अंधी दौड़ के बीच व्यक्ति की अस्मिता या उसकी पहचान धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। इस तथ्य को प्रो. दुबे ने बखूबी समझा था। यही कारण है कि वे अपनी समस्त समाजशास्त्रीय व नृतत्त्वशास्त्रीय रचनाओं और व्याख्यानों में व्यक्ति की इस अस्मिता को पहचानने तथा उसे उजागर करने पर जोर देते रहे। व्यक्ति की इस अस्मिता को उन्होंने सम्पन्न वर्ग एवं विपन्न वर्ग के बीच सदियों से चले आ रहे संबंधों में भी तलाशने पर बल दिया था जिसमें राजनेताओं की बयानबाजी के विपरीत उनकी सामाजिक विरोधाभासों के तहत

इन संबंधों के मर्म को समझने एवं उनकी सामाजिक विवेचना निहित थी। आधुनिकता के संदर्भ में यह प्रयास अपने-आप में अत्यंत कठिन है जिसकी प्रो. दुबे ने आधुनिकता और पुरातनता के संदर्भ में बहुत सफल विवेचना की है। इसे उनकी भारतीय ग्रामीण-संरचना एवं परिवर्तन, आदिवासियों की सामाजिक-सांस्कृतिक गत्यात्मकता आदि की विवेचना में भी देखा जा सकता है।

प्रो. दुबे ने समकालीन समाजशास्त्रीय शोध में आँकड़ों तथा सांख्यिकीय सूत्रों के बढ़ते प्रभावों के तहत व्यक्ति की अस्मिता की पहचान पर जोर दिया था। उनकी इस खोज का मर्म मुझे उस समय स्पष्टतः समझ में आया जब जुलाई 1977 में आई. आई. टी. कानपुर में मेरी पी-एच. डी. की मौखिक परीक्षा के दौरान आंकड़ों एवं सांख्यिकीय सूत्रों पर मेरे अत्यधिक जोर देने पर उन्होंने मुझसे दो-टूक प्रश्न किया था कि मेरे शोध-प्रबन्ध में व्यक्ति या उसकी अस्मिता की पहचान कहाँ है। फिर बहुत बाद के वर्षों में भी दलित-साहित्य पर बातचीत के दौरान वे बार-बार व्यक्ति की अस्मिता पर ही जोर देते रहे।

प्रो. दुबे के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं एवं संबंधों के अंतर्गत व्यक्ति अपने-आप में एक सम्पूर्ण इकाई था। तदर्थ व्यक्ति की अस्मिता की उनकी खोज जहाँ उन्हें एक तरफ समाजशास्त्र की पांडित्य-परंपरा (Classical Tradition) में प्रस्थापित करती है, वहीं यह उन्हें वर्तमान सदी के दो-प्रमुख विचारक-राजनीतिज्ञों—महात्मा गांधी और डॉ. अम्बेडकर की कड़ी में भी रखती है, हालाँकि उनकी यह खोज गांधी के बजाय अम्बेडकर की खोज के अधिक नजदीक है। इसका स्पष्ट कारण है कि गांधी के लिए व्यक्ति अपनी सम्पूर्णता के साथ ईश्वरीय शक्ति तथा सामाजिक-सांस्कृतिक पुरातनता का अभिन्न अंग है किन्तु अम्बडेकर का व्यक्ति आधुनिक होते हुए सामाजिक इकाई का अंग एवं उसकी अक्षुण्ण धुरी भी है। प्रो. दुबे का व्यक्ति आधुनिक है, सांसर्गिक है परन्तु परावलम्बी नहीं है। वह सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा पारिस्थितिकीय पृष्ठभूमि-विशेष में भी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं स्नेह का स्वयं भागीदार है, न कि किसी दया-विशेष का पात्र। अतएव, उनका व्यक्ति सामाजिक इकाई का एक अभिन्न अंग है।

प्रो. दुबे के लिए सामाजिक-समानता एक सामाजिक भ्रांति के बजाय स्थूल तथ्य थी। यह सही है कि उन्होंने अलग से सामाजिक समानता पर अधिक नहीं लिखा लेकिन इसके प्रति उनकी सजगता, उनकी सामाजिक-प्रक्रियाओं एवं सम्बन्धों, परंपरा एवं इतिहास-बोध, सामाजिक संक्रमण तथा व्यक्ति की अस्मिता की पहचान से सम्बन्धित रचनाओं से बखूबी आभास मिलता है। 'सरकार की पंचवर्षीय योजनाओं तथा अन्य कार्यक्रमों के उद्देश्यों की दिशा-निर्धारण में अहम् भूमिका निभाने तथा उनके सामाजिक-परिणामों की विवेचना करने से सामाजिक-समानता के प्रति प्रो. दुबे के रुझान का सही पता चलता है।

समाज में दलितों एवं अन्य पिछड़े वर्गों, स्त्रियों आदि को सामाजिक समानता के अवसर प्रदान करने के प्रो. दुबे प्रबल समर्थक थे। तत्संबंधी सरकारी नीतियों में महत्त्वपूर्ण योगदान के अतिरिक्त उनका यह मत था कि सदियों से सामाजिक-समानता के अवसरों से वंचित वर्गों के लिए विशेष अवसर प्रदान करना राज्य एवं सरकार की नैतिक और राजनीतिक जिम्मेदारी है। विशेष अवसरों की समय-सीमा के बारे में एक बार मुझसे उन्होंने स्पष्ट शब्दों में

कहा था कि उनके विचार से ये विशेष अवसर या सुविधाएँ इन वर्गों के व्यक्तियों को कम-से-कम तीन पीढ़ियों तक दी जानी चाहिए। इसके पीछे उनकी एक निश्चित सामाजिक सोच थी जिसके अनुसार विशेष अवसरों का लाभ पानेवाले व्यक्ति की पहली पीढ़ी अपने पिछले अभावों को ही मुश्किल से पूरा कर सकती है। फलस्वरूप वे दूसरी पीढ़ी की रोजमर्रा की कमी को मुश्किल से पूरा कर पाते हैं। किंतु यह कमी उसकी तीसरी पीढ़ी में जाकर पूर्णतया पूरी की जा सकती है जबकि वह अन्य वर्गों के साथ आसानी से बराबरी कर सकता है।

भारतीय समाज अनेक जातियों, जन-जातियों तथा धार्मिक सम्प्रदायों का एक समूह है और ऐसे में सामाजिक समानता का सूत्रीय या व्यावहारिक हक प्रदान करना बहुत ही मुश्किल है। यह सही है कि प्रो. दुबे ने जातीय-व्यवस्था या अलग-अलग जातियों और सम्प्रदायों की सामाजिक-संरचना, सामाजिक-संगठन एवं उनके आपसी संबंधों पर अलग से उतना नहीं लिखा जितना उनसे अपेक्षित था। इसके बावजूद वे सामाजिक समानता के सूत्रों एवं व्यावहारिक पहलुओं पर सुव्यवस्थित रूप से लिखते और बोलते रहे। मेरी समझ से प्रो. दुबे के लिए सामाजिक-समानता की मुख्य धुरी व्यक्ति की समानता थी जिसकी चर्चा अपने भोपाल-वास के दौरान उन्होंने मुझसे की थी। भोपाल विश्वविद्यालय में परीक्षा-संबंधी कार्य समाप्त करके जब मैं उनसे उनके निवास स्थान पर मिलने गया तो उनकी रसोई में एक आदिवासी लड़के को काम करते देखकर दंग रहा गया था। उन्होंने उस समय मेरे मन की बात भाँपकर यह बात स्पष्ट की कि वे नहीं चाहते कि उनकी कमार जन-जाति का लड़का या लड़की अपने उसी अभावग्रस्त गाँव और समुदाय में रहे बल्कि वह शहर में आकर नागरीय संस्कृति, उसके रहन-सहन को समझे, अपने को एक बृहत्समाज के साथ जोड़ते हुए अपनी अस्मिता और अपने आत्म-सम्मान तथा सामाजिक-सम्मान को समझे-पहचाने। यह कहना उचित होगा कि प्रो. दुबे की यह व्यक्तिगत सोच उनकी सामाजिक सोच का अभिन्न अंग रही।

प्रो. दुबे की समानता-संबंधी सोच को यदि दूसरी तरह से समझा जाये तो यह कहा जा सकता है कि जहाँ सामाजिक-समानता पर सोचना, लिखना और बात करना आसान है, वहीं व्यक्ति की समानता का विवेचन करना और उसे कार्यरूप में परिणत करना अत्यंत दुरूह या मुश्किल है। समाज वैज्ञानिक चूँकि सामाजिक प्रक्रियाओं, संबंधों एवं सामाजिक-संरचनाओं का विवेचन करते हैं; उनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे उसका पालन भी करें। उसका पालन वे समाज का सदस्य या देश का नागरिक होने के नाते करते हैं। यही बात उनके सामाजिक समानता या व्यक्ति की समानता के अध्ययन पर भी लागू होती है। प्रो. दुबे पूर्णतया इसके अपवाद थे। उन्होंने सामाजिक समानता और व्यक्ति की समानता के विश्लेषण-विवेचन के साथ-साथ उसे अपने व्यक्तिगत जीवन में भी परिणत किया था। यही कारण है कि उनके मित्रों एवं प्रशंसकों में सभी जातियों, सम्प्रदायों, अध्यवसायों तथा आयु-वर्गों के लोग बहुतायत में रहे हैं।

यह एक सार्वभौम सत्य है कि व्यक्ति अपनी पीढ़ा को स्वयं सहन करता है—चाहे वह

स्वयंजनित हो या फिर किसी दूसरे द्वारा दी गयी हो। यह भी एक सत्य है कि तन और मन की पीड़ा में सीधा संबंध होता है। पीड़ा तो पीड़ा ही होती है। वह मन और मस्तिष्क—दोनों को प्रभावित करती है। पीड़ा को व्यक्ति दुःखी होकर या गुस्सा करके व्यक्त करता है या फिर उसे स्वयं में आत्मसात् कर लेता है। प्रो. दुबे ने इस पीड़ा को देखा था, उसे समझा था। वे एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने मेरी जानकारी के अनुसार तन और मन—दोनों की पीड़ा को आत्मसात् किया हुआ था। मैंने कभी उनके चेहरे पर पीड़ा या दुःख का भाव नहीं देखा। यहाँ तक कि उनके देहावसान से लगभग पच्चीस दिन पहले जब मैं उनसे नर्सिंग-होम में मिला था, तब भी वे तन की पीड़ा के बावजूद प्रसन्नचित्त थे। हालाँकि उन्होंने यह बात कही थी कि अधिक दिन जीवित रहने पर शरीर को कष्ट ही होता है।

मैंने प्रो. दुबे को गुस्सा करते हुए बहुत कम देखा था, यहाँ तक कि जुलाई 1977 में जब उन्होंने मुझे नौकरी का प्रस्ताव दिया था, उस समय मेरे मना करने पर भी मुझसे नाराज नहीं हुए थे। एक-दो अवसरों पर मैंने उन्हें गुस्सा करते हुए अवश्य देखा था लेकिन उनका यह गुस्सा बिल्कुल क्षणिक होता था। वे जिस पर गुस्सा करते थे उसका अहित करने के बजाय उपकार ही करते थे। यही नहीं, बल्कि वे जिस पर गुस्सा करते थे उसे भरपूर प्यार भी करते थे। यानि प्रो. दुबे दूसरों की ग़लती से जनित गुस्सा, दुःख और पीड़ा को आत्मसात् कर जाते थे।

प्रो. दुबे की यह आत्म-पीड़ा उनकी सामाजिक पीड़ा का अंग थी जिसे उन्होंने अपने देहावसान से लगभग दो वर्ष पूर्व अपनी पुस्तक 'संक्रमण की पीड़ा' में व्यक्त किया था। पुरातनता से आधुनिकता के संदर्भ में संक्रमण या सामाजिक-संक्रमण एक सूक्ति या मुहावरा बनकर रह गया है। मेरी जानकारी में किसी भी समाजशास्त्री या नृतत्त्वशास्त्री ने आधिकारिक तौर पर इस विषय पर अब तक कुछ भी नहीं लिखा है। प्रो. दुबे ने इस संक्रमण या सामाजिक-संक्रमण से जनित पीड़ा को देखा, समझा और लालित्यपूर्ण शैली में उसे लेखनी-बद्ध किया। संक्रमणजनित उनकी यह पीड़ा अन्य पहलुओं के अतिरिक्त अस्मिताओं के संघर्ष, विघटनकारी दौर, आखिरी पंक्ति के आखिरी आदमी, अक्षर-विश्व में अंधकार इत्यादि के संदर्भ में अधिक गहन थी जिसके पीछे अस्थायी संस्कृति, असन्तुलित विकास, इतिहास-बोध का एकांगीपन आदि प्रमुख कारक निहित हैं।

जिन लोगों ने प्रो. दुबे को नजदीक से देखा है या फिर उन्हें सुना है और उनकी रचनाओं को पढ़ा है, वे इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि प्रो. दुबे परंपरा या फिर हिंदू- परंपरा के कतई पक्षधर नहीं थे। लेकिन वे इस बात के पूर्ण समर्थक थे कि आधुनिकता के संदर्भ में परंपरा में सब-कुछ सड़ा-गला अतएव त्याज्य नहीं होता, अपितु उसकी कुछ अच्छाइयों को लेकर आधुनिकता के साथ सार्थक तालमेल बैठाया जा सकता है। संभवतः इसीलिए उन्होंने एक बार यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं ब्राह्मणों पर एक पुस्तक लिखूँ जिसे मैंने मज़ाक में यह कहकर टाल दिया था कि मुझे अपनी आजीविका कमानी है, और संभव है कि ऐसी पुस्तक लिखने पर मुझे अपनी रोटी गँवानी पड़े। इसी प्रकार प्रो. दुबे आधुनिकता के नाम पर पश्चिम की अंधाधुंध नकल के बिल्कुल विरुद्ध थे। उनके अनुसार आधुनिकता समाज एवं संस्कृति को एक दिशा प्रदान कर सकती है बशर्ते उसे पूर्ण विवेक के साथ अपनाया जाये। अन्यथा विवेकहीन आधुनिकता व्यक्ति, समाज एवं संस्कृति को अवनति के गर्त में ढकेल सकती है।

दार्शनिक या आध्यात्मिक विवेचन की दृष्टि से सामान्यतया व्यष्टि से समष्टि का तात्पर्य मूर्तता से अमूर्तता या जीवंतता से शून्यता की ओर जाना है। हिंदू दार्शनिक-परंपरा के अनुसार शून्यता निजी न होकर एक सजीव इकाई है। फिर भी व्यष्टि से समष्टि की ओर जाने का अर्थ मरणोपरांत समष्टि या शून्यता की ओर जाना है। प्रो. दुबे के संदर्भ में ऐसा कहना बिल्कुल ही न्यायोचित नहीं होगा। उनके बारे में व्यष्टि से समष्टि का तात्पर्य व्यक्ति से व्यक्ति-समूह या व्यक्तियों के समूह की ओर जाना मात्र है, जो उन्होंने जीते जी ही पा लिया था। प्रो. दुबे के बारे में यह कहते हुए मुझे पश्चिमी, विशेषकर यूरोपीय बौद्धिक-परंपरा की याद आती है जहाँ व्यक्ति और व्यक्ति-समूह या फिर समाज अलग-अलग इकाई हैं एवं दोनों के बीच का संबंध एक तरह से लेन-देन के संबंध पर आधारित है। इसके विपरीत भारतीय बौद्धिक-परंपरा में व्यक्ति व्यक्ति-समूह का अभिन्न अंग है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। यही नहीं, बल्कि एक स्तर पर तो व्यक्ति ही व्यक्ति-समूह है, जहाँ वह समूह या व्यक्ति-समूह की सम्पूर्णता का प्रतिनिधित्व करता है, उसकी अभिव्यक्ति करता है। इसकी संक्षिप्त व्याख्या फ्रांसीसी समाजशास्त्री-नृतत्त्वशास्त्री लुई ड्यूमा ने अपनी 'होमो हरिर्किकस' नामक पुस्तक में की है। यहाँ विषय की गहराई में न जाकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि व्यक्ति और व्यक्ति-समूह के अलग-अलग अस्तित्व एवं उनके बीच के संबंध के आधार पर भारतीय तथा पश्चिमी समाजों को दो भिन्न प्रकार के समाजों में बाँटने का समाजविज्ञान में प्रयास किया गया है।

प्रो. दुबे व्यष्टि में ही समष्टि थे, जो उनकी सोच, उनके व्याख्यानों, रचनाओं से पूर्णतया स्पष्ट है। उनके लिए समष्टि ऐसे व्यक्तियों का समूह था जिनके लिए उन्होंने सोचा और लिखा। यही नहीं, बल्कि एक तरह से ऐसे व्यक्तियों की सोच को उन्होंने शब्दरूप देते हुए एक निश्चित दिशा-निर्देश भी दिया। हालाँकि उनके लिए व्यक्ति-समूह अनेक सामाजिक विसंगतियों एवं विरोधाभासों का एक सजीव और सार्थक पुंज है। इस व्यक्ति-समूह की इन्हीं विसंगतियों तथा विरोधाभासों से जनित हिंसात्मक विरोधों को देखते हुए एक बार प्रो. दुबे ने मुझे बताया था कि वे कौशेय-वस्त्र धारण करना चाहते थे। संभवतः उन्हें लगता था कि कौशेय वस्त्रधारी या संन्यासी राग-द्वेष और दुःख-सुख से परे होता है। संन्यास के आदर्शात्मक एवं व्यावहारिक पहलुओं से भलीभाँति परिचित प्रो. दुबे मेरी इस आशंका पर हँसने लगे थे, जब मैंने उनसे यह कहा था कि उनके ऐसा करने पर लोग उन्हें हिंदुत्व या हिंदुत्ववाद का समर्थक मानने लगेंगे। मैंने यह बात उनसे इसलिए कही थी, क्योंकि हमारे बीच यह बात उस समय हुई थी जबकि अयोध्या में बाबरी-मस्जिद के ध्वंस के बाद हिंदुत्ववादी ताकतें अत्यंत उन्माद में थीं और ऐसा लग रहा था, मानो वे भारत में जनतांत्रिक राजनीति एवं एक नयी उभरती समाज- संरचना के बदले काल्पनिक राम-राज्य की स्थापना करके ही रुकेंगे। स्वर्ग-नर्क, मोक्ष-अमोक्ष, प्रो. दुबे के शब्द-कोष में नहीं थे। इसीलिए, अपने देहावसान से कुछ समय पहले उन्होंने मुझसे कहा था कि वे शरीर के अंत के बाद न तो मोक्ष की कामना करते हैं और न ही पुनर्जन्म की। असल में उनके अनुसार, स्वर्ग-नर्क, मोक्ष-अमोक्ष—सब यहीं पर है, जिसे व्यक्ति जिन्दा रहते हुए भोगता है। असल में कार्य और परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं। मेरे विचार में प्रो. दुबे की यह सोच बुद्ध के कार्य-कारण

और कार्य के परिणाम से काफी प्रभावित थी, हालाँकि इस बात की न तो उन्होंने कभी चर्चा की और न ही इस पर कभी लिखा। जहाँ तक मैंने समझा है, प्रो. दुबे अपनी सोच और कार्यकलापों में पूर्ण-रूपेण बुद्धि-संगत, भौतिकवादी थे परन्तु अतिरेकीय एवं बुद्धिहीन भौतिकता के सख़्त खिलाफ़। उनके अनुसार, विवेकहीन भौतिकता व्यक्ति के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक पतन का अवश्यम्भावी कारण है, जिससे विवेक का प्रयोग करके बचा जा सकता है।

स्वायत्त समाजविज्ञान के अन्वेषी

□ *गिरीश्वर मिश्र*

'भारतीय समाज' शास्त्रीय या अकादमिक उत्सुकता और कौतुहल के लिए सुदीर्घ काल से अनेक विषयों के अध्येताओं और जिज्ञासुओं का लक्ष्य रहा है। इस क्रम में इतिहास, कला, प्राच्यविद्या तथा नृविज्ञान आदि की दृष्टि से यहाँ का समाज अपनी प्राचीनता और विविधता के लिए आकर्षण का एक सहज केंद्र बना परंतु एक समाजविज्ञानी के लिए भारत एक जटिल चुनौती पेश करता है। प्राचीन काल से चली आती कमोबेश अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान धर्म और दर्शन की जीवंत परम्पराएँ, लोक और शास्त्र के बीच अंतर्विनिमय और अब तीव्रगामी तकनीकी क्रांति के बहुआयामी प्रभाव आज के भारतीय समाज की समकालीन विशेषताओं और प्रवृत्तियों के आकलन-विश्लेषण के कार्य को दुसाध्य बना देते हैं। ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि इसके अध्ययन की कई सरणियाँ चल निकलीं। कुछ को शास्त्रों और आचार ग्रन्थों की आधारभूमि रुच गयी, तो कुछ ने पश्चिमी समाजविज्ञान की तर्ज पर प्रेक्षण की कोटियाँ बनाकर इंद्रियानुभविक प्रेक्षण को अपना आधार बनाया। भारत में समाजविज्ञान की जड़ें नयी होने के कारण, और पश्चिम के बौद्धिक साम्राज्यवाद के कारण पश्चिमी चिंतन को प्रतिमान मान बैठना एक मज़बूरी-सी बन गयी। इस पृष्ठभूमि में बहुतों ने ज्ञान की सार्वभौमिकता को स्वीकार कर पश्चिमी सिद्धांत, सम्प्रत्यय और प्रविधि को अपनाना सहज और स्वाभाविक मान लिया। इस संदर्भ में देखने पर प्रोफ़ेसर दुबे की समाजवैज्ञानिक दृष्टि अपने-आपमें एक सुखद आश्चर्य है। वह अनेक समकालीन समाजवैज्ञानिकों के आग्रहों से इस अर्थ में भिन्न दिखती है कि न तो वे परंपरा के भार से दबे रहे और न पश्चिमी विचारपद्धति से आक्रांत। उन्होंने परंपरा की कभी भी अंधभक्ति नहीं की और न ही आधुनिकता का अविचारित स्वागत। देशकाल की कसौटी पर जाँच कर ही वे अपना मत स्थिर करते थे। शायद यही उनके समाजवैज्ञानिक शोध और चिंतन की मुख्य पहचान बन गयी है।

राजनीतिविज्ञान के स्नातक और 'कमार' जनजाति के अध्ययन से अपनी समाज-वैज्ञानिक गवेषणा की यात्रा आरंभ करनेवाले दुबे जी के वैचारिक अवदान का क्रमिक विकास यदि देखा जाये तो विकास के साथ जड़ों की ओर लौटने की चुनौती और उसके प्रति आंतरिक प्रतिबद्धता को दर्शाता है। वह ऊर्ध्वमूल और अधोशाखा वाले अश्वत्थ वृक्ष का स्मरण कराता है जिसकी जड़ें ऊपर से नीचे की ओर आती हैं। खुले मन से परंपरा और आधुनिकता, दोनों पर बिना किसी दुराव-छिपाव के विचार-विमर्श प्रोफ़ेसर दुबे की खूबी थी। वे हर तरह की दृष्टियों का सम्मान करते थे। नये और पुराने के प्रति उनका आग्रह रेखांकित करने के लिए कालिदास की वाणी उपयुक्त होगी :

पुराणमित्येव न साधुसर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्षान्यतरद्भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

पुराना सिर्फ अपने पुराने होने से अच्छा या नया सिर्फ नये होने के कारण बुरा नहीं होता। विचारवान् परखने के बाद ही अच्छाई-बुराई तय करता है और अज्ञानी दूसरों के कहे अनुसार। प्रोफ़ेसर दुबे में एक विचारवान् की सहिष्णुता, संवेदनशीलता और विवेक था।

भारतीय ग्राम की संस्था का अध्ययन हो, विकास के मानदंडों का विश्लेषण हो, भारतीय शिक्षा पर विमर्श हो, समाज की प्रवृत्तियों का आकलन हो या फिर समाजविज्ञान के लिए चुनौतियों का विवेचन हो—इस सबमें प्रोफ़ेसर दुबे के विश्लेषण में अपनी संस्कृति की जमीन पर खड़े होकर, पर व्यापक अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य से अवगत एक सजग, सुरुचिसम्पन्न विचारक के विश्लेषण परिलक्षित होते हैं। साथ ही उनमें एक सहज बौद्धिक निर्भीकता भी झलकती है जो अब विरल होती जा रही है। भारत में समाजविज्ञानों के अध्ययन की परंपरा और सोच को प्रोफ़ेसर दुबे ने निश्चय ही एक प्रभावी दृष्टि से समृद्ध किया है जिसका व्यापक मूल्यांकन आवश्यक है। आज जब स्थानीय और वैश्विक—दोनों तरह के दबाव बढ़ते जा रहे हैं, इस दृष्टि की उपादेयता और भी बढ़ गयी है। औपनिवेशिक मानसिकता को प्रखर चुनौती देते हुए प्रोफ़ेसर दुबे की रचना-यात्रा में निरंतर उद्विकास हुआ है। ज्ञान-विज्ञान के बदलते परिदृश्य से जुड़ते हुए उन्होंने समकालीन प्रश्नों पर लुप्तप्राय होते वैदुषिक साहस के साथ विचार, और विचार करने का आह्वान किया है।

आधी शती तक विस्तृत एक शीर्ष समाजविज्ञानी और शिक्षाविद् की भूमिकाओं में प्रोफ़ेसर दुबे की उपस्थिति नवाचारों के प्रति समुत्सुक एक सर्जनात्मक प्रयोगकर्ता-सरीखी अनुभव की जाती रही है। नयी पीढ़ी के लिए उनकी सहज उपलब्धता अकारण न थी, वह समय के प्रति सजग उनकी सहिष्णु चेतना की एक सहज और स्वाभाविक परिणति थी। उनके सान्निध्य में आकर एक सम्यक् और समृद्ध दिशा-बोध की अनुभूति होती है। उनके साहचर्य में हम एक वैचारिक संस्कार से ओतप्रोत होते हैं, जो भारत जैसे विकासशील देश में एक प्रभावी और सार्थक समाजविज्ञानी की भूमिका निभाने के लिए अनिवार्य-सा है।

समाजविज्ञानों की विषय-वस्तु की यह विवशता है कि बहुत चाहकर भी उसे भौतिक विज्ञान की तर्ज पर जाँचा-परखा नहीं जा सकता। सामाजिक यथार्थ की रचना देश-काल सापेक्ष्य होती है, और उसके स्वभाव को उसके संदर्भ में रखकर ही देखा-समझा जा सकता है। इस तरह का यथार्थ प्रतीकों, व्यवहारों और सांस्कृतिक उत्पादों, जिनमें साहित्य भी शामिल है, को संवेदना के साथ ग्रहण करने से ही पकड़ में आ सकता है। प्रोफ़ेसर दुबे ने इसीलिए अपने अध्ययन और विवेचन में अनेक स्रोतों का उपयोग किया है और विच्छिन्न तथ्यों के बदले समग्रता या गेस्टाल्ट के बोध पर बल दिया है। इस बोध को उन्होंने संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने की एक गंभीर कोशिश की है। आधुनिक भारतीय समाजविज्ञानियों में प्रचलित विदेशी विचारकों को अपने लिए संदर्भसमूह बनाने और उनसे स्वीकृति की लालसा की तीव्र आलोचना करते हुए प्रोफ़ेसर दुबे ने स्वायत्त और स्वाधीन समाजविज्ञान की स्थापना का आह्वान किया। इसी क्रम में उन्होंने देशज समाजविज्ञान की अवधारणा का भी विकास किया।

उन्होंने यहाँ की परम्परा और संस्कृति से जुड़े अध्ययन को, जिसकी जड़ें यहाँ की जमीन में हों, महत्त्वपूर्ण माना।

समाजविज्ञानों की प्रचलित अकादमिक संस्कृति की सीमाओं पर विचार करते हुए प्रोफ़ेसर दुबे ने अलग-थलग पड़े विभिन्न विषयों या अनुशासनों के बीच विनिमय को आवश्यक ठहराया था। वे विषयों की परस्पर संबद्धता और अनुपूरकता के हामी थे। उनकी दृष्टि में एक अच्छा शोध मात्र बुद्धिविलास न होकर सोद्देश्य होता है। इस क्रम में समाज-वैज्ञानिक का कार्य वर्णन और व्याख्या से आगे बढ़कर प्रबंध और सामाजिक अभियांत्रिकी तक विस्तृत हो जाता है। इस रूप में एक समाजवैज्ञानिक राष्ट्र-निर्माण और आर्थिक विकास के वैकल्पिक मार्ग तलाशता है। उसकी बहुआयामी भूमिका होती है। औपनिवेशिक मानसिकता से ऊपर उठकर या मुक्त होकर ईमानदार आत्मनिरीक्षण को प्रोफ़ेसर दुबे ने एक अनिवार्य आवश्यकता माना। सलाहकार और समीक्षक के रूप में समाज वैज्ञानिकों का नीति-निर्धारण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है। पर इसके लिए नयी पहल ज़रूरी है जिसके अन्तर्गत देशजीकरण की प्रक्रिया अहम् भूमिका निभा सकती है।

समाजविज्ञानों का देशजीकरण उनकी सृजनात्मकता तथा प्रासंगिकता को प्रतिष्ठित करने के लिए आवश्यक है। देशजीकरण की प्रक्रिया को प्रोफ़ेसर दुबे सम्प्रत्यय और विधि, दोनों ही स्तरों पर ग्रहण करते हैं। अन्य संस्कृतियों से उद्धृत सिद्धांत और मॉडलों को आँख मूँदकर भारतीय समाज पर आरोपित करना विशेष फलदायी नहीं साबित हुआ है। इसी तरह अध्ययन-विधियों की भी सीमाएँ हैं। संस्कृति की प्रथाओं और प्रचलित व्यवहार संहपों के प्रति बिना संवेदनशील हुए पाश्चात्य विधियों का उपयोग आरोपित यथार्थ का ही बोध करा सकता है। इसीलिए प्रोफेसर दुबे ने भारतीय समाज और संस्कृति में उपलब्ध विचार की कोटियों और विधियों के उपयोग की संस्तुति की।

समाजविज्ञान के अध्ययन की परंपरा अधिकांशतः अकादमिक मूल्यों, प्रश्नों और सरोकारों से अनुबंधित रही है और उसकी उत्कृष्टता की पुष्टि विषय-विशेषज्ञों की राय के आधार पर हुआ करती है। प्रोफ़ेसर दुबे ने इसके महत्त्व को कम नहीं आँका पर उसे अपर्याप्त ठहराया। उनके विचार में ज्ञान के साथ सामाजिक दायित्व भी आवश्यक रूप से जुड़ा हुआ है। इसके फलस्वरूप ज्ञान को प्रासंगिक भी होना चाहिए। उसके लिए ज़रूरी है कि वह समाज की आवश्यकताओं-आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशील भी हो। प्रोफ़ेसर दुबे इसीलिए शोध के परिणामों को आम जनता और नीति-निर्धारकों तक पहुँचाने और इस तरह के समूहों को संबोधित करने पर भी बल देते रहे। शोधकर्ता और समाज के बीच सतत सक्रिय संवाद आवश्यक है। समाज से अलग-थलग पड़कर शोध अपना महत्त्व खो देता है। शोध की प्राथमिकताएँ अनुशासन या विषय ही नहीं, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य में निरूपित की जानी चाहिए।

ज्ञान और उसके सामाजिक परिदृश्य के अन्तःसंबंधों पर प्रोफ़ेसर दुबे के विचार विकास की अवधारणा के विश्लेषण में प्रखर रूप में प्रकट हुए हैं। विकास और आधुनिकीकरण के आन्दोलन को उसके ऐतिहासिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर प्रोफ़ेसर दुबे ने तीसरी दुनिया के देशों द्वारा दुर्बल देशों, उसकी सीमाओं और उसके उपयोग के ऋणात्मक परिणामों को

प्रभावी ढंग स रेखांकित किया है। संसाधनों के वितरण और उपयोग के असंतुलन, शक्तिशाली देशों का बहुविध शोषण इस तरह के विकास के प्रारूप के अनिवार्य परिणाम थे। जीवन की गुणवत्ता के निर्धारण में मनुष्य की विभिन्न स्तरों की आवश्यकताओं की सम्यक् पूर्ति होनी चाहिए। इसके लिए धरती की क्षमता के अनुरूप ही विकास का आयोजन श्रेयस्कर होगा। इस तरह की सोच के लिए औपनिवेशिक दासता वाली मानसिकता से उबरने की ज़रूरत को प्रोफ़ेसर दुबे ने अनेक स्थलों पर व्यक्त किया है। नयी मानसिकता में मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता, जो अधिक व्यापक और समृद्ध है, सर्वोपरि है। इन मूल्यों में केवल भौतिक सम्पन्नता ही नहीं बल्कि सामाजिक एवं पर्यावरणीय सरोकार भी सम्मिलित हैं। एक नये विश्व की संभावना, एक ऐसे विश्व, जिसमें परस्पर निर्भरता, अंतःक्रिया और अनुपूरकता हो, आज की एक गंभीर आवश्यकता है।

समाजवैज्ञानिक चिंतन में सिद्धांत और अनुप्रयोग का रिश्ता सैद्धांतिक विवेचनों में महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रायः इनको आमने-सामने रख, एक-दूसरे की श्रेष्ठता के तर्क प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। प्रोफ़ेसर दुबे इस तरह की प्रवृत्ति के विरुद्ध थे। उनकी दृष्टि में सिद्धांत और अनुप्रयोग अविभाज्य हैं। एक अच्छा सिद्धांत अपने उपयोग की संभावनाओं के होने, या न होने के नाते ही अच्छा या बुरा होता है। वस्तुतः अनुप्रयोग को दृष्टि के केन्द्र में रखने से सिद्धांत की गुणवत्ता में वृद्धि ही होती है। इस तरह प्रोफ़ेसर दुबे शोध को सतत प्रासंगिक बनाये रखने के पक्षधर थे।

पिछले दशक में प्रोफ़ेसर दुबे के लेखन में शुद्ध अकादमिक प्रश्नों से कहीं अधिक जीवन और संस्कृति के क्षेत्रों में हो रहे वांछित-अवांछित परिवर्तनों और हस्तक्षेपों को लेकर चिंता व्यक्त हुई है। एक संवेदनशील विश्लेषक के रूप में उन्होंने न केवल समकालीन घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है वरन् घटनाओं को सामाजिक परिवर्तन की व्यापक पृष्ठभूमि में जाँचा है और उनके तात्पर्यों या आशयों के प्रति आगाह भी किया है। वैचारिक ऊर्जा से अनुप्राणित उनका लेखन प्रभाविकता की दृष्टि से किसी के लिए भी स्पृहणीय हो सकता है। उनकी कृतियाँ हिंदी गद्य की भी उपलब्धि हैं और सामाजिक-सांस्कृतिक विश्लेषण के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज भी। उनका शिल्प और उनकी प्रेषणीयता असंदिग्ध रूप से प्रोफ़ेसर दुबे के भाषा-प्रयोग के कौशल को स्थापित करते हैं। उन्हें सुनना एक समृद्ध और स्मरणीय अनुभव होता था। उनका सान्निध्य खुले मन से विचार करने को आमंत्रित करता था। उत्साह और आत्मीयता से भरी उनके साथ हुई चर्चाओं की स्मृति मेरे लिए अमूल्य निधि है, उनके कर्तृत्व की यशःकाया तो हमारे पास है ही।

अपने समय और समाज से जुड़ी बौद्धिकता

☐ मैनेजर पाण्डेय

"आज का बुद्धिजीवी देशज-चिन्तन से कटता जा रहा है, साधारणजन से उसकी दूरी बढ़ती जा रही है। वह अधिकांशतः विदेशी भाषा में लिखता और छपवाता है। विदेशों में छपना बड़े सम्मान की बात मानी जाती है, भारतीय भाषाओं में लिखनेवाले की या तो अनदेखी की जाती है या उसे दूसरे या तीसरे दर्जे का बुद्धिजीवी मान लिया जाता है। विदेशी ज्ञान और विधियों का सम्मोहन बढ़ता जा रहा है।" ('समय और संस्कृति', पृ. 168)

स्व. श्यामाचरण दुबे का यह कथन आज के भारतीय विश्वविद्यालयों में काम करनेवाले, ख़ासतौर से समाजविज्ञानों से जुड़े और अंग्रेज़ी में लिखनेवाले बुद्धिजीवियों की वास्तविक स्थिति, उनकी मानसिकता और व्यापक समाज में उनकी क्रमशः घटती प्रासंगिकता की ओर सटीक संकेत करता है। आजकल विश्वविद्यालयों के अधिकतर समाजवैज्ञानिक शास्त्रज्ञ विद्वान् अधिक हैं, और सच्चे बुद्धिजीवी बहुत कम। वे अपने शास्त्र की रूढ़ियों से बँधे, पंडिताई के बोझ से दबे, भारतीय समाज की हलचलों से बेख़बर और जन-जीवन की वास्तविकताओं से अपरिचित लगते हैं। ये लोग शास्त्रीयता के नये-पुराने जार्गन्स से लदी-फँदी चक्करदार भाषा में ऐसा गूढ़ और रहस्यमय गद्य लिखते हैं जो शायद ही, किसी के काम का हो। उन्हें अपनी प्रगति की चिन्ता होती है, जन-जीवन को बदलने की नहीं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि आजकल कुछ समाजशास्त्री अपने शास्त्र की इस दयनीय स्थिति के बारे में चिन्ता करने और उसे बदलने के बदले समाजशास्त्र को लोकजीवन, उसके अनुभव और उसकी आकांक्षाओं से दूर रखने की वक़ालत कर रहे हैं। वे वैज्ञानिकता और वस्तुनिष्ठता के नाम पर समाजशास्त्र को नैतिक निर्णय, मूल्य-बोध और लोकमत से बचाने की बात कर रहे हैं। यही नहीं, वे भारतीय समाज की समस्याओं और आकांक्षाओं को समझने की कोशिश करनेवाले सोच-विचार को देश-भक्ति का उत्साह कहकर ख़ारिज करते हुए देश-काल निरपेक्ष सिद्धांतों की खोज को भारतीय समाजशास्त्र का लक्ष्य घोषित कर रहे हैं।

श्यामाचरण दुबे को भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय के ऐसे चिन्तन, लेखन और विडंबना का बोध न अचानक हुआ और न अकारण। वे ख़ुद लंबे समय तक उस समुदाय में सक्रिय रहे हैं। उन्हें अंग्रेज़ी में लिखने, विदेशों में छपने और सराहना पाने का पर्याप्त अनुभव था। वैसे तो पहले से ही वे आदिवासियों की समस्याओं, ग्रामीण भारत में परिवर्तन, सामुदायिक विकास योजनाओं में आनेवाली आर्थिक व राजनीतिक बाधाओं, विषमता भरे हमारे समाज, जैसे विषयों पर काम करते रहे थे, 'समाजशास्त्र किसलिए व किनके लिए' यह सवाल भी उठा रहे थे, लेकिन बाद में जब व्यापक भारतीय समाज के लिए समाजशास्त्र में पनप रहे चिन्तन और

लेखन की सीमाओं का बोध बढ़ा, उनके विचार की दिशा बदली और दृष्टि भी। वे देशज-चिन्तन के प्रति अधिक सजग हुए और जन-जीवन की समस्याओं के प्रति अधिक संवेदनशील। उसके बाद व्यापक जन-समुदाय से संवाद की आकांक्षा ने उन्हें हिन्दी में लिखने और बोलने के लिए प्रेरित किया। परिणामस्वरूप हिन्दी में होनेवाली सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक बहसों में उनकी गहरी दिलचस्पी, जीवंत उपस्थिति और सार्थक हस्तक्षेपों का एक लंबा सिलसिला चला जिसके प्रमाण उनकी पुस्तकों में मौजूद हैं।

लेकिन क्या हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा में लिखने से ही कोई व्यक्ति अपने समय और समाज का सच्चा बुद्धिजीवी हो जाता है? जी नहीं। यह संभव है और ख़ूब संभव है कि कोई व्यक्ति हिन्दी में लिखे, लेकिन वह मुख्यधारा के मिथक का बखान करे और अन्य धाराओं को बदनाम भी करे। यह भी संभव है कि वह अपनी परंपरा का मुग्धभाव से गुणगान करे, लेकिन अन्यों की उपेक्षा करे। साथ ही यह भी संभव है कि वह अपने समाज के इतिहास की विजय-यात्राओं के गीत गाये, लेकिन उसके काले धब्बों की अनदेखी करे, अपनी संस्कृति की केवल उज्ज्वलता को देखे-दिखाये, लेकिन उसकी बर्बरता को भूल जाय। लेकिन यह भी संभव है कि हिन्दी का बुद्धिजीवी अपने समाज में यथास्थिति का पोषक, पुनरुत्थान का समर्थक और सत्ता के मिथकों का प्रचारक हो। यही नहीं, वह शक्ति तथा सत्ता को मज़बूत करनेवाली मान्यताओं को दोहराये और जटिल सामाजिक समस्याओं के सरल शासकीय समाधानों का प्रवक्ता बन जाय। श्यामाचरण दुबे हिन्दी के ऐसे बुद्धिजीवी न थे।

दुबे जी के लेखन का दायरा बहुत व्यापक है; समय ही नहीं, विचारों के मुद्दों की विविधता और विस्तार की दृष्टि से भी। उन सबके बारे में कुछ कहने के बदले मैं भारतीय समाज, परंपरा, संस्कृति और साहित्य के बारे में उनकी सोच-विचार की प्रक्रिया में सजग और सक्रिय आलोचनात्मक चेतना की कुछ विशेषताओं की चर्चा करूँगा।

भारतीय समाज के बारे में सोचते हुए श्यामाचरण दुबे हमेशा साधारणजन के जीवन को विचार की कसौटी बनाते हैं और उसी कसौटी पर आज़ादी, लोकतंत्र, आधुनिकीकरण और विकास के सच और झूठ की जाँच करते हैं। 'भारतीय ग्राम' नाम की अपनी प्रसिद्ध पुस्तक के नये संस्करण के परिशिष्ट में आन्ध्र के एक गाँव शामीरपेठ के प्रसंग में पिछले चार दशकों के विकास का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने लिखा है कि "विकास हुआ है पर उसका लाभ निम्न वर्ग को बहुत कम मिला है। लगभग एक तिहाई जनसंख्या का जीवन-स्तर सुधरा है और उसमें उपभोक्तावाद की कुछ प्रवृत्तियाँ आयी हैं। सामान्यजन भविष्य की ओर आशा से देख रहे हैं। जो वायदे उनसे किये गए थे, पूरे नहीं हुए—ग़रीबी का उन्मूलन नहीं हुआ, बेरोज़गारी का परिमाण बढ़ा ही है, घटा नहीं और सामाजिक सेवाओं की गुणवत्ता संदिग्ध ही रही है। स्वाभाविक ही है कि जन असंतोष बढ़ा है, जिस क़रिश्मे की प्रतीक्षा थी वह साकार होता दिखाई नहीं पड़ता। आकांक्षाओं की क्रांति बलवती नहीं हुई, अधिकांश के लिए वह भ्रांति ही प्रमाणित हुई।" ('भारतीय ग्राम', पृ. 235) यह जितना शामीरपेठ के बारे में सच है उतना ही भारत के अधिकांश गाँवों के बारे में भी; बल्कि संपूर्ण भारतीय समाज का भी यही सच है।

पूँजीवादी विकास के नाटक की विडंबना और राजनीति में उसके झूठे-सच के विस्तार का अधिक ब्यौरेवार और बारीक़ विश्लेषण 'विकास का समाजशास्त्र' में है, लेकिन वहाँ भी

कसौटी जनता का जीवन ही है। इसलिए प्रो. दुबे ने लिखा है कि "गरीबी और उससे जुड़ी समस्याओं के प्रति अधिक संवेदनशील हुए बिना न जनतंत्र संभव है, न विकास।" जनता के प्रति उनकी संवेदनशीलता केवल भारत तक सीमित नहीं है, उसका विस्तार दुनिया भर की गरीब और शोषित जनता तक है। पूँजीवाद जातिप्रथा की तरह केवल भारतीय व्यवस्था नहीं है। वह विश्व-व्यवस्था है, जिसकी लूट और मार के शिकार सारी दुनिया के साधारणजन हैं, इसलिए जो व्यक्ति भारत की शोषित जनता के प्रति सचमुच संवेदनशील होगा, वह सारी दुनिया की शोषित जनता के दुःख-दर्द को समझेगा।

पिछले एक दशक से भारतीय अर्थ-व्यवस्था को भूमंडलीकरण, उदारीकरण और बाज़ारीकरण के साँचों में ढालने की ज़ोर-शोर से कोशिश हो रही है। कुछ लोग इस अभियान को भारत के आर्थिक विकास का राम-बाण कह रहे हैं, तो कुछ दूसरे इसी प्रक्रिया से भारत में राम-राज्य लाने की घोषणाएँ कर रहे हैं। उन लोगों के बारे में ईसामसीह की तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे नहीं जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। लेकिन व्यापक जनसमुदाय इन नारों से भ्रमित ज़रूर हुआ है। ऐसी स्थिति में इन मोहक नारों की कलई खोलना और उनमें छिपे ख़तरों से समाज को सावधान करना सच्चे बुद्धिजीवी का पहला कर्तव्य है। दुबे जी ने यह काम किया है। उन्होंने 'विकास का समाजशस्त्र' की भूमिका में लिखा है कि "बाज़ार का तर्क, उदारीकरण और भूमंडलीकरण विकास के नये नारे बन गये और उनमें अन्तर्निहित मंत्र-शक्ति द्वारा विकासशील देशों के कायाकल्प के कार्यक्रम बनाये जाने लगे। विकास की प्रक्रिया में उनका योगदान सीमित रहा है। अमेरिका में भी गरीबी का उन्मूलन नहीं हुआ है। वहाँ भी आवासहीनता है, सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा की समस्याएँ हैं। इससे गंभीर हैं पारिवारिक विघटन और सामाजिक सरोकारों के ह्रास की समस्याएँ। समाज में हिंसा बढ़ रही है, नैतिक मान्यताएँ स्खलित हो रही हैं, उपभोक्तावाद पनप रहा है। तेज गति के आर्थिक विकास के पास इनका उत्तर नहीं है।"

पूँजीवाद की विकास या विनाश-लीला का प्रभाव समाज के केवल आर्थिक-राजनीतिक जीवन तक ही सीमित नहीं होता। उसकी चपेट में सामाजिक संस्थाएँ, नैतिक मान्यताएँ और सांस्कृतिक रचनाशीलता भी आती है। यही नहीं, पूँजीवाद प्रकृति और पर्यावरण का भी दुश्मन है। यह सब अनुमान नहीं, पूँजीवाद के इतिहास की सच्चाइयाँ हैं। प्रो. दुबे ने 'विकास का समाजशास्त्र' में इन सच्चाइयों की ओर बार-बार संकेत किया है और इनके भावी ख़तरों से सावधान भी।

आजकल भारतीय समाज जिन वास्तविकताओं और अनुभवों का सामना कर रहा है, उनमें जीते हुए यह समझना बहुत मुश्किल नहीं है कि पूँजीवाद किस तरह धीरे-धीरे समाज को अमानवीय और मनुष्य को असमाजिक बनाता है। ऐसी दशा में कोई भी समाज हमेशा नहीं रह सकता, इसलिए जिन्हें भारतीय समाज के वर्तमान का बोध है, उन्हें इसके भविष्य की चिन्ता भी है। दुबे जी के लेखन में इस चिन्ता के दो रूप हैं। एक तो पूँजीवाद के रास्ते पर दौड़ते हुए इक्कीसवीं सदी में कूद पड़ने की हड़बड़ी के कारण सामने आनेवाले भयावह भविष्य की चिन्ता है, जिसके ख़तरों की चर्चा उन्होंने कई जगह की है। दूसरी ओर, उनके लेखन में भारतीय समाज के ऐसे भविष्य की भी चिन्ता है जिसमें यांत्रिकता, अमानवीकरण और

उपभोक्तावाद की स्थितियाँ न हों। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह केवल एक सद्भावना है। लेकिन आज के समय में यह सद्भावना भी मूल्यवान् है, जब कि एक ओर से आवाज़ आ रही है कि इतिहास का अंत हो गया है, दूसरी ओर घोषणा हो रही है कि विशद आख्यान का युग समाप्त हो गया है; और बीच में कुछ लोग बुदबुदा रहे हैं कि समाजशास्त्र स्वभावतः यूटोपिया-विरोधी होता है। ऐसी सभी मान्यताएँ उस विचारधारा की अभिव्यक्तियाँ हैं, जो आशा के सभी सिद्धांतों में मनुष्य की आस्था का नाश करके बेहतर भविष्य के लिए उसके संघर्ष के संकल्प को तोड़ देना चाहती हैं, ताकि पूँजीवाद ही संपूर्ण मानव समाज का शाश्वत वर्तमान बना रहे। श्यामाचरण दुबे की आलोचनात्मक चेतना उस विचारधारा को अस्वीकार करती हुई भारतीय समाज के बेहतर भविष्य की चिन्ता करती है और विकल्पों की ओर संकेत भी।

श्यामाचरण दुबे की आलोचनात्मक चेतना का अत्यंत तेजस्वी रूप तब सामने आता है जब वे भारतीय समाज में परंपरा पर बहस में हस्तक्षेप करते हैं। परंपरा के बारे में उनकी चिन्ता शुद्ध समाजशास्त्रीय दिलचस्पी से पैदा नहीं हुई है, उसका व्यापक सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ है, जिसकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है, "आज के संदर्भ में परंपरा एक मोहक शब्द है, साथ ही यह भ्रामक शब्द भी है, क्योंकि इसे मनचाहे अर्थ देकर इसके ग़लत-सही कितने ही प्रकार के उपयोग किये जा सकते हैं। आज के अनेक सामाजिक-राजनीतिक प्रश्न और आंदोलन परंपरा से जुड़े हैं। संस्कृति और जातीय अस्मिता एक तरह से परंपरा के पर्यायवाची बन गए हैं। इनके लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी जा रही हैं।" ('समय और संस्कृति', पृ. 11) स्वाधीनता आंदोलन के दौरान भारतीय समाज की परंपराओं की खोज, व्याख्या और यहाँ तक कि आविष्कार के जो उद्देश्य थे, वे स्वाधीनता के बाद बदल गये। परंपरा का राजनीतिक अर्थ भी बदल गया। स्वाधीनता के बाद के भारतीय समाज में परंपरा के नये राजनीतिकरण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रो. दुबे ने लिखा है, "सत्ता को चरम साध्य मानने वाले समूह में परंपरा के नये आश्रयदाता उभरे हैं। वे मनचाही व्याख्याएँ थोपकर राजनीतिक कौशल से कई छल योजनाओं द्वारा परंपरा की अभिव्यक्ति में हेर-फेर करते रहते हैं। इस समूह का उदय समसामयिक राजनीति का कड़वा यथार्थ है। ये बहुरूपिये परंपरा के अंतर्विरोधों को बढ़ाते हैं, समस्याओं के समाधान और परिवेश से अनुकूलन की उनकी क्षमताओं को कुंठित करते हैं। वे परंपराओं में पारस्परिक विद्वेष, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष को प्रश्रय देते हैं।" ('समय और संस्कृति', पृ. 16)

आज़ादी के बाद और विशेष रूप से पिछले दो दशकों में परंपरा पर विचारों और कुविचारों की बाढ़ आयी हुई है। इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र और साहित्य में परंपरा पर अनंत बहसें चल रही हैं। इन बहसों में परंपरा के आलोचनात्मक मूल्यांकन के बदले प्रायः परंपरावाद, जातीय अहंकार, संकीर्ण राष्ट्रवाद और आत्ममुग्धता ही अधिक दिखाई देती है। श्यामाचरण दुबे की आलोचनात्मक दृष्टि इन प्रवृत्तियों से टकराती और इनके छल-छद्म को खोलती है। प्रो. दुबे परंपरा पर अपनी विचार-प्रक्रिया इन सवालों से शुरू करते हैं : परंपरा के प्रति मोह क्यों बढ़ रहा है? क्या यह मोह किन्हीं व्यावहारिक समस्याओं और कठिनाइयों को जन्म दे रहा है? उन्होंने परंपरा के प्रति बढ़ते मोह के कारणों की भी चर्चा की है। वे कहते हैं कि "एक

ओर पूँजीवादी विकास की पश्चिमी पद्धति से परंपराओं के मिटने का ख़तरा पैदा होता है, तो दूसरी ओर देश के भीतर की शक्तिशाली सांस्कृतिक धारा की वर्चस्ववादी मनोवृत्ति अन्य परंपराओं के लिए ख़तरा बन जाती है। ऐसे ख़तरों के बोध से अपनी परंपरा के ह्रास और नाश का जो भय पैदा होता है, वह परंपरा के प्रति मोह बढ़ाता है। लेकिन परंपरा के प्रति बढ़ता मोह जब राजनीतिक रूप ले लेता है, तब वह अधिक ख़तरनाक बन जाता है।" प्रो. दुबे ने ठीक ही लिखा है कि "परंपरा का राजनीतीकरण अनेक समस्याओं को जन्म देता है। यह प्रक्रिया 'हम' और 'वे' की दूरी बढ़ाती है, सहज सह-अस्तित्व में विसंगतियाँ उत्पन्न करती है और अप-संस्कृतियों के उदय का कारण बनती है। कई सौ वर्षों के पड़ोसी कुछ ही वर्षों में बेगाने हो जाते हैं, जो कल तक एक-दूसरे के सुख-दुःख में सहभागी थे वे कुछ ही दिनों में दुश्मन बन जाते हैं। अविवेकी इतिहास दृष्टि, विकृत जातीय भावना और झूठी धर्मान्धता से हजारों वर्ष पुराने संतुलन गड़बड़ा जाते हैं।" ('समय और संस्कृति', पृ. 18)

पिछले दो दशकों से भारत में परंपराओं के प्रति बढ़ते मोह और उनके राजनीतिक दुरुपयोग की आलोचना के साथ ही प्रो. दुबे ने परंपरा पर विचार के लिए ऐसे ज़रूरी अनेक सूत्र और संकेत दिये हैं जिनकी मदद से भारतीय समाज की परंपराओं का आलोचनात्मक समाजशास्त्र विकसित किया जा सकता है।

प्रो. दुबे मानते हैं कि समाज के परिवर्तन और प्रगति की प्रक्रिया में परंपराओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, उस भूमिका का बोध ज़रूरी है। लेकिन उसके साथ ही यह भी ज़रूरी है कि हम परंपराओं के बनने, बिगड़ने और बदलने की प्रक्रिया को ठीक से पहचानें, अन्यथा या तो हम परंपरा की पूजा करेंगे या उसका निषेध, जो समाज के विकास के लिए आत्मघाती होगा। उन्होंने ठीक ही लिखा है कि "परंपरा के सम्बन्ध में सबसे बड़ी भ्रांति उसे जड़ और अपरिवर्तनशील मानना है। परंपराएँ सामाजिक विकास या ह्रास से असंपृक्त नहीं होतीं और इन प्रक्रियाओं से उनके रूप में भी परिवर्तन होते हैं। भिन्न परंपराओं में आदान-प्रदान होता है। नये संदर्भ उन्हें नये अर्थ देते हैं। परंपराएँ स्वयं ही समय-समय पर अपना मूल्यांकन कर अपनी दिशा बदलती हैं। परंपरा की इस आंतरिक गतिशीलता को स्वीकार किये बिना न हम उसके स्वरूप को समझ सकते हैं न उसकी भूमिका को।" ('समय और संस्कृति', पृ. 23)

प्रो. दुबे के अनुसार भारत में किसी एक परंपरा के वर्चस्व की बात करना दुराग्रह है और परंपराओं को इतिहास मानना बड़ा भारी भ्रम। परंपरा में इतिहास, मिथक और अनुभव का योग होता है। इसलिए जो लोग परंपरा को अतिमिथकीय और रहस्यमय बनाते हैं, वे उसके बोध को धुँधला करते हैं।

कुछ लोग भारतीय परंपरा की बात करते समय केवल वेद, पुराण और शास्त्रों को याद करते हैं। उनके सामने प्रो. दुबे कुछ सवाल रखते हैं। वे पूछते हैं, "क्या वे ग्रंथ अपने समय का सही चित्रण करते हैं? वे आदर्श समाज को प्रक्षेपित करते हैं या जीवित समाज का वर्णन करते हैं? क्या पूरा भारतीय समाज उनमें सिमट आया है? क्या उनमें चित्रित परंपरा के अतिरिक्त अन्य परंपराएँ इस देश में नहीं थीं? क्या धर्म और दर्शन से स्वतंत्र धर्म-निरपेक्ष परंपराएँ इस देश में विकसित नहीं हुईं। क्या यह परंपरा भारतीय समाज के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया

के साथ न्याय कर पाती है?" दुबे जी के इन सवालों के साथ कुछ और सवाल जोड़े जा सकते हैं—क्या वेद, पुराण और शास्त्रों के बाद लिखे गए साहित्य से परंपरा का निर्माण नहीं हुआ? क्या भक्ति-आंदोलन और उसके साहित्य से नयी परंपराएँ विकसित नहीं हुईं? वेदों, पुराणों और शास्त्रों के रचनाकाल के बाद क्या भारतीय समाज में परंपराओं के विकास की प्रक्रिया बंद हो गयी? क्या वैदिक और पौराणिक परंपराएँ ही एक मात्र प्रामाणिक परंपराएँ हैं? ये सभी सवाल वैदिक-पौराणिक परम्परा को ही एक मात्र भारतीय परम्परा मानने के हठ को दुराग्रह साबित करते हैं और किसी एक परंपरा की केन्द्रीयता का खंडन भी करते हैं।

प्रो. दुबे ने परंपराओं के जीवन को समझने के लिए उससे जुड़ी पाँच प्रवृत्तियों की चर्चा की है। ये प्रवृत्तियाँ हैं—देशजीकरण, जीवनीकरण, पुनर्व्याख्या, जातीय भावना का उदय और जड़ों की ओर वापसी। इन प्रवृत्तियों की क्रियाशीलता की प्रक्रियाओं को पहचानकर भारतीय समाज में परंपराओं के ह्रास और विकास को समग्रता में समझा जा सकता है क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ आज भी रचना, विचार और व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों में कमोवेश सक्रिय हैं।

परंपरा के मूल्यांकन की चिन्ता के अतिरेक के साथ ही पिछले दो-तीन दशकों में भारतीयता की खोज की प्रवृत्ति प्रबल हुई है। ख़ासतौर से देश में सांप्रदायिकता के नये उभार के साथ भारतीयता की खोज का नया दौर शुरू हुआ है। इतिहास में आर्यों की खोज हो रही है, आर्य सभ्यता के विस्तार पर पुस्तकें लिखी जा रही हैं और आर्यवाद को भारतीयता का पर्याय साबित किया जा रहा है। इस बीच साहित्य में भी जड़ों की चिन्ता और जड़ों की ओर लौटने की बेचैनी बढ़ रही है। पिछले दो-तीन दशकों से वेद, उपनिषद्, रामायण और महाभारत की कथाओं पर लगातार उपन्यास लिखे जा रहे हैं। यही नहीं, रचना और विचार की भाषा में संस्कृतनिष्ठता वापस लौट रही है।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान भी भारत की खोज हुई थी, लेकिन तब उस खोज का स्वरूप और उसके लक्ष्य आज की भारतीयता की खोज से एकदम अलग थे। तब भारतीयता की खोज में पूरे भारतीय समाज को साथ लेकर भविष्य की ओर चलने की कोशिश थी और उसके लक्ष्य थे—स्वाधीनता, लोकतंत्र और समाजवाद। अब विशुद्ध भारतीयता की खोज हो रही है, जिसमें छँटनी, बहिष्कार और अनन्यता की भावनाएँ अधिक हैं। इसका लक्ष्य है—एक समुदाय की कल्पना की भारतीयता का वर्चस्व स्थापित करना। एक आश्चर्यजनक बात यह है कि जो कभी भारत की पहली खोज से जुड़े थे, उनमें से कुछ अब भारत की दूसरी खोज में लगे हैं। वास्तव में जब किसी समाज की वर्तमान और भविष्य में आस्था टूटती है तब वह अतीत की शरण में जाता है। कभी-कभी वर्तमान के अपने उद्देश्यों को उचित ठहराने के लिए भी अतीत का उपयोग होता है। भारत की दूसरी खोज में यह प्रवृत्ति व्यक्त हो रही है।

भारत के भविष्य के लिए भारतीयता की तलाश का यह अभियान कैसे और कितना ख़तरनाक है—यह जानने के लिए श्यामाचरण दुबे का अत्यंत महत्त्वपूर्ण निबंध 'भारतीयता की तलाश' पढ़ना ज़रूरी है। वह निबंध विचारों की दृष्टि से इतना सघन और उत्तेजक है कि उसे पढ़े बिना उसके अभिप्राय का बोध नहीं हो सकता।

दुबे जी ने लिखा है कि अगर हमें "भारतीयता की तलाश आगे बढ़ने के लिए करनी है, पीछे जाने के लिए नहीं" तो उस विवेक-यात्रा के लिए कुछ सावधानियों को ध्यान में रखना

होगा। एक तो यह कि हम इतिहास को समग्रता में देखें। दूसरे, इतिहास के असुविधाजनक सत्यों से मुँह न मोड़ें, और तीसरे, यह स्वीकार करें कि जातीय स्मृतियों के साथ कई बार जातीय दुराग्रह भी जुड़ जाते हैं। अगर इन चेतावनियों की चिन्ता न की जाय तो भारतीयता की खोज की कोशिश अविवेकी यात्रा बन जायेगी, जैसा कि आजकल ख़ूब हो रहा है। उस स्थिति में इतिहास विवेक का नहीं, आस्था का विषय बन जाता है और जड़ों की खोज के दौरान उन्माद ही हाथ आता है, जो इतिहास दृष्टि का दुश्मन है। दुबे जी के अनुसार इन सावधानियों के साथ-साथ भारतीयता की तलाश के लिए कुछ भ्रमों से भी मुक्त होना ज़रूरी है। उनमें से पहला भ्रम भारत के जगत्गुरु होने का है। दूसरा भ्रम भारतीय समाज-व्यवस्था को आदर्श मानने का है। तीसरा भ्रम यह है कि हमारे पास आदर्शों का विशाल ख़जाना है, जबकि उन आदर्शों का हमारी ज़िन्दगी से कोई रिश्ता नहीं रह गया है। ये तीनों भ्रम यूरोप के प्राच्य विद्याविदों और भारतविदों की देन हैं जिन्हें आज भी कुछ लोग उपहार मानकर गले लगाये हुए हैं। अगर हम इन तीनों सावधानियों को ध्यान में रखें और तीनों भ्रमों से मुक्त होकर भारतीयता की तलाश करने चलें तो गंभीर आत्मालोचन की गहरी प्रक्रिया से गुज़रना होगा, "उस प्रक्रिया में हमें कई मुखौटे उतारने होंगे और जीवन-दृष्टि पर छाये पाखंड की धुंध का उन्मूलन करना होगा," जो अत्यंत त्रासद पर सार्थक और फलदायी होगा। लेकिन आजकल भारतीयता की तलाश की जो वानर-वृत्ति फैली है वह उस त्रासद और सार्थक विवेक यात्रा के रास्ते में जगह-जगह काँटे बिछा रही है।

आजकल भारतीयता की तलाश के प्रसंग में एक मुद्दा राष्ट्रीय मुख्यधारा का है। सभी तरह के राष्टवादी मुख्यधारा का मिथक गढ़ने में लगे हैं और उसमें अन्य परंपराओं, संस्कृतियों तथा अस्मिताओं के विलय का अभियान चला रहे हैं। उस अभियान में आह्वान से लेकर दमन तक सब जायज़ माना जा रहा है। प्रो. दुबे भारत में किसी एक महान् परंपरा को मुख्य धारा मानने और उसके वर्चस्व को सब पर थोपने की बात अस्वीकार करते हैं। वे परंपराओं की विविधता को भारतीय समाज की वास्तविकता मानते हैं। उनके अनुसार शास्त्रीय परंपरा से अलग हैं—लौकिक परंपराएँ और लौकिक परंपराओं के मुख्य रूप हैं—जातीय, स्थानीय और क्षेत्रीय परंपराएँ। इन परंपराओं के बीच सम्बन्ध और सह-अस्तित्व लंबे काल से भारतीय समाज की जानी-पहचानी सच्चाई है, इसलिए जो लोग एक परंपरा की ही प्रधानता की बात करते हैं और उसे राष्ट्रीय मुख्यधारा कहकर उसमें सभी परंपराओं तथा संस्कृतियों के विलय की बात करते हैं, उनको चेतावनी देते हुए दुबे जी कहते हैं कि "राष्ट्रीय मुख्यधारा में सबके विलय की नीति विघटनकारी सिद्ध होगी।"

प्रो. दुबे उन लोगों में से नहीं हैं जिन्हें भारतीयता की खोज करते समय प्राचीन भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहास में सब-कुछ हरा-ही-हरा दिखाई देता है। वे कहते हैं कि भारतीय समाज के इतिहास में अनेक असंगतियाँ और विरोधाभास भी रहे हैं—"उदाहरण के लिए, कुछ सशक्त आदिवासी समूहों को छोड़कर शेष को वर्ण-व्यवस्था में बहुत नीचा स्थान मिला और जो इस व्यवस्था के अंग नहीं बने उन्हें धीरे-धीरे बीहड़ वनों और एकाकी पर्वतमालाओं की ओर धकेला गया। अस्पृश्यता हमारे समाज का कलंक थी और आज भी है। धर्मग्रंथों के कुछ श्लोकों में भले ही हमने स्त्री को शीर्ष स्थान दिया हो, किन्तु व्यवहार में

वह दूसरे दर्ज़े की नागरिक ही रही।" ('समय और संस्कृति', पृ. 37) इन असंगतियों और अंतर्विरोधों की उपेक्षा करके किसी काल्पनिक आदर्श भारत की खोज अंततः निरर्थक और ख़तरनाक होने के लिए अभिशप्त है।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जो लोग वर्तमान में धार्मिक संघर्ष और हिंसा की राजनीति के सहारे भारत के भविष्य पर कब्ज़ा करना चाहते हैं, वही जब भारत की खोज में निकलते हैं तो अतीत में उन्हें केवल समरसता ही दिखाई देती है। भारतीय समाज के इतिहास में एकता के साथ-साथ संघर्ष की स्थितियाँ भी रही हैं, वे स्थितियाँ विचारों से लेकर व्यवहारों तक व्याप्त रही हैं। दुबे जी ने ठीक ही लिखा है कि "कट्टरतावाद भारत की धार्मिक परंपराओं का मूल स्वर नहीं रहा, यद्यपि इतिहास में उन मोड़ों के भी हज़ारों उल्लेख हैं जो हिंसात्मक धर्मान्धता से प्रेरित थे। भारतीय संस्कृति को बचाये रखने में उसके प्रश्न, शंका, असहमति, विरोध, सुधार और विद्रोह की परंपराओं का बड़ा हाथ रहा है। भारत के अनेक संत कवियों ने सामाजिक विक्षोभ की अभिव्यक्ति और अन्याय से लड़ने का नया मुहावरा विकसित किया। परंपरा को प्रकट रूप से अस्वीकार किये बिना उन्होंने पैने प्रश्न पूछे, गंभीर शंकाएँ व्यक्ति कीं, अपनी असहमति को शब्द दिये, विरोध को वाणी दी, सुधार की योजनाएँ सुझाईं और आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह का समर्थन किया।" ('समय और संस्कृति', पृ. 39) क्या यह सब भारतीयता का हिस्सा नहीं है? जो लोग भारतीयता की बात करते हुए प्रश्न, शंका, असहमति, विरोध और विद्रोह की शानदार परंपराओं की उपेक्षा करते हैं, वे भारत की खोज के नाम पर दूसरों को धोखा देना चाहते हैं। 'भारतीयता की तलाश' में ही दुबे जी ने बहुत पहले लिखा था कि "संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, जिसका न्यस्त स्वार्थी खुलकर उपयोग अपने स्वार्थों के लिए कर रहे हैं।" उन्होंने जब यह लिखा था तब अयोध्या में बाबरी मस्जिद का ध्वंस नहीं हुआ था और उग्र सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का उभार भी नहीं हुआ था। तब तक अमेरिका से सभ्यताओं के संघर्ष के सिद्धान्त की घोषणा भी नहीं हुई थी। लेकिन अपने समय और समाज को पैनी नज़र से देखनेवाले प्रो. दुबे ने संस्कृति की राजनीति के जिस चेहरे की एक झलक देखी थी, उसका भयानक रूप बाद में सामने आया। जब वह सामने आया, तब भी दुबे जी जीवित थे। उन्होंने उसे गौर से देखा और उसके बारे में अपना विक्षोभ खुलकर व्यक्त किया—"छह दिसंबर को अयोध्या में जो कुछ हुआ, वह हमारे इतिहास के पृष्ठों पर हमेशा एक काला और कुरूप धब्बा रहेगा। अयोध्या में उठी एक चिनगारी ने देशव्यापी आग का रूप ले लिया है, जिसमें हज़ारों जानें गयी हैं और हज़ारों के जाने का अंदेशा है।" ('समय और संस्कृति', पृ. 158) लेकिन उस शर्मनाक घटना और उससे उपजी भयानक ट्रेजेडी के बीच भी भारतीय जनता की विवेकशीलता में उनकी आस्था बची रही, इसलिए उन्होंने लिखा : "आशा की बस एक किरण है—अयोध्या के ध्वंस कांड पर जनसाधारण की तीव्र प्रतिक्रिया। जनता का विवेक और न्यायबुद्धि अब भी जीवित है।"

'समय और संस्कृति' में दुबे जी की एक महत्त्वपूर्ण रचना है 'त्रिशंकु संस्कृति का उत्कर्ष।' इसे मैं जानबूझकर रचना कह रहा हूँ, लेख नहीं; क्योंकि इसकी बनावट और उसको रचनेवाली चेतना केवल आलोचनात्मक नहीं, सचमुच सर्जनात्मक है। कोई चाहे तो कह सकता

है कि यह आलोचनात्मक चेतना की सर्जना है। वास्तव में यह रचना समाजशास्त्रीय कल्पना और साहित्यिक कल्पना के सहयोगी प्रयास की उपज है। इसमें क्रमशः चार चित्र सामने आते हैं—अत्यंत मनोयोग से चित्रित, सजीव, शोख और अपनी बात बोलते हुए। लेकिन एक-दूसरे से एकदम भिन्न। दो चित्र बारात के हैं, तीसरा रामलीला का और चौथा किसी सम्पन्न आधुनिक बुद्धिजीवी के ड्राइंग रूम में बैठे कुछ बुद्धिजीवियों का। ये चारों चित्र जिस तरफ़ इशारा कर रहे हैं, वह है भारतीय समाज में पनपती और फैलती त्रिशंकु संस्कृति। उसके रूप और प्रभाव के बारे में दुबे जी की राय यह है—"भारतीय समाज इस समय संक्रमण के दौर से गुज़र रहा है। इस प्रक्रिया की गति बहुत तेज़ है और उसके परिणाम बहुत विघटनकारी हैं। एक ही समय में दो विपरीत ध्रुवों के आकर्षण ने उसमें लक्ष्य-संभ्रम उत्पन्न कर दिया है और साधनों की नैतिकता को संशय के घेरे में खड़ा कर दिया है। एक ओर पश्चिम की जीवन-शैली का सम्मोहन है, दूसरी ओर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के आग्रह हैं। कभी समाज एक ओर झुकता है, कभी दूसरी ओर। अनिश्चय और अनिर्णय की यह स्थिति समाज (या उसके कुछ भागों) से सुविधाजनक किन्तु सिद्धान्तहीन समझौते कराती है, जिनसे उभरती है एक त्रिशंकु संस्कृति—अवसरवादी, आधारहीन; कुछ पक्षों में हास्यास्पद और अपने व्यापक प्रभाव में पीड़ादायक।" ('समय और संस्कृति', पृ. 136)

ऐसी रचना वही लिख सकता है जो अपने समाज की ज़िन्दगी को जानने के लिए अपनी आँखें और कान खुले रखता है ताकि वह ज़िन्दगी की सच्चाइयों को देख सके और उसकी धड़कनें सुन सके, वह नहीं जो बौद्धिक तटस्थता के नाम पर समाज की ज़िन्दगी की हलचलों से बचता है और जीवन के अनुभवों से किताबी ज्ञान को अधिक महत्त्व देता है। यह रचना साबित करती है कि किसी समाज की संस्कृति में घटित होनेवाले परिवर्तन की बारीक़ पर जटिल प्रक्रियाओं को समझने के लिए उस समाज की ज़िन्दगी की वास्तविकताओं और अनुभवों के प्रति गहरी संवेदनशीलता ज़रूरी है। इस रचना में मौजूद अंतर्दृष्टि समाज की ज़िन्दगी में हिस्सेदारी से मिलती है, केवल वैज्ञानिक प्रविधि के प्रयोगों से नहीं।

श्यामाचरण दुबे ने लेखन की शुरुआत हिन्दी में ही की थी। उन्होंने लिखा है कि "सन् 1940 में, जब मैं केवल अट्ठारह वर्ष का था, अपनी औकात समझे बिना अपने लेख 'विशाल भारत' और 'हंस' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में भेजना आरंभ कर दिया था। आश्चर्य होता है कि ये लेख छपने भी लगे।" नृतत्त्वशास्त्र और समाजशास्त्र की ओर जाने के बावजूद हिन्दी साहित्य में उनकी गहरी दिलचस्पी बराबर बनी रही, विशेष रूप से कथा साहित्य में, जिसके प्रमाण 'परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति' में संकलित साहित्य-सम्बन्धी पाँच निबन्ध हैं। इन निबन्धों से जाहिर है कि उनकी दिलचस्पी गंभीर साहित्य के साथ-साथ लोकप्रिय साहित्य में भी रही है। वे गंभीर साहित्य दो रूपों में पढ़ते रहे हैं—साहित्यिक रचना के रूप में और सामाजिक दस्तावेज़ के रूप में भी। वे जनरुचि को जानने के लिए लोकप्रिय साहित्य भी पढ़ते रहे हैं।

दुबे जी साहित्य से निरंतर जुड़े हुए सावधान और संवेदनशील पाठक थे, हिन्दी कथा-साहित्य से उनका अंतरंग संबंध था, इसलिए यह उम्मीद थी कि वे हिन्दी में साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की राह बनाएँगे। अपने जीवन के आख़िरी दिनों में वे इस दिशा में

प्रयत्नशील भी थे, पर दुर्भाग्य से उन्हें यह अवसर ही नहीं मिला। हिन्दी में साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की विडंबना यह है कि जो साहित्य के आलोचक हैं, वे समाजशास्त्र से अपरिचित हैं और जो हिन्दी-क्षेत्र के समाजशास्त्री हैं, उनमें से अधिकांश हिन्दी साहित्य से अनजान। ऐसी स्थिति में साहित्य के समाजशास्त्र का विकास कैसे हो। प्रो. दुबे साहित्य और समाजशास्त्र, दोनों से समान रूप से जुड़े हुए थे, इसलिए वे साहित्य के समाजशास्त्र के विकास का मार्गदर्शन कर सकते थे। लेकिन वह नहीं हुआ।

अब हमारे सामने उनके साहित्य-सम्बन्धी कुछ लेख हैं। उन लेखों में कुछ ऐसे विचार हैं जिनसे हिन्दी में साहित्य के समाजशास्त्र के विकास में मदद मिल सकती है। उन्होंने लिखा है कि "भारतीय ग्रामीण जीवन को हिन्दी के कुछ उपन्यासकारों ने रचनात्मक दृष्टि से और साहित्यकार की तीसरी आँख से देखा है, और उसके कुछ ऐसे पहलुओं के सूक्ष्म तत्त्वों की मार्मिक विवेचना की है जो हमारी शुष्क वैज्ञानिक दृष्टि और कष्टसाध्य सांख्यकीय विश्लेषण की पकड़ में नहीं आते।" ('परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति', पृ. 128, 129) वे स्वीकार करते हैं कि साहित्य समाज की ठोस ज़िन्दगी और उसके अनुभवों के बारे में ऐसा साक्ष्य देता है जिसका कोई विकल्प नहीं। वे यह भी मानते हैं कि "साहित्य का मुहावरा समाजविज्ञान के मुहावरे से भिन्न होता है पर दोनों एक ही यथार्थ तक पहुँचने की कोशिश करते हैं।"

साहित्य भाषिक कला है, इसलिए उससे कुछ भी पाने की कोशिश में वही सफल होगा जो साहित्य की भाषा के विशिष्ट स्वभाव के प्रति संवेदनशील और सतर्क हो; वह चाहे समाजशास्त्री हो, इतिहासकार हो या साहित्य का आलोचक। प्रायः साहित्य के समाजशास्त्रीय चिन्तन में साहित्य की भाषा के स्वभाव, उसकी संरचना और उसके प्रयोजन की उपेक्षा होती रही है, इसीलिए समाजशास्त्री कविता की दुनिया से खाली हाथ लौटते रहे हैं। प्रो. दुबे ने भाषा और शब्द की सामाजिकता पर ध्यान दिया है। उन्होंने शब्द की सामाजिकता की व्याख्या करते हुए लिखा कि—"मनुष्य ने जिन अनेक प्रकार के प्रतीकों का निर्माण किया है उनमें शब्द संभवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सशक्त है। उच्चारित अथवा लिखित रूप में शब्द मानवीय अर्थ-संप्रेषण का सबसे अधिक भार वहन करते हैं जिससे सामाजिक धरातल पर जीवन संभव होता है। शब्दों में मानवीय चेतना परिलक्षित होती है, उनके माध्यम से इस चेतना का विस्तार होता है। शब्द मनुष्य के भूत और वर्तमान तथा वर्तमान और भविष्य को जोड़ते हैं। मानव के अनुभव-क्षेत्र और जीवन-स्वरूपों के आयामों के विस्तार में भी शब्दों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। लेखक और कवि शब्दों का उपयोग जिस तरह करते हैं, उससे व्यक्ति और समूहों को आत्मचेतना, ऐतिहासिकता और आध्यात्मिकता मिलती है।" ('परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति', पृ. 149-50) शब्द की व्यापक सामाजिकता की पहचान करनेवाली इस दृष्टि से साहित्य के समाजशास्त्रीय चिन्तन को नयी दिशा मिल सकती है बशर्ते कि हम रचनाओं के विश्लेषण में इस दृष्टि का प्रयोग करें।

पश्चिम में भी अभी साहित्य का समाजशास्त्र लिखित साहित्य तक ही सीमित है, मौखिक साहित्य तक उसकी पहुँच नहीं हुई है। जब लेखन की संस्कृति का विकास नहीं हुआ था, तब लंबे समय तक साहित्य मौखिक ही था और आज भी अधिकांश लोकसाहित्य मौखिक ही है। उस समय साहित्य मनुष्य को सामाजिक बनाने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम था। प्रो. दुबे

ने ठीक ही लिखा है कि "अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रियाओं को बल और गति देने में सहायक होता था।" मौखिक साहित्य की इस सामाजिक भूमिका का समाजशास्त्रीय विश्लेषण साहित्य के समाजशास्त्र के विकास का नया मार्ग बनायेगा।

प्रो. दुबे के अनुसार साहित्य के समाजशास्त्र का एक नया पक्ष सामाजिक परंपराओं से साहित्य के सम्बन्ध का अध्ययन है क्योंकि—"साहित्य में परंपरा की अभिव्यक्ति और व्याख्या होती है और उसके माध्यम से परंपराओं को स्थायित्व भी मिलता है। साथ ही साहित्य परंपराओं का मूल्यांकन करता है और उनके सतत नये अर्थ और प्रयोजनों की खोज भी।" ('परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति', पृ. 15)

प्रो. दुबे ने साहित्य के सत्य को जीवन के सत्य से अलग माना है। उनके अनुसार वे दोनों एक नहीं होते, उनके धरातल भिन्न होते हैं और प्रभाव की प्रक्रिया भी। उन्होंने लिखा है कि—"कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक, पाठक को अपनी एक अलग दुनिया में ले जाते हैं और वह थोड़े समय के लिए अपने जीवन के यथार्थ को भूलकर इस नये यथार्थ का अंग बन जाता है, पर शीघ्र ही उसे वस्तुजगत् के यथार्थ में लौटना पड़ता है। वह केवल भावनाओं में नहीं जी सकता। यह सच है कि साहित्य का सत्य उसके मानसिक क्षितिजों पर छा जाता है, उसे उद्वेलित कर देता है। यह भी संभव है कि वह उसकी तात्कालिक प्रेरणा का कारण बने। पर यह भी उतना ही सच है कि बहुत ही कम तात्कालिक प्रभाव स्थायी बन सकते हैं।" ('परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति', पृ 164)

यह बात उन समाजशास्त्रियों को पसंद नहीं आयेगी जो साहित्य को समाज का दर्पण मानते हैं और उसमें जीवन का हू-ब-हू चित्र देखना चाहते हैं। दुबे जी की यह बात उन लोगों के लिए भी खटकनेवाली है जो साहित्य की क्रांतिकारी भूमिका पर ज़ोर देते हैं। दुबे जी साहित्य को दर्पण से अधिक दीपक मानते हैं, इसलिए वे कहते हैं कि साहित्य का मुख्य प्रयोजन सामाजिक आलोचना है और उस आलोचना से विकल्प की खोज भी जुड़ी होती है। लेकिन वे साहित्य के क्रांतिकारी और स्थायी प्रभाव के बारे में आश्वस्त नहीं हैं। उनके अनुसार, साहित्य का समाजशास्त्री साहित्य की सामाजिक आलोचना, उससे जुड़ी विकल्पों की खोज और मनुष्य की परिकल्पना का विश्लेषण करते हुए साहित्य की सामाजिकता के नये पक्षों को सामने ला सकता है।

प्रो. दुबे ने 'हिन्दी उपन्यास और ग्रामीण परिवेश' तथा 'प्रेमचंद की परंपरा' जैसे निबंधों में हिन्दी के अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों की रचनाओं की सामाजिक अर्थवत्ता की खोज की है। उन्होंने श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी', राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' और कृष्णा सोबती के 'ज़िन्दगीनामा' की रचना-दृष्टि, भाषा की भंगिमाओं और यथार्थ चेतना का विश्लेषण करते हुए इन उपन्यासों को प्रेमचंद की परंपरा का विस्तार माना है। लेकिन उनको सबसे अधिक प्रिय है फणीश्वरनाथ रेणु की रचनाशीलता। उन्होंने लिखा है—"कथानक और शैली, दोनों की दृष्टि से रेणु ने कथा-शिल्प को प्रेमचंद से आगे बढ़ाया है। उनके हर पृष्ठ से यह आभास होता है कि लेखक स्वयं गाँव का है और ग्रामीणों के हृदयों की धड़कन को भली-भाँति समझता है। फिर भी लेखक में एक अजीब तटस्थता भी हमें मिलती है। न तो वह

ग्रामीणों की दुर्दशा पर छाती पीटता और आँसू बहाता है और न सच्ची या झूठी क्रांति के नारे ही लगाता है। आक्रोश का दबा स्वर उसकी रचनाओं में अंतर्निहित है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह प्रत्यक्ष उत्तेजना के मुहावरे का प्रयोग नहीं करता। उसकी रचनाएँ मन पर प्रभाव छोड़ती हैं किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से।" ('परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति' पृ. 145-46) प्रेमचंद की परंपरा से रेणु की रचनाओं के सम्बन्ध के बारे में दुबे जी की यह राय हिन्दी के अनेक आलोचकों की राय से अलग है, लेकिन वह व्यापक पाठक समुदाय की भावना के अनुरूप है।

भारतीय समाज, संस्कृति, परंपरा और साहित्य से सम्बन्धित प्रो. दुबे के विचारों की इस चर्चा से यह जाहिर है कि उनके चिन्तन में एक ऐसी आलोचनात्मक चेतना क्रियाशील है जो प्रत्येक विचारणीय प्रसंग में प्रश्न पूछने की प्रेरणा देती है, सच को समझने और उसे खुलकर कहने का साहस पैदा करती है। वह ग़लत और सही के बीच फ़र्क़ करने का विवेक जगाती है और व्यापक रूप से स्वीकृत तथा प्रचारित लेकिन गहरे स्तर पर ख़तरनाक मान्यताओं से टकराती है। वह आलोचनात्मक चेतना दुबे जी के चिन्तन को एक ओर शास्त्रीयता की रूढ़ियों से बचाती है तो दूसरी ओर अपने समय और समाज की समस्याओं के बारे में उन्हें निरंतर सतर्क बनाये रखती है।

दुबे जी अपने समय के भारतीय समाज और ख़ासतौर से हिन्दी समाज के ऐसे बुद्धिजीवी के रूप में हमारे सामने आते हैं जो अपने समाज की वास्तविकताओं के प्रति संवेदनाशील और सामाजिक समस्याओं से उपजी चुनौतियों का सामना करने के लिए तत्पर है। वे देश-काल-निरपेक्ष बुद्धिजीवी नहीं हैं। वैसे बुद्धिजीवी इतिहास के खंडहरों और संस्कृति के अजायबघरों में रहते हैं जो प्रायः स्मृति की खुदाई करनेवालों को मिलते हैं।

आदर्श समाज वैज्ञानिक

□ आनंद कुमार

स्वाधीनोत्तर भारतीय समाजविज्ञान के क्षितिज पर आचार्य श्यामाचरण दुबे का व्यक्तित्व पूरी आभा के साथ पचास के दशक में उभरा। तीन पीढ़ियों के लिए मार्गदर्शक की गरिमामय भूमिका पूरी करके उनकी यशस्वी जीवन-यात्रा का जब समापन हुआ, तो भी ऐसा लग रहा था कि अभी दशकों लंबी व्यस्तताएँ घेरे हुए हैं। भारतीय अस्मिता की विशिष्टता में अडिग आस्था तथा समाजविज्ञान की राष्ट्रनिर्माण में बुनियादी भूमिका में प्रबल आत्मविश्वास के दो किनारों के बीच उनका विचार प्रवाह 1945 से 1995 तक अविराम बना रहा। इसी के समानांतर दुबे जी ने सागर और कार्नेल विश्वविद्यालय से लेकर शिमला और जम्मू विश्वविद्यालय तक समाजविज्ञान के अध्ययन व शोध, अनेकों संस्थाओं की रचना, संवर्धन व संचालन में विशिष्ट योगदान किया। उनको राजनीति के सत्तापक्ष से परहेज था लेकिन राजनीति के रचना-पक्ष से गहरा लगाव था। अतः राष्ट्रनिर्माण के लिए शासन-व्यवस्था के साथ संवाद और सहयोग में निःसंकोच योगदान भी किया। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि उन्होंने हमेशा अपने स्वाभिमान को अक्षुण्ण रखा और पद के टिकने की या पुनर्नियुक्ति की परवाह किये बिना निर्णय लिये तथा संबंध बनाये।

दुबे जी के व्यक्तित्व के एक पक्ष की तरफ समाजवैज्ञानिक समुदाय का झुकाव था, क्योंकि निरंतर शोध व विश्लेषण में जुटे रहने के कारण उनका सत्संग ताजा समझदारी पैदा करता था। दूसरे पक्ष की ओर साहित्यकार, रंगकर्मी, पत्रकार और राजनीतिक कार्यकर्ताओं की जमातों का रुझान था, क्योंकि दुबे जी से बातचीत, विचारधाराओं व सघन अनुभवों की जटिल लेकिन सीमित दुनिया में जी रहे लोगों के लिए शेष सच की ओर खुलनेवाली खिड़की की बयार जैसा था। इसीलिए समाजशास्त्र से लेकर साहित्य और राजनीति तक की किसी भी राष्ट्रीय बहस में दुबे जी की विशिष्ट उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। उनकी मौजूदगी व हिस्सेदारी से 'संवाद' का माहौल बनता था। दुबे जी की आस्थाएँ थीं, आग्रह भी थे और संबद्धताएँ भी थीं। लेकिन वह भारतीय आचार्य परंपरा के प्रतीक थे। जिससे उनका प्रयास 'वादों' में 'विवाद' के बजाय 'संवाद' का संबंध बनाने का रहता था। इस अर्थ में आचार्य श्यामाचरण दुबे को लोकतांत्रिक बौद्धिक संस्कृति की स्वाधीनोत्तर भारत में बुनियाद बनाने वाले बौद्धिकवर्ग के नायक, शिक्षक, संरक्षक और सचेतक के रूप में बराबर स्मरण किया जायेगा।

मेरी पीढ़ी का प्रो. श्यामाचरण दुबे के प्रति आकर्षण उनकी रचनाओं में परिवर्तन की पक्षधरता तथा उनके जीवन में सामाजिक सरोकारों की महत्त्वपूर्ण जगह के विशिष्ट संयोग के कारण था। अन्य समाजवैज्ञानिकों की रचनाओं में आधुनिकता और आंदोलनों के प्रति एक वस्तुगत दृष्टि

का प्राधान्य था, लेकिन दुबे जी की रचनाएँ आस्था और आशा के रंगों से चित्रित थीं। उनका भारत की स्वाधीनोत्तर व्यवस्था के प्रति प्रशंसा का भाव भी था। इससे हम साठोत्तरी युवजन असहमत थे। हम आंदोलनों को आग का दरिया बनाकर सब कुछ निर्मल करना चाहते थे। दुबे जी का फलक ज्यादा विस्तृत था। उनमें राष्ट्रीय आंदोलन की 1940 के दशक की यथा-स्थितिवादी फिसलन की स्मृतियाँ थीं। उन्हें अन्य नव-स्वाधीन राष्ट्रों में परिवर्तनवादी हलचलों से पैदा अराजकता और जनविरोधी-व्यवस्थाओं का भी ज्ञान था। अतः वह वर्तमान की उपलब्धियों को भविष्य की संभावनाओं के बहाने खारिज करने को प्रस्तुत नहीं थे। इसीलिए हमारी हर चर्चा में उनके वक्तव्यों के तुरंत बाद हम 'लेकिन' के साथ तस्वीर का दूसरा पहलू सामने रखने की चेष्टा करते थे। एक महापंडित तथा अंतर्राष्ट्रीय शास्त्रार्थी होने के बावजूद हमारे वाक्यों व दृष्टांतों-उदाहरणों को धीरज से काफ़ी की चुस्की के साथ सुनते थे। फिर तत्काल अत्यंत स्नेहिल किंतु स्पष्ट स्वरों में तुलनात्मक तरीके से इतिहास, या वर्तमान से तथ्य लाकर हमारी दृष्टि की कमज़ोरियों को रेखांकित कर देते थे। संवाद का एक सिलसिला पूरा करके ही अन्य मुलाक़ातियों की ओर मुख़ातिब होना, उनके साथ अगली बातचीत के लिए आने का निमंत्रण जैसा होता था। लेकिन अब इस तीन दशक लंबी संवाद-शृंखला पर काल की ओर से अप्रत्याशित पूर्णविराम लगा दिया गया है। फिर भी उनकी रचनाएँ इस संवाद को जारी रखेंगी।

उदाहरण के लिए जब-जब भारतीय स्वाधीनता के विगत दशकों का लेखा-जोखा करने हम बैठेंगे तो दुबे जी की ओर से उनका लेखन भागीदारी करेगा। जैसे—अपने महाप्रस्थान के पूर्व 'भारतीय ग्राम' (द्वितीय संस्करण, 1996) के परिशिष्ट में 'चार दशक के बाद' शीर्षक अध्याय में प्रो. दुबे ने स्थायी महत्त्व का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है, जिसे हम उनके समापन वक्तव्य की तरह बार-बार याद रखना चाहेंगे—"पिछले चार दशकों की प्रमुख उपलब्धियाँ क्या थीं? शामीरपेट पर केंद्रित यह अध्ययन किन्हीं क्रांतिकारी परिवर्तनों की सूचना नहीं देता। विकास हुआ है पर उसका लाभ निम्नवर्ग को बहुत कम मिला है। लगभग एक तिहाई जनसंख्या का जीवन-स्तर सुधरा है और उसमें उपभोक्तावाद की कुछ प्रवृत्तियाँ आयी हैं। सामान्य जन भविष्य की ओर आशा से देख रहे हैं। जो वायदे उनसे किये गए थे, पूरे नहीं हुए। गरीबी का उन्मूलन नहीं हुआ, बेरोजगारी का परिमाण बढ़ा ही है, घटा नहीं और सामाजिक सेवाओं की गुणवत्ता संदिग्ध ही रही है। स्वाभाविक ही है कि जन असंतोष बढ़ा है, जिस करिश्मे की प्रतीक्षा थी वह साकार होता दिखाई नहीं पड़ता। आकांक्षाओं की क्रांति बलवती नहीं हुई, अधिकांश के लिए वह भ्रांति ही प्रमाणित हुई।" (पृ.235)

वस्तुतः दुबे जी को लंबे अरसे से जाननेवालों के लिए उनकी समूची बौद्धिक-यात्रा आशा से अवसाद तक ईमानदारी से दर्ज़ किया गया सामाजिक वृत्तांत का सिलसिला है। उन्होंने लोकसाहित्य के संकलन, आकलन और एक आदिवासी समूह पर अनुसंधान से अपनी मानवविज्ञान-समाजशास्त्र की यात्रा प्रारंभ की, फिर भारतीय ग्राम का अध्ययन और ग्रामीण भारत में बदलाव की प्रक्रिया का मूल्यांकन किया। इसी संदर्भ में संचार, नौकरशाही तथा विकास के सवाल उभरे। इन सबको देखते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि दुबे जी का समाजशास्त्र मूलतः आधुनिकता व आधुनिकीकरण से उत्पन्न संक्रमण को केन्द्र में रखकर रचा गया।

इस संदर्भ में उन्होंने समकालीन विश्व-व्यवस्था तथा मानवता के संदर्भ में भारतीय वास्तविकता को परखा व जाँचा। इसमें समय और समाज के संबंधों के महत्त्व को विकास की शब्दावली में प्रस्तुत किया गया। समय और समाज के संयोग से संस्कृति जनमती है और संस्कृति पत्थर की तरह जड़, पेड़ की तरह विकासोन्मुख और नदी की तरह प्रवाहशील होने का एक साथ आभास देती है। यह अपने अंदर और बाहर की वास्तविकताओं की लगातार परस्पर अंतहीन अंतर्क्रिया से रूप और आकार ग्रहण करती है। इसलिए मानवीय संस्कृति में परंपरा सदैव बहुवचन से पहचानी जानी चाहिए। इसी से विविधता में एकता और एकता में विविधता का समाजवैज्ञानिक सच समझ में आयेगा।

दुबे जी की इस विशिष्ट दृष्टि का क्या रहस्य था? उनके जीवन-चरित्र पर दृष्टि डालने से स्पष्ट पता चलता है कि उनके निजी व्यक्तित्व की बुनावट ही रंग-बिरंगी विविधता के ताने-बाने की हर स्तर पर मौजूदगी से संपन्न हुई थी। वह अपने ज्ञान व उपलब्धियों में स्वाधीन भारत की बौद्धिक प्रखरता के एक प्रतीक थे। अतः उनकी लेखनी व मनीषा के स्तर पर भारतीय समाज व संस्कृति की कालजयी व्याख्या की आस्था व विश्वास-भरी प्रस्तुति स्वाभाविक थी।

फिर भी एक बौद्धिक के रूप में उन्होंने बार-बार नये परिवेश की मुख्य प्रवृत्तियों का भी स्मरण कराया है, जिससे हमारा समाज अपनी बुनियादी व्यवस्था तथा परिवर्तनकारी शक्तियों व प्रेरणाओं को ठीक से समझ सके। संक्रमण का स्वभाव पहचानने पर परिवर्तन का आतंक घट जायेगा। परिवर्तन की दिशा जान लेने पर भविष्य के लिए बेहतर तैयारियाँ की जा सकती हैं। दुबे जी के अनुसार भारत में चल रही परिवर्तन की आँधियों के पीछे चार प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं, जिनका हमारी संस्थाओं, प्रक्रियाओं और संस्कृति पर गंभीर प्रभाव पड़ा है :

(1) राजनीतीकरण (2) लोकतंत्रीकरण (3) धर्मनिरपेक्षीकरण और (4) व्यक्ति-केंद्रिकता। ये परिवर्तनकारी प्रवृत्तियाँ अलग-अलग नहीं समझी जा सकतीं क्योंकि इनका परस्परावलंबन महत्त्वपूर्ण है। इन परस्पर संबद्ध प्रवृत्तियों के साथ भारतीय राजनीति व समाज के अनुभवों को लेकर वह निश्चिंत नहीं है।

शुभ-अशुभ दोनों पर उनकी निगाह है। राजनीति और समाज के लोकतंत्रीकरण से न्याय-भावना और अधिकार-चेतना का जागृत होना शुभ लक्षण मानते हैं। लेकिन चिंता भी है कि क्या हमारी 'पंगु राजनीतिक व्यवस्था' के जरिये कुछ गुणात्मक अंतर आ पायेगा? धर्मनिरेपेक्षीकरण से अंधविश्वासों की जगह कार्य-कारण-संबंधों की समझ ले रही है। लेकिन विकास की विफलताएँ अंधविश्वासी अनुष्ठानों व पोंगापंथी जीवन-शैली की ओर फिर धकेल दें तब? दुबे जी की चिंता है कि व्यक्तिकेंद्रिकता की वृद्धि से सामूहिक भावना का घटता दायरा क्या सचमुच हितकारी है? क्योंकि सामूहिकता का नया आधार—नागरिक भावना—नहीं विकसित हो रहा है। फिर स्वच्छंदता और अनैतिकता को कौन रोकेगा?

इस सबसे शामीरपेट के रहनेवाले 'भारत' को, भारत के लाखों गाँवों-कस्बों-नगरों में रहनेवाले 'भारत' को अपनी पहचान का संकट भुगतना पड़ेगा। ये सभी 'विकराल गति से बढ़ते महानगर' की लंबी होती परछाईं से ढक जाएँगे। चिंता के इस गहन दौर में भी दुबे जी का साथ उनकी आशावादिता नहीं छोड़ती। उनका अंतिम वाक्य आशा का है कि, "यह भी

संभव है, दूरदर्शी नीतियाँ उसकी पहचान बनाये रखकर उसे नया सामूहिक आधार दें और उसे समता और न्याय के साथ समृद्धि की दिशा में ले जायें।" (भारतीय ग्राम '1996' पृ. 236) अब दुबे जी नहीं हैं लेकिन उनकी चिंताएँ व आशा—दोनों हैं। उनकी अध्ययन-पद्धति व उनकी दृष्टि—दोनों ही प्रासंगिक व उपयोगी हैं क्योंकि हमारा समाज संक्रमण से गुज़र रहा है और पहचान और सपनों का संकट गहराता जा रहा है। इससे राजनीति, धर्म, समुदाय, व्यक्ति, राज और समाज—सभी हतप्रभ हैं।

मैंने प्रोफ़ेसर साहब को 1968 से जानना-पहचानना-पढ़ना शुरू किया था। हम लोग बनारस में डॉ. राममनोहर लोहिया के विचारों से प्रभावित होकर विद्यार्थी-राजनीति में नया मोड़ पैदा करने में जुटे थे। प्रो. दुबे विद्यार्थी-असंतोष के अध्ययन की एक शोध-योजना के अंतर्गत वाराणसी पहुँचे। अपने पूर्वछात्र तथा गांधी विद्या-संस्थान में जे.पी. के साथ कार्यरत समाजवादी श्री सुरेंद्र विक्रमजी ने कहा कि "एक बहुत बड़े समाजशास्त्री तुम लोगों के आंदोलन का अध्ययन करने के लिए आये हैं। डॉ. लोहिया को जानते हैं। हम लोगों के लखनऊ में शिक्षक रहे हैं। तुम्हें जरूर मिलना चाहिए क्योंकि तुम भाषा-आंदोलन में जेल गये थे और समाजवादी युवजन सभा की इकाई की देखभाल कर रहे हो।" मैं बी. एस-सी. द्वितीय वर्ष का छात्र था अतः 'समाजशास्त्री' वाला पक्ष बहुत काम का नहीं लगा। लेकिन उनकी विद्यार्थी-असंतोष को समझने में दिलचस्पी व लोहिया जी का प्रशंसक होना पर्याप्त कारण थे। पहली ही मुलाकात लगभग ढाई घंटे चली। उन्होंने सवाल पूछे, खूब उत्तर सुने। फिर यह भी बताया कि सागर में समाजवादी रुझानवाले रघु ठाकुर, श्रीनाथ आदि को उनका स्नेह व मार्गदर्शन प्राप्त रहता है। फ्रांसीसी छात्र-आंदोलन, चीनी सांस्कृतिक क्रांति, गांधी-नेहरूवाद, मार्क्सवाद, अंग्रेज़ी का अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व और आतंक, आदि-आदि बिना ओर-छोर के चर्चा हुई। मैंने उन्हें अग्रज पीढ़ी के स्नेहिल बौद्धिक के रूप में देखा। उन्हें भी मेरा परिचय याद रहा होगा क्योंकि चार बरस बाद जब मैंने काशी विश्वविद्यालय छात्रसंघ के अध्यक्ष के रूप में एक आंदोलन के दौरान निष्कासित होकर जेल से पत्र लिखा तो अविलंब उनकी ओर से दिलासाभरा उत्तर मिला। तब तक मैं समाजशास्त्र का विद्यार्थी हो चुका था और ज्ञान की इस शाखा में उनकी हैसियत की पूरी जानकारी भी पा चुका था।

उनसे मुलाक़ात की बारंबारता का असली दौर 1972-74 में आया, जब मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एम. फिल. का विद्यार्थी बनकर दिल्ली आया। उनके बड़े बेटे मुकुल दुबे मेरी कक्षा में थे और हमारी परस्पर निकटता भी हो गयी। इससे दुबे जी ज़्यादा सहज भाव से पुत्रवत् संवाद करने लगे। मुकुल भाई की देखादेखी हमारी ओर से भी ज़्यादा शंका-असहमति व अलग दृष्टि का रखना होने लगा। इंदिरा जी व जयप्रकाश जी की भ्रष्टाचार और लोकहित के मुद्दों पर असहमति से पूरा राष्ट्रीय माहौल प्रभावित होता जा रहा था। दुबे जी का आशावाद जे. पी. की शंकाओं को अतिरंजित मानता था। हमारा गैरकांग्रेसवादी प्रशिक्षण इंदिरा जी को अशुभ व अमंगल की प्रवक्ता के रूप में देखता था। तभी मुकुल भाई आदि के साथ मिलकर जे. एन. यू. के हम विद्यार्थियों ने 'फ्री थिंकर्स' नामक विद्यार्थी-मंच बनाया। एक साल में ही इस मंच ने छात्रसंघ से लेकर मार्क्सवादी मजमों तक में अपना असर दिखाना शुरू

किया। इससे हमारी हर अगली मुलाक़ात ज्यादा दिलचस्प होती गयी। हर वार्ता में नयी जानकारियाँ, नये लेख, नयी पत्रिकाओं, व नयी किताबों की जानकारी मिलती। पुस्तकालय जाना प्रासंगिक लगता। पढ़ना जरूरी लगता। दुबे जी का नया लिखा तो पढ़ना ही पड़ता।

जाने-अनजाने उन्होंने हमारी मित्र-मंडली के मन में समाजशास्त्र की सर्वोच्च ज्ञानधारा तक जाने की प्रेरणा को बलवती बनाया। हर उपलब्धि को अपने सगे बेटों की सफलता जैसे सराहते रहे और हर कमी को अपनत्व में निहित बेचैनी के साथ इंगित करते गये। मेरे बनारस व दिल्ली के अध्यापन काल में हर निमंत्रण पर अपनी भरसक स्वीकृति प्रदान करके आये, बोले, मार्गदर्शन दिया, स्नेह-संरक्षण दिया। ज्ञानी की गरिमा, गुरु का निर्मल स्नेह और एक बुजुर्ग की सतत शुभकामना का सुंदर समन्वय उनके व्यवहार में बराबर मिलता रहा। इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि मेरे बौद्धिक जीवन के हर कठिन मोड़ पर प्रोफ़ेसर साहब जैसे आचार्य का शीतल संबल मिलता गया। मैं यह भी जानता हूँ कि भारत के हर कोने में मेरे जैसे अनगिनत व्यक्तियों का उनके प्रति ऐसा ही भाव है।

अपनी जीवन संध्या की समापन बेला में प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे अपनी तेजस्विता की संपूर्णता के साथ राष्ट्रीय जीवन के अनेकों पहलुओं को प्रकाशमान बनाये हुए थे। राष्ट्रीय प्रश्नों पर हिंदी में प्रमुख समाचारपत्रों विशेषकर सहारा, जनसत्ता व हंस में, दो-टूक शैली में उनकी विवेचना ने सबका ध्यान आकर्षित किया हुआ था। विकास मॉडल की विडंबनाओं, संस्कृति को संकीर्ण बनाने के अभियान, दलितों के नेतृत्व द्वारा ग़लत आधारों पर जनजागरण की चेष्टा, भूमंडलीकरण में निहित भोगवाद से आतुर नवदौलतिया वर्ग की समस्याएँ और बौद्धिकों की घटती सक्रियता जैसे प्रश्नों पर दुबे जी ने खूब असरदार हस्तक्षेप किया।

साहित्य व समाजशास्त्र के बीच सेतु बनकर लेखकों-कवियों के बीच उनकी उपस्थिति ने दोनों के बीच की खायी को भरना शुरू कर दिया था। साहित्य अकादमी, ज्ञानपीठ प्रतिष्ठान आदि ने दुबे जी को इस प्रस्थान-बेला में भरपूर आदर दिया। इससे साहित्यकारों के एक हिस्से में यह ग़लतफ़हमी भी हो गयी कि शायद समाजवैज्ञानिकों ने दुबे जी को उनसे कम पहचाना। दुबे जी भारतीय समाजशास्त्री परिवार के पिछले चार दशकों से 'संरक्षकमंडल' या 'निदेशक मंडल' के सर्वाधिक रोबदार बुजुर्गों में गिने जाते रहे हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में कोई समाजशास्त्र विभाग ऐसा नहीं होगा जिसकी स्थापना, चयन-समिति व उत्सवों-सम्मेलनों में प्रो. एस. सी. दुबे की उपस्थिति, स्वीकृति की धमक-गमक न रही हो।

उनके बौद्धिक व्यक्तित्व की जीवन के अंतिम वर्षों तक कायम बहुआयामी प्रासंगिकता के दो सुंदर उदाहरणों का मैं स्वयं साक्षी था। इलाहाबाद में हिंदी-साहित्य सम्मेलन के हीरक जयंती उत्सव में समाजविज्ञान-सत्र का भी आयोजन था। इसके मंच पर श्री अमृत राय, श्री लक्ष्मीकांत वर्मा व प्रो. शीतलाप्रसाद नागेन्द्रजी के बीच मुख्य अतिथि के रूप में अत्यंत आग्रह के साथ प्रो. दुबे को उद्घाटन-वक्तव्य के लिए बुलाया गया। दुबे जी ने 'परंपरा और परिवर्तन' पर सुंदर वक्तव्य प्रस्तुत किया और समूची साहित्यकार बिरादरी उनके वक्तव्य के इर्दगिर्द अपनी प्रस्तुतियाँ करती रही। इसी के कुछ महीनों बाद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग ने संस्कृति और राष्ट्रनिर्माण पर राष्ट्रीय सेमिनार का

आयोजन किया। उद्घाटन भाषण प्रो. अवध किशोर शरण ने और अध्यक्षीय वक्तव्य प्रो. श्यामाचरण दुबे ने दिया। दो मनीषियों की परस्पर विरोधी स्थापनाएँ जिस शालीनता के साथ प्रस्तुत की गयीं, वह अपने-आपमें एक अविस्मरणीय प्रसंग है। फिर अगले तीन दिनों तक समाजवैज्ञानिकों का वह राष्ट्रीय परिसंवाद प्रो. शरण व प्रो. दुबे के वक्तव्यों के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा। यह भी स्मरणीय रहेगा कि आजीवन (इस दौर में भी) दुबे जी समान उत्साह से ही क्षेत्रीय व स्थानीय परिसंवादों का भी निमंत्रण स्वीकारते रहे।

प्रो. श्यामाचरण दुबे ने महाभारत के अवसादग्रस्त आचार्यों की तरह विदा ली है, लेकिन उनकी ज्ञानधारा ने पाँच दशकों तक हमारे राष्ट्रीय बौद्धिक वर्ग को पुष्पित-पल्लवित करने में अमूल्य योगदान किया। एक अनुसंधानशील समाजवैज्ञानिक, एक प्रतिबद्ध बौद्धिक व एक आदर्श आचार्य के रूप में प्रो. श्यामाचरण दुबे ने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से जिन मर्यादाओं को निभाया, उनसे हमारी कई पीढ़ियों को प्रेरणा मिलेगी। हम उनकी आशाओं का आधार सिद्ध हो सकें, यही उनके प्रति उचित श्रद्धांजलि होगी।

दुबे जी की याद

☐ *मृणाल पाण्डे*

दुबे जी को याद करना हममें से उनके लिए, जो तीनेक दशकों तक उनके मौलिक चिंतन, गहन जमीनी अध्ययन और शिशु सुलभ कौतुहल के साक्षी रहे थे, एक पूरी विरल होती विद्वत् परंपरा से संबंध जोड़ना है, सिर्फ एक भावभीनी रस्मअदायगी नहीं। इस स्मरण में कृतज्ञता तो है ही, उनकी मौलिकता के प्रति (हल्की हिरस भरा) अचरज और उनकी जिज्ञासु रचनात्मकता के प्रति गहरा सराहना-भाव भी है। हमारे अधिकतर बड़े बुद्धिजीवियों (जिनमें समाजशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों की एक बड़ी तादाद है) ने स्वतंत्रता के बाद अभिव्यक्ति ही नहीं, जमीनी शोध के स्तर पर भी किसी बिंदु पर अपने को क्षेत्रीयता और क्षेत्रीय भाषाओं से बेवजह काट लिया। इससे भारतीय विद्वानों की एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी की तमाम रचनात्मकता अन्तर्मुखी और अमूर्त होकर अंग्रेज़ी अथवा आडंबरमय भाषायी गद्य के कालातीत पीपलों पर एक ब्रह्मराक्षस बनकर जा लटकी। इस भाषायी प्रेतलोक में हमारे लोक के नये विचार, नयी भाषा और शोध-सामग्री बिना मरे, यानी बिना भाषायी चोला त्यागे प्रवेश नहीं कर सकते, और इस लोक में घुसने के बाद वे विचार तथा स्थापनाएँ सुधी पाठकों को भयाक्रांत भले न करें, लेकिन कहीं-न-कहीं वे एक हद तक औसत पाठक के लिए अपार्थिव और अग्राह्य भी बनते चले जाते हैं। दुबे जी का व्यक्तित्व और कृतित्व, दोनों ही, ज्ञान के इस ब्रह्मराक्षसीकरण के ख़िलाफ़ एक सार्थक मोर्चा खोलते थे।

"बड़े साहित्यिक आयोजनों में मुझे बेचैनी होती है। 'मानव की नियति', 'संस्कृति का संकट' और 'रचनाकार का उत्तरदायित्व' जैसे विराट् प्रश्नों पर महिमामंडित और पांडित्यपीड़ित साहित्यकारों की गर्जना कभी-कभी बहुत उबा देनेवाली होती है। ···मेरी परेशानी उस समय और भी बढ़ जाती है जब मुझे यह अध्यक्षीय आदेश मिलता है कि मैं सभा को संबोधित करते हुए अपने 'बहुमूल्य विचार' प्रस्तुत करूँ।···संसार की प्रायः प्रत्येक भाषा में व्यक्तिवाचक प्रथम पुरुष—मैं—उसके सबसे अधिक व्यवहृत शब्दों में से एक होता है। और शायद ही कोई दूसरा शब्द हो जिसका इतना अधिक दुरुपयोग होता है। ···पाठक की भूमिका, उसकी प्रकृति और उसकी बहुरंगी और अनपेक्षित प्रतिक्रियाओं की प्रायः उपेक्षा हुई है, जिसके कारण साहित्य के गंतव्य और मंतव्य दोनों को समझने में बाधा पड़ती है।" (साहित्य की मेरी पहचान)

दुबे जी की रचनाएँ साबित करती हैं कि भारत जैसी बहुरंगी विविधताओं वाले देश के एक सच्चे बुद्धिजीवी के लिए एक साथ एकाधिक धरातलों पर सहजता से जीना अनिवार्य है। उसके मनोविश्व में एक ओर तैंतीस करोड़ देवी-देवता हैं, मानस का, भागवत का सस्वर सार्वजनिक पारायण है और विशाल भगवती-जागरण के घंटे-घड़ियाल तथा रहस्यमय मंत्र-टोने-टोटके हैं, जिनसे भारतीय सामाजिकता का एक बड़ा भाग आंदोलित होता रहता है।

दूसरा धरातल है राजनीति से लेकर अर्थनीति तक फैली उस ठोस सांसारिकता का, जहाँ जाति-पाँति, आचार-संहिता और उनसे उपजे नाना समीकरण विराजमान हैं। तीसरा स्तर, भव्य तर्क और वैज्ञानिक शोध का है। यहाँ पर इन सब घटनाओं, विचारों, मनःस्थितियों का एक तटस्थ विश्लेषण और व्याख्या चलते रहते हैं। और इन सबके परे एक विशुद्ध धरातल है, रसास्वाद का। जहाँ फतवेबाजी और खेमेबंदी से ऊपर उठकर विशुद्ध कलात्मक संज्ञेयता और रसानुभूति के आधार पर समाज और विश्व का विहंगम दृश्य देखना संभव होता है। दुबे जी के साथ कुछ ही समय बिताने के उपरांत यह देखना बड़ा आसान था, कि वे कैसी सहजता से इन तमाम स्तरों के बीच लगातार विचरते रहते थे, और किस तरह उनकी रचनाओं में भी तमाम आयाम लगातार अपने अन्तर्संबंधों समेत व्यक्त होते रहते थे।

जिन देशों में निर्बाध और सहज बौद्धिक विकास की लंबी परंपरा है, वहाँ भारत की तरह बुद्धिजीविता को अवतारवाद का पर्याय नहीं माना जाता। ज्ञान को वहाँ कर्मठ शोध और परिष्कृत भाषा से सहज साधा जाने योग्य जैविक उत्पाद करके ही देखा जाता है। लेकिन हमारे यहाँ, चूँकि बौद्धिक विकास का क्षेत्र एक तो पहले ही जाति तथा लिंग पर आधारित खानों में बाँटकर अधिसंख्य भारतीय जनता की पहुँच से बाहर कर दिया गया था, तिस पर लम्बे विदेशी शासन तले राज की भाषा भी आम-जन की भाषा से कतई अलग-थलग बनाकर रखी गई। लिहाजा हस्तकौशल और अमूर्तज्ञान, अक्सर अपने दो अलग-अलग संसार गढ़ते चले गए। ऐसे में जिन समूहों (जैसे कि स्त्रियों तथा शूद्रों) के पास पारंपरिक कर्मों का सच्चा जमीनी ज्ञान और हुनरमंदी की लंबी समझ, दोनों थे, उनके पास शाब्दिक अभिव्यक्ति की सामर्थ्य और लिपिबद्ध करने का कौशल जाता रहा; जबकि हमारे लिखने-पढ़ने वाले बड़भागी विद्वान् ज्ञान के व्यावहारिक जमीनी स्वरूपों से फिरण्ट होकर ज्ञान को लगातार अमूर्त से वृहत्तर अमूर्तन की ओर लुढ़काते चले गये। कुर्सीतलब और बड़बोले इन क्रांतिकारी मसीहाओं और दब्बू, मूक तथा अवैज्ञानिक कामगारों के उदय के साथ भारत में ज्ञान का क्षेत्र तकरीबन हर जगह अकुशल मैकेनिकों और अव्यावहारिक पंडितों के बीच बँट गया। नतीजा हुआ—परंपरा के साथ स्वस्थ प्रयोगों का विलोप तथा ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के कुदरती संकरण पर प्रतिबंध!

दुबे जी उन विरल बुद्धिजीवियों में से थे, जो ईमानदारी से यह सत्य स्वीकार करते थे और कामना करते थे, कि कोई जलजला आकर इस असहनीय गड़बड़झाले की स्थिति को नष्ट कर दे ताकि जो भारतीय बुद्धि अमूर्त विचारों के और विकासहीन पुनरावृत्ति के बड़बड़ाते प्रेतलोक में सिरकटे भूतों और उल्टे पैरवाली चुड़ैलों की तरह हाहाकार करते भटक रही है, उसकी मुक्ति हो।

"आदिवासियों और गैर-आदिवासियों के बीच हम/वे का अंतर बढ़ रहा है। इसके मूल में है हमारी दोषपूर्ण ऐतिहासिक समझ और बहुसंख्यकों की झूठी उच्चभावना। दोनों को नजदीक आना है, किंतु इस प्रक्रिया में आदिवासियों का आकृतिविहीन बनना जरूरी नहीं।··· आदिवासी जीवन पर रोमांटिक ढंग से विचार करना व्यर्थ है, पर हमारे सोच में मानवीय संवेदना और सामाजिक स्रोत अवश्य होना चाहिए।" (आदिवासी धरोहर)

दुबे जी का जीवन तथा लेखन सिद्धांतवादी कट्टरता और तात्कालिक व्यावहारिकता का एक स्वस्थ मिश्रण रहा। यदि अपने अंतिम दिनों में वे बुद्धि का महत्त्व कम करना चाहते थे, तो

इसके पीछे कुछ प्रबल वजहें रही होंगी। विश्वव्यापी सन्दर्भों और वायवीय विचारधारा का परिप्रेक्ष्य पाठक पर शुरू से थोपने की बजाय युगीन स्थितियों का रचनात्मक बोध उस तक पहुँचाना, उनको शिक्षा तथा सम्प्रेषण—दोनों की पहली प्राथमिकता प्रतीत होती थी। इसीलिए दोनों क्षेत्रों में कोई भी नयी पहल या विचारोत्तेजक हस्तक्षेप उनको सहज आकर्षित और उत्साहित करते थे, और संचार, शिक्षा तथा सांस्कृतिक विकास के अंतर्संबंधों को समझने के लिए वे प्रशासनिक संचार-व्यवस्थाओं से लेकर सेक्सटन ब्लेक सिरीज़ की चटपटी लोकप्रिय जासूसी किताबों तक की जीवन्त दुनिया की लगातार टोह लेते रहते थे। कहना न होगा, इसमें उनकी सहज परिहासरसिकता और निराडंबर सोच भारतीय समाज और साहित्य की भीतरी बिडम्बनाओं और अंतर्द्वन्द्वों को पकड़ने में तो बहुत सहायक होते ही थे, पीढ़ियों के अंतराल को नाटकर कम उम्र किंतु मेधावी शोधार्थियों की एक पूरी पीढ़ी से वे उनका एक दुर्लभ ऊष्माभरा संवाद भी कायम कराते रहे। मौलिकता, चिन्तन की हो अथवा कर्म की, उन्हें जितने ही प्रिय रहे, आडम्बरपूर्ण विनम्रता और अनुकरणशील नकली भद्रता दुबे जी को उतना ही तिलमिलाते थे और गंभीर रचनाकर्म में किसी तरह की बेईमानी भी उन्हें बहुत खिन्न करती थी।

अतः मेरी समझ में उनकी आत्मा को सच्ची श्रद्धांजलि उनके इलाके में उनका बौद्धिक अनुकरण करके नहीं बल्कि वहाँ मौलिक काम करके ही दी जा सकती है। यदि यह मौलिकता कहीं दुबे जी की स्थापनाओं का निषेध भी करती चले, तो शायद उनकी आत्मा को यह और भी अच्छा लगेगा। शायद अपना पाइप तनिक टेढ़ा करके (यदि आत्मालोक में पाइप पिया जाता हो) वे मंद-मंद मुस्करायेंगे और एक चुभती टिप्पणी के साथ विषय पर चार नये नामों की फेहरिस्त भी आपको थम देंगे, और जाते-जाते पूछते जायेंगे कि इधर क्या अच्छा-नया पढ़ा अथवा देखा?

विवेक-युक्त मन और विद्वेष-रहित वाणी

□ *नंद चतुर्वेदी*

प्रो. श्यामाचरण दुबे के निधन के बाद मुझे यह अत्यंत आवश्यक प्रतीत होने लगा कि मैं उनके वैचारिक अवदान को ज्यादा गहराई से जानूँ और पढ़ूँ। अब तक मैंने उन्हें डॉ. योगेश 'अटल' के जरिये ही जाना था, जो उदयपुर से बी. ए. पास करने के बाद समाजशास्त्र में एम. ए. करने के लिए सागर विश्वविद्यालय गये थे। निःसंदेह, योगेश 'अटल' ने अपने गुरु श्यामाचरण जी की समाजशास्त्रीय परम्पराओं को ही नहीं, बल्कि उनकी जीवन-शैली को भी अपनी जीवन-शैली का हिस्सा बना लिया था, इस तरह कि बाद में जब मैंने प्रो. दुबे को देखा, उनको बोलते और सिगार पीते और उनके कपड़ों की सिलाई को, तो मुझे लगा कि मैंने पहले तो उन्हें कभी नहीं देखा तब भी कहाँ देखा! थोड़ी देर में ही मुझे याद आ गया कि मैंने योगेश में उन्हें देखा है। मैंने एक बार विनोद में (शायद मैंने यह बात एडवर्ड शिल्स के सम्बन्ध में कहीं सुनी या पढ़ी थी) योगेश से कहा था, 'मेरी बात ध्यान से सुनना, कोई सिगार पीने से प्रो. दुबे नहीं हो जाता।' बाद में उन्होंने 'अंडरस्टैंडिंग इंडियन सोसाइटी' की प्रस्तावना में जैनेन्द्र दोषी के हवाले से अपने गुरु श्यामाचरण जी के सम्मोहन का ज़िक्र करते हुए लिखा है, 'अपने विद्यार्थियों के लिए वे सम्मोहन थे (Star)। वे उनकी तरह चलते, मुद्राएँ बनाते, बोलते, यहाँ तक कि उन्हीं की तरह कपड़े पहनते। हम में से बहुतों ने जाने-अनजाने उनके बोलने और बोलते समय की भंगिमाओं को अपना लिया था।'

'अंडरस्टैंडिंग इंडियन सोसाइटी' में दुबे जी ने 'अब तक का सफ़र' शीर्षक देकर एक विनम्रतापूर्ण आलेख लिखा है जिसके दो अंश मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ, जो उनके बौद्धिक संस्कारों को समझने में हमारी मदद करते हैं।

"जीवन में मैं कभी किसी व्यक्ति, पार्टी या विचारधारा के लिए प्रतिबद्ध नहीं रहा, लेकिन मैं उन लोगों के लिए हमेशा प्रतिबद्ध हूँ जिनका हम अध्ययन करते रहे हैं। क्या आज भी वे अपनी ज़िन्दगी के महत्त्वपूर्ण निर्णयों में हस्तक्षेप कर सकते हैं? क्या राष्ट्रीय विकास के मुद्दों पर उनकी रुचियों और विकल्पों के सम्बन्ध में किसी ने कभी उनसे पूछा या उनकी चिंता की है?"

इन चिंताओं के साथ दुबे जी ने अपनी बौद्धिक उपलब्धियों और भारतीय समाजशास्त्र और समाजशास्त्रियों के सामने आयी चुनौतियों को रेखांकित किया है।

अन्त में श्यामाचरण जी ने लिखा है : 'मुझे ज़िन्दगी ने, जितना मैंने चाहा उससे ज़्यादा ही दिया है। मुझे ज़िन्दगी से न मिलने की ज़्यादा शिकायतें नहीं हैं। अपने काम के मूल्यांकन की मैं चिंता नहीं करता। संस्कृत कवि और नाट्यकार भवभूति के शब्दों में 'काल अनंत और पृथ्वी विपुल है,' काल और विशाल दुनिया देखे और परखे। मेरी तरह सोचनेवाले समानधर्मा

कुछ तो होंगे ही। एक लोकप्रिय संस्कृत कवि ने बौद्धिक परिदृश्य के सम्बन्ध में लिखा है 'अनेकमत और भिन्न-भिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हैं। मस्तिष्क विवेकयुक्त हों और वाणी विद्वेष रहित।'

जिस तरह के समय और राजनीतिक-सांस्कृतिक बाज़ीगरी में हम फँस गये हैं, वहाँ से देखें तो प्रो. श्यामाचरण जी जैसे विवेक-युक्त मस्तिष्क और विद्वेष-रहित वाणीवाले बहुत थोड़े-से लोग नज़र आते हैं।

दुबे जी से पहली बार उदयपुर में ही मुलाक़ात हुई, मुख़्तसिर और मामूली-सी। शायद वे योगेश अटल के आग्रह पर ही आये हों, इस शान्त ऐश्वर्यवाले नगर को देखने के लिए अन्यथा जिस काम के लिए वे आये थे वह उनके लिए अत्यन्त साधारण था। वे विद्याभवन रुरल इंस्टीट्यूट में समाजशास्त्र के कुछ विद्यार्थियों की मौखिक परीक्षा लेने आये थे जहाँ मैं पढ़ाता था और परीक्षा संयोजक था। इस छोटे से इंस्टीट्यूट में दुबे जी का कुछ असहज और असंपृक्त होना स्वाभाविक था। वे चुरुट मुँह में दबाये रहे। मौखिक जल्दी ही ख़त्म हो गया। इसके बाद उन्होंने छोटा-सा भाषण भी दिया, जो अंग्रेज़ी में था। वे धीरे-धीरे बोले थे, जैसे अन्तर्मुखी हो रहे हों, एक प्रकार से आत्मलीन। उस संतुलित भाषण में नयी समाज-रचना के लिए अनेक संकेत थे। वह एक तरह से ग़रीब देश के समाजशास्त्री का देश के लोगों के प्रति 'कमिटमेंट' था। लेकिन वह कोई लोकप्रिय वाग्मिता नहीं थी, वह एक तर्कसंगत समाज रचना का नक़्शा था।

जब मैं, बाद में, अख़बारों में या 'परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति' में या अन्य पुस्तकों में उन्हें पढ़ता हूँ तो मुझे उनकी वे सारी चिंताएँ और स्वप्न-दृष्टियाँ नज़र आती हैं जो एक पुराने, जर्जर और लगातार अतीत की ओर देखनेवाले समाज को बचाती हैं और भविष्य की तरफ देखते रहने के लिए बेचैन करती हैं।

अतीत और वर्तमान के बीच संतुलन तथा परम्परा और बदलते समय के मिज़ाज की चिन्ता और निरन्तरता और बदलाव के बीच का संवाद प्रो. दुबे का मुख्य सरोकार रहा है। इन सरोकारों की चर्चा और वर्तमान को अधिक अर्थवत्ता देने का आग्रह उनके 'इतिहास का बोझ' ('बिंदु', जनवरी-मार्च अंक, 1970) से लगाकर आज तक के प्रकाशित विचारों का मुख्य प्रसंग है। दृष्टव्य है : "निःसन्देह हमारी प्राचीन सभ्यता की अनेक उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। उन पर सम्पूर्ण मानव-जाति और विशेषकर भारतीयों को गर्व होना चाहिए। परन्तु इस गर्व से ही हमारे समाज के गंभीर प्रश्न हल नहीं किये जा सकते। जिन विशिष्ट स्थितियों ने प्राचीन भारत में विचारात्मक और कलात्मक सर्जना को प्रेरित किया था, वे सम-सामयिक भारत में संभवतः विद्यमान ही नहीं हैं। नये प्रतिमानों और मूल्यों ने उन्हें अनुपयुक्त बना दिया है।.... भारत की बहुचर्चित और बहुप्रशंसित आध्यात्मिकता आज जटिल ग्रंथियोंवाला कर्मकांड बनकर रह गयी है। भूखे पेट का आध्यात्मवाद अधिक टिकाऊ नहीं होता। झूठे संतोष के आवरण को चीरकर उभरनेवाला आक्रोश एक ऐसा यथार्थ है जिसकी अवहेलना बिना शक सिद्ध हो सकती है।" (इतिहास का बोझ)

बाद में 'भारतीयता की तलाश' व्याख्यान में निर्मम आत्मावलोकन करते हुए लिखा—

"भारत ने जगत् गुरु होने का एक भ्रम पाल रखा है। इससे जितनी जल्दी निजात मिले, उतना अच्छा। भारत ने यदि मानव-सभ्यता को कुछ दिया है तो उसने बहुत कुछ लिया भी है। इस आदान-प्रदान के बिना हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध हो जाता।

हमारा दूसरा जातीय भ्रम है—हमारी समाज-व्यवस्था के आदर्श होने का। यदि हमारी व्यवस्था आदर्श और स्वयं पूर्ण थी तो वह समय-समय पर उठनेवाली गंभीर समस्याओं का हल क्यों नहीं खोज सकी? विसंगतियों के कारण हमारी दुर्दशा क्यों हुई?

निःसंदेह हमारे पास उन आदर्शों और लक्ष्यों का अनमोल खजाना है, पर इनके संदर्भ में ही हम तीसरा भ्रम पाल रहे हैं। हमारे ऊँचे आदर्श हमारी ज़िन्दगी में रचे-बसे नहीं हैं, हमारी कथनी और करनी में भारी अन्तर है। अहिंसा के देश में हिंसा का ज्वालामुखी क्यों फूट रहा है? अपरिग्रह की दुहाई देनेवाले समाज में उपभोक्ता-संस्कृति क्यों पनप रही है?

इक्कीसवीं सदी की चर्चा चौथे भ्रम को जन्म दे रही है। हमारा ध्यान उच्च विज्ञान और तकनीक पर केन्द्रित है, हम उनके सांस्कृतिक पक्ष पर बहुत कम ध्यान दे रहे हैं। मानवीय मूल्यों और मानसिकता पर उनका क्या प्रभाव होगा? क्या यांत्रिकता और अमानवीयकरण ही हमारा भविष्य है?" (भारतीयता की तलाश : परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति, पृष्ठ 50)

मैं उनके लेखों की विषय-वस्तु और भाषा की बुनावट में एक बुद्धिजीवी की वह चिन्ता पाता हूँ जो अपने वर्तमान की निराशाओं और उलझनों के बीच से जितना भविष्य देख और दिखा सकता है, देखता और दिखाता है। वहाँ न कोई रोमांस है न यूटोपिया।

1966 में मैंने '*बिन्दु*' पत्रिका का संपादन प्रारम्भ किया। यह प्रयत्न जीवन और समाज की उस अभिन्नता को समझने का था, जो साहित्य और साहित्येतर दूसरे अनुशासनों की विरासत है। एक तरह से यह साहित्य की उस मूल ताकत को समझने की भी एक कोशिश थी जो सिर्फ़ ललित वचनावली और लालित्यपूर्ण अर्थ-छवियों का उपक्रम ही नहीं है, बल्कि सुविस्तृत वृक्ष की तरह अनेक जड़ों से पोषण ग्रहण करता है। '*बिंदु*' के माध्यम से हम जीवन के अन्तःसम्बन्धों और मानवीय मूल्यों की निरन्तरता और बदलाव के द्वन्द्वात्मक रिश्तों की जटिलता को समझना चाहते थे। इसके लिए हम विभिन्न अनुशासनों के बड़े लेखकों की तलाश में थे। श्यामाचरणजी की कीर्ति से मैं परिचित था और मैंने योगेश अटल से फिर कहा कि वे अपने गुरु को '*बिंदु*' में लिखने के लिए राज़ी कर लें। इस रज़ामंदी और परिचय के बाद मैं लगातार दुबे जी को ज्यादा घनिष्टता से जानने लगा।

मुझे सागर विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा की गोष्ठी में शामिल होने का निमंत्रण मिला। उच्च शिक्षा की जटिलताओं के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता, सिवाय इसके कि वह भी उसी संक्रमण के दौर में है जिसकी बहस पूरे देश और बुद्धिमान लोगों के बीच चल रही है, लेकिन जिसके उद्देश्यहीन और अप्रासंगिक होते जाने से कोई बेख़बर नहीं है। वह अंग्रेज़ों की हुकूमत को मज़बूत करने और उनके प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए थी लेकिन अब उसकी प्रासंगिकता क्या है? मैंने सोचा इस गोष्ठी में शायद इसी पर विचार होगा। मेरा लालच यह भी था कि मैं '*बिंदु*' के लिए कुछ नयी सामग्री और विचार ला सकूँगा।

इन्दौर से सागर तक की यात्रा बस से की। सर्दियों के छोटे दिन थे, छोटे और तेज-हीन,

आते-जाते मालूम ही न होनेवाले। इन्दौर से रवाना होनेवाली बस के कांचों पर छोटी-छोटी ओस की बूँदें जमी थीं और बाहर मालवे के खेतों की सुगंध फैली थी, अफ़ीम की, सरसों की और विंध्या के शाल-वनों की। मैंने सोचा कि शायद मैं आज की गोष्ठी में नहीं पहुँच पाऊँगा। किन्तु, दोपहर ढलते-ढलते मैं सागर पहुँच गया था। विश्वविद्यालय तक पहुँचने का रास्ता घाटी से गुज़रता था जहाँ शाम की छायाएँ उतरने लगी थीं लेकिन विश्वविद्यालय ऊँची पहाड़ी पर था जहाँ तीसरे पहर की मनोरम धूप और रोशनी फैली हुई थी।

प्रो. श्यामाचरण को 'ऑटो' वाला जानता था। उसने मेरी बेचैनी भाँप ली थी, धीरज भी दिया था। ऑटो की आवाज सुनकर लीला जी बाहर आ गयी थीं और उन्होंने मुझे बता दिया कि मैं उनके साथ ही ठहरूँगा। मुझे जहाँ ठहराया गया था, वह शायद दुबे जी के बेटे मुकुल का कमरा था। योगेश अटल भी वहीं ठहरे थे। लीला जी ने मुझे जल्दी ही चाय पिला दी और एक विद्यार्थी के साथ सभागार भेज दिया। दरअसल, मैं बहुत घबराया हुआ था, मैं किसी मुद्दे पर बोलने की अच्छी तैयारी के साथ नहीं आया था। मैंने यह सोचा भी नहीं था कि वह विद्वानों की इतनी बड़ी सभा होगी।

मुझे देखते ही श्यामाचरण जी उठकर आये और उस कुर्सी तक ले गये जो पहले से ही खाली रखी गयी थी और पहली क़तार में थी। मैंने बहुत जल्दी में निर्णय कर लिया कि भाषा के संदर्भ में, ख़ासतौर पर अंग्रेज़ी के विरोध में बोलना चाहिए। इस निर्णय से मैं कुछ आश्वस्त हो गया। मुझसे पहले बोलनेवाले अंग्रेज़ी में और दंभ से भी बोले थे जो अंग्रेज़ी बोलनेवालों में स्वाभाविक रूप से आ जाता है। मैंने पहली बार देखा कि भाषा किस तरह और क्यों बाँट देती है। मेरे हिन्दी में बोलते ही सभागार में तालियाँ बजने लगीं। मेरा ख़याल है, वे वहाँ बैठे नौजवान विद्यार्थियों ने बजायी थीं जो अनात्मीय भाषा सुनते-सुनते थक गये थे। बोलते हुए मैंने दूर से योगेश अटल को देखा जो ख़ुश नज़र आ रहे थे। मैंने दुबे जी पर कटाक्ष करते हुए कहा, "वे हिन्दी में लिखेंगे-बोलेंगे तो समाजशास्त्र फैलेगा, विदेशों में अंग्रेज़ी में लिख-बोलकर भारत के समाजशास्त्री नम्बर दो पर ही रहेंगे।" मुझे बाद में पछतावा भी हुआ कि मैंने दुबे जी को आहत किया है, जो मेरे मेज़बान हैं, लेकिन वे जरा भी खिन्न या क्रुद्ध नज़र नहीं आये। भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रायः बोलने की आज़ादी एक महत्त्वपूर्ण अधिकार की तरह शामिल है।

इस सेमीनार में प्रो. नूरुल हसन और प्रो. मुनीस रज़ा भी आये थे। प्रो. नूरुल हसन उद्घाटन-सत्र में मेरे पास ही बैठे थे, या शायद उन्होंने इस सत्र की अध्यक्षता की थी लेकिन वे मुझे नवाबों की तरह लगे थे। उनका रंग गोरा और आँखें सुन्दर और बड़ी थीं। प्रो. मुनीस रज़ा को मैंने बड़े-बड़े बालों से पहले शायर समझा। मुझे तब तक यह मालूम नहीं था कि वे राही मासूम रज़ा के भाई हैं।

दुबे जी को लौटने में देर हो गयी थी लेकिन योगेश और मैं देर तक उदयपुर की, और दूसरी-दूसरी बातें करते रहे। मुकुल शायद थोड़ी देर तक वहाँ बैठे रहे, अपने पिता की तरह धूम्रपान करते रहे लेकिन फिर वहाँ से चले गये। दुबे जी का हम दोनों ही इन्तज़ार कर रहे थे। थोड़ी देर बाद वे गाउन पहने गरम दूध का प्याला लेकर आये। उन्होंने कहा, "आप दिन-भर की यात्रा से थक गये होंगे, आपका भाषण बहुत अच्छा रहा।" फिर कुछ देर तक वे बैठे रहे, योगेश से सिगरेट माँगकर पी। बाहर सघन अँधेरा और तेज हवा थी।

दूसरे दिन की गोष्ठी किसी खास विषय को लेकर थी। परचे भी पढ़े गये। दुबे जी ने एक प्रतिबद्ध समाजशास्त्री की तरह शिक्षा की संभावनाओं को बताते हुए उन पुरानी अवधारणाओं और अंधविश्वासों के प्रति जिहाद करने का आह्वान किया, जो पुरानी और अर्थहीन हो गयी हैं और जो सामाजिक विकास और व्यक्तियों के उत्कर्ष में बाधक हैं। एक विवेक सम्मत, आधुनिक और संतुलित दुनिया और देश बनाने का आग्रह प्रो. दुबे को बुद्धिजीवियों की प्रथम पंक्ति में रखता है। शाम को एक बड़ी पार्टी का आयोजन था। इसमें आतिथ्य की सारी ज़िम्मेदारी श्रीमती लीला दुबे की थी। कई तरह के पेय, कई तरह की पकौड़ियाँ, खाने की चीज़ें। इतने सारे विशिष्ट अतिथियों में भी श्यामाचरण जी मुझे 'ऐपल जूस' पिलाना नहीं भूले। इस आयोजन में मैं डॉ. प्रेमशंकर और गोविन्द द्विवेदी से मिला। गोविंद द्विवेदी उस समय एम. ए. में पढ़ रहे थे और अपनी कुशाग्रता और साहस के कारण लोकप्रिय थे। श्रीमती लीला दुबे नृतत्त्व समाजशास्त्र विभाग में 'एनथ्रोपोलॉजी' की सह-प्राध्यापिका थीं। दुबे जी का कमरा पुस्तकों से ठसाठस भरा था। उनके बड़े-से बिस्तर के सिरहाने 'लैम्प' लगा था और ढेर-सी पुस्तकें थीं। उन्होंने हिन्दी-साहित्य की अधुनातन पुस्तकें पढ़ी थीं और कृष्णा सोबती की भाषा तथा कथा-संरचना की प्रशंसा की थी।

तीसरे दिन मुझे दुबे जी अपने विभाग में ले गये। मैं कोई शास्त्र-विशेषज्ञ नहीं था, तब भी अपने विभाग के साथियों से मिलाने, उनके अनुसंधान-विषय बताने में उन्होंने कोई कृपणता नहीं बरती। लीला जी से विभाग में फिर मिलाया लेकिन उनसे कोई बात नहीं हुई, वहीं क्या, कोई बात कहीं भी नहीं हुई। मैंने कई वर्षों बाद राजकिशोर की संपादित पुस्तक 'स्त्री की जगह' में एक लेख 'धरती और बीज' पढ़ा था। न पढ़ा होता तो उनके विदुषत्व से यत्किंचित् भी परिचित नहीं हो पाता।

लौटती यात्रा में दुबे जी मुझे अपनी कार से स्टेशन तक छोड़ने आये। उन्होंने मेरे साथ बाँधा जानेवाला भोजन भी देखा जिसमें फल भी शामिल थे। साफ़ पानी की बोतल भी। स्टेशन पर गाड़ी समय से ही आ गयी थी। जो थोड़ा-बहुत समय मिला उसमें वे *'बिन्दु'* को और अधिक उत्कृष्ट बनाने की बात करते रहे।

दूसरी बार वे दिल्ली में मिले—शायद वह सांस्कृतिक मंत्रालय का कमरा था और मुझे ठीक से याद नहीं है कि विचार का मुद्दा क्या था, लेकिन उस समूह-बैठक में चित्रकार जे. स्वामिनाथन् थे जिन्होंने आग्रह के साथ यह कहा था कि संस्कृति को बचाने के लिए सरकार को चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने कहा कि सारे तंत्र मिथक हैं। आदिवासियों को उनका तंत्र और उनकी जीवन-शैलियों को बचाने की स्वाधीनता मिलनी चाहिए। यह कहना कठिन था कि आदिवासियों या अन्य किन्हीं का जीवन एक द्वीप की तरह सुनसान इलाके के अधीन किया जा सकता है या उन्हें रूमानी कथाओं में शामिल किया जा सकता है? दरअसल मुख्य सवाल यह था कि कितना हस्तक्षेप?

दुबे जी स्वामिनाथन् के इस रोमांटिक विचार से पूरी तरह सहमत नहीं थे। मुझे बार-बार इस बात का एहसास हुआ है कि वे कठिन-से-कठिन स्थितियों को एक तर्कसंगति तक ले जाने की कोशिश करते थे। सुविधा और सरलीकरण के ख़तरों को वे जानते थे। लेकिन यह देखने की बात है कि वे ज्ञान की महान् परम्परा को भी 'बहुजन-हित' में बाँटने

का आग्रह करते हैं 'किसी भी व्यक्तिगत मोक्ष और स्वर्ग-प्राप्ति के मोह को त्यागकर।'

स्वामिनाथन् जी के आग्रह को उन्होंने तार्किक दृष्टि देने की कोशिश की और वे बदलाव की भूमिका को रेखांकित करते रहे। आदिवासियों के कुपोषण, अज्ञान, बीमारी, निर्धनता को सांस्कृतिक प्रतिमानों का दर्ज़ा देने का उन्होंने निषेध किया। 'संस्कृति और सत्ता' के अन्तःसम्बन्धों पर उन्होंने 'परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति' पुस्तक में गहन विमर्श किया है। पुस्तक में संस्कृति और सत्ता पर एक स्वतंत्र आलेख भी है।

श्यामाचरण जी के साथ अपनी इस तीसरी और एक तरह से आख़िरी मुलाक़ात को भूल सकना मेरे लिए नामुमकिन है क्योंकि वह किसी भी तरह पूर्व नियोजित नहीं थी : वह नितांत हेतु रहित थी। संयोग से उसे भी योगेश अटल ने ही संभव बनाया था। योगेश उन दिनों आई. आई. टी. में प्राध्यापक थे और हौज़ख़ास में रहते थे। मैं एन. सी. ई. आर. टी. की कार्य-गोष्ठी में गया था। प्रो. दुबे भी दिल्ली आये हुए थे। दिसम्बर के महीने की धुंध में दिल्ली लिपटी हुई थी, सूरज जल्दी ही अस्त हो गया था। मैं सर्दी से राहत पाने के लिए योगेश के यहाँ जल्दी ही चला गया था। वे मुझे अपनी कुछ कविताएँ भी सुनानेवाले थे जो उन्होंने विदेश में लिखी थीं। योगेश का कमरा गरम और आरामदायक था।

दुबे जी कुछ देर से आये। सर्दी से बचाव का उन्होंने पूरा इन्तज़ाम किया हुआ था। उनका ओवरकोट बहुत सुन्दर था, उनके बाल इस बार कुछ ज़्यादा सफ़ेद हो गये थे। थोड़ी देर बाद तक वे योगेश की बेटियों से हँसते-बोलते रहे। खाना खाते-खाते दस बज गये थे। बाहर तेज़ हवा थी और दुबे जी ज़िद करने लगे कि वे मुझे अपनी कार से ले जायेंगे। उन्होंने हँसते हुए कहा, "आप डरें नहीं, मैं अच्छा ड्राइवर हूँ।" मैंने कहा कि मैं आपके साथ मरने को तैयार हूँ। कार के सामने वाले काँच पर ओस गिर रही थी। होस्टल थोड़ी दूर था। मुझे डॉक्टर साहब ने कार से उतारा और कहा, "बिन्दु निकालते रहिए।"

उनसे अंतिम बार 'भारत भवन' में मिलना हुआ। वे अशोक वाजपेयी की मेधा और कविताओं के प्रशंसक थे। वर्षों बाद भी वे मुझे पहचान गये। उनके बुलावे पर भी मैं भोपाल में उनसे मिलने नहीं जा सका।

श्यामाचरण जी के निधन से हमारा नुक़सान हुआ है। उनकी सबसे बड़ी ताक़त सामाजिक विकास के उन लक्ष्यों और आदर्शों को देखने की थी जो वंचितों और शोषितों के पक्ष में थी। वे उन बौद्धिकों की पहली पंक्ति में आते हैं जो देश और दुनिया के निर्माण और भविष्य को सजगता और चौकसी के साथ देखते हैं।

शील की भव्यता

□ राजकिशोर

दिल्ली में रहते हुए जिन दो व्यक्तियों से परिचय को मैं गहरी आत्म-संतुष्टि और कुछ गर्व के साथ याद करता रहूँगा, वे थे राजेन्द्र माथुर और श्यामाचरण दुबे। दोनों में बहुत कुछ उभयनिष्ठ था, हालाँकि दोनों का व्यक्तित्व बिल्कुल अलग-अलग था। राजेंद्र माथुर मूलतः एक बुद्धिजीवी थे, जो पत्रकारिता में आ गये थे। श्यामाचरण दुबे भी मूलतः बुद्धिजीवी ही थे, उनका क्षेत्र समाजशास्त्र था। जो चीज दोनों को जोड़ती थी, वह था समकालीन यथार्थ के प्रति खरा सरोकार। एक पत्रकार को यथार्थ से, रोज-रोज के यथार्थ से, मुठभेड़ करनी ही पड़ती है, लेकिन राजेन्द्र माथुर इससे आगे जाते थे। वे वर्तमान में भविष्य की परछाइयों से खेलते थे। श्यामाचरण दुबे के लिए आसान था कि समाजशास्त्र की आड़ में वे एक निर्मम तटस्थता की मुद्रा अपना लेते और समाज का सिर्फ अध्ययन करते। यह उन्होंने लगभग कभी नहीं किया। उन्हें इस बात का गहरा एहसास था कि एक विद्वान् का या लेखक का अपने समाज के प्रति कुछ और कर्तव्य भी होता है। यह कर्तव्य है बीच बहस में हस्तक्षेप या नयी बहसें शुरू करना। श्यामाचरण दुबे का यह दूसरा नहीं पहला स्वभाव था। उनमें एक मूलभूत तटस्थता जरूर थी—लेकिन यह बौद्धिक तटस्थता थी, जो न केवल तथ्यों को, बल्कि विचारों को भी बहुत बारीकी और सावधानी से जाँचती है। ऐसी तटस्थता के बिना किसी भी मामले में कोई सार्थक राय नहीं बनायी जा सकती, और दुबे जी की राय, लगभग हर मामले में, एक सार्थक राय होती थी, जिस पर भरोसा किया जा सकता था। लेकिन इससे भी बढ़कर जो चीज राजेंद्र माथुर और श्यामाचरण दुबे को प्रिय और भव्य बनाती थी, उसे संभवतः 'शील' शब्द के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। ये दोनों ही अत्यंत शीलवान व्यक्ति थे। राजेंद्र माथुर तो कभी-कभी उत्तेजित भी हो जाते थे और लगभग नहीं की-सी स्थिति में बहुत देर तक किसी विषय पर अपनी प्रतिबद्ध राय को खींच सकते थे, लेकिन दुबे जी को मैंने हमेशा सहज और संयत पाया—यहाँ तक कि अपने व्यंग्यों और कटाक्षों में भी। अपने आग्रह छोड़े बिना कैसे दुराग्रहविहीन हुआ जा सकता है, श्यामाचरण दुबे का लेखन और जीवन इसकी एक खुली और जीवन्त पाठशाला है।

अगर श्यामाचरण दुबे से मेरा परिचय नहीं हुआ होता तो मैं शील और संयम के महत्त्व को नहीं समझ सकता था। जीवन में तो ये गुण महत्त्वपूर्ण हैं ही, लेखन में इनका उपयोग क्या है—यह जानने के लिए मैं अपने-आपको दुबे जी का ऋणी पाता हूँ।

मेरा ख़याल है, लेखक दो प्रकार के होते हैं—रोमांटिक और—क्लासिकल। रोमांटिक लेखक परिवर्तन के लिए बेचैन रहता है। वह जीवन को रंगीन चश्मे से देखता है। उसमें ताप बहुत होता है—शायद कुछ धुआँ भी। क्लासिकल लेखक सतर्क और अभावुक होता है। वह

हर चीज पर ठहरकर सोचता है और अक्सर परंपरा से शक्ति हासिल करता है तथा उसे मजबूत करता है। कह सकते हैं, जीवन जीने की ये दो अलग-अलग शैलियाँ भी हैं। रामचंद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी को इन दो धाराओं के अच्छे प्रतिनिधियों के रूप में देखा जा सकता है। निश्चय ही दोनों धाराओं का अपना-अपना महत्त्व है। लेकिन बड़ा लेखक वही होता है, जिसमें इन दोनों धाराओं का उचित सम्मिश्रण होता है। कालिदास और शेक्सपियर ऐसे ही लेखक थे। निराला में भी यह गुण मिलता है। हालाँकि उनके पैर हमेशा डगमग रहते थे—कभी एक पैर न्यारा आगे बढ़ जाता था कभी दूसरा पैर। इसका भी अपना एक आकर्षण है। एक और उदाहरण के लिए—रामचंद्र शुक्ल वहाँ ज्यादा आकर्षक लगते हैं, जहाँ से रोमांटिकता की ओर अपना झुकाव दिखाते हैं। दूसरी तरफ हजारीप्रसाद द्विवेदी वहाँ ज्यादा प्रभावित करते हैं, जहाँ वे उनकी क्लासिकल ऊँचाइयों को छूते हैं। श्यामाचरण दुबे को मैं ऐसे लेखकों में रखता हूँ जो अपनी रचनात्मक सामर्थ्य से दोनों धाराओं के बीच हमेशा एक उचित सन्तुलन और तनाव बनाये रहते हैं। यही द्वंद्वात्मकता रचनात्मकता का शीर्ष है।

श्यामाचरण दुबे में यह द्वंद्वात्मकता कई और भी स्तरों पर प्रकट होती है। उदाहरण के लिए—परंपरा और आधुनिकता के बीच, लोक और शास्त्र के बीच और एक-दूसरे स्तर पर कह सकते हैं—हिंदी और अंग्रेज़ी के बीच। दुबे जी ने लोक का जितना अध्ययन किया था, वह उनके शास्त्रीय अध्ययन में और ज्यादा प्रचलित तथा आलोकित होता था। वे परंपरा का महत्त्व जानते थे, पर किसी से कम आधुनिक नहीं थे। अंग्रेज़ी में उन्होंने काफी काम किया, पर हिंदी के प्रति अपनी जिम्मेदारी को वे कभी नहीं भूले। कई मामलों में वे बिल्कुल रेडिकल थे, किंतु एक बुनियादी संस्कारशीलता उनमें हमेशा बनी रहती थी। यह एक अद्‌भुत खुलेपन और एक गहरी प्रतिबद्धता के बगैर संभव नहीं था। इसीलिए वे आधुनिक होते हुए भी आधुनिकतावादी कभी नहीं बन पाये। परंपरा-अभिमुखता के कारण आजमाई मानसिकता के प्रति एक स्फुट आकर्षण हो सकता था, किंतु यह कमजोरी उनमें कभी नहीं देखी गयी। बल्कि वे सांप्रदायिकता से संघर्ष में अपने स्तर पर निरंतर योगदान करते रहे। वे साहित्य के व्यक्ति थे। बल्कि कभी-कभी आश्चर्य होता था कि वे इतना पढ़ कब लेते हैं। लेकिन सिर्फ साहित्य की सीमाओं में बँधकर रहना उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। यह विशदता बताती है कि श्यामाचरण दुबे के सरोकारों का दायरा कितना बड़ा था। वस्तुतः किसी भी बुद्धिजीवी को ऐसा ही होना चाहिए, तभी वह यथार्थ के ज्यादा-से-ज्यादा निकट जा सकता है। आखिरकार यथार्थ एक समग्र और एकान्वित रचना—विकासमान रचना होता है और उसके ज्यादा-से-ज्यादा पहलुओं को एक साथ देखने और उनके बीच आवश्यक एकता बिठाने की कोशिश करना ही बुद्धिजीवी और लेखक का सहज धर्म है। श्यामाचरण दुबे जिस धातु के बने थे, उसमें यह धर्म सहज ही घुला-मिला दिखाई पड़ता है, इसीलिए उनकी अपील इतनी व्यापक थी। वे संवेदनशील राजनेताओं को भी आकर्षित करते थे, पुराने और युवा लेखकों को भी तथा ऐसे पत्रकारों को भी, जो दुबे जी के पास अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के कारण जाते रहते थे, किंतु जिनमें से कम को ही पता था कि दुबे जी का महत्त्व किस बात में है, हालाँकि सब यह जानते थे कि दुबे जी महत्त्वपूर्ण हैं।

ऐसे व्यक्ति में एक प्रकार की शुष्कता—शुष्कता नहीं तो कठोरता या अनुशासितता आ

जाने का भयावह खतरा होता है। अपनी ऊँचाई पर आप अकेले होते हैं और अक्सर होता है आपका अहंकार। श्यामाचरण दुबे ने इस नियम को भी बहुत ही सहजता से तोड़ा —कुछ इस तरह कि इस तोड़े जाने का अनुभव तक नहीं हो पाता था। उनके जैसी आत्मीयता मुझे कम ही लोगों में दिखाई दी है। उनसे मिलना हमेशा प्रसन्नता का कारण होता था और उनसे विदा लेना एक तरह की उदासी पैदा करता था—मानो मुलाकात अधूरी ही खत्म हो रही है। जिस अनुराग से वे दूसरों की समस्याओं के साथ साझा करते थे और उनके लिए जहाँ तक संभव था, उनका समाधान करने की तत्परता दिखाते थे, वह एक दुर्लभ और आधुनिक समय में क्षीण हो रही विशेषता है। दिलचस्प यह था कि उनकी इस आत्मीयता में भी एक सहज और अंतरंग अनुशासन था, जिसे एक प्रकार की निस्संगता कहा जा सकता है। लेकिन यह निस्संगता ठंडी या रूखी निस्संगता नहीं थी—उसका एक क्लासिकल अंदाज था और इसीलिए वह अखरता नहीं था, बल्कि एक प्रकार की सांत्वना ही देता था। सुख से अगर छलकना नहीं चाहिए, तो दुःख में डूबना भी नहीं चाहिए—इस तरह की दृष्टि जिसने सचमुच आत्मसात् कर ली हो, वही इस उत्कट और शीलयुक्त निस्संगता का परिचय दे सकता और उसका आस्वाद ले सकता है। शायद यही कारण है कि, जैसा कि बताते हैं, मृत्यु के समय उन पर किसी प्रकार के तनाव या परिताप की छाया नहीं थी। जिस सहज भाव से वे जिये, उसी सहजता से उन्होंने मृत्यु को स्वीकार किया। मानो एक पूरी तरह खिला हुआ फूल वृन्त से किसी क्षण चुपके से जमीन पर आ गिरे।

यह मेरा दुर्भाग्य है कि उनकी अंतिम यात्रा का साक्षी नहीं बन सका। मुझे उनकी मृत्यु की सूचना बहुत देर से मिली थी। अगर मैं वहाँ मौजूद रह सकता, तो उनकी चिता पर अपनी ओर से कुछ फूल रखते हुए यही प्रार्थना करता कि मुझमें भी ऐसी ही शक्ति पैदा हो — इतना नहीं तो एक हद तक ही सही—कि मैं विवेक और भावनाशीलता के बीच हमेशा उचित सन्तुलन बनाये रख सकूँ, जिससे किसी भी चीज को उससे ज़्यादा महत्त्व न दूँ, जितना महत्त्व उसे वस्तुतः मिलना चाहिए, और हर उस चीज की कद्र कर सकूँ जिसका कुछ मूल्य है। शायद इसे ही शील कहते हैं।

कभी न थकनेवाले हमारे मार्गदर्शी मित्र

□ शोभिता जैन

"आप देख लीजिए, यदि आपका यह मानना है कि मैं आपके छात्रों को कुछ बता सकता हूँ, तो आप मेरा नाम दे दीजिये। हाँ, मुझे पहले से सूचना मिल जानी चाहिए कि आपका प्रोग्राम कब होगा ताकि मैं वह समय किसी और काम के लिए न लगा दूँ।"

"जब आप लोगों का इतना आग्रह है तो मैं 'न' कैसे कर सकता हूँ। वैसे आजकल मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है। मैं बहुत समय नहीं दे पाऊँगा। फिर भी यदि आपमें से कोई मेरे घर आकर बातचीत कर समझा सके कि क्या करना है तो मैं आपका काम जरूर कर दूँगा।"

"अभी तो मुझे बाहर जाना है। यदि आप दो सप्ताह के बाद रिकार्डिंग कर सकें तो मैं आ सकूँगा। आपने मेरा वह लेख देखा है या नहीं जो पिछले सप्ताह छपा था। क्या कहा आपने कि मुझे हिन्दी में बोलना है। मैं तो हिन्दी में ही बोलना पसंद करता हूँ। मुझे बहुत दुःख है कि हमारे देश में अधिकांश शिक्षक विदेशी भाषा में लिखना अधिक पसंद करते हैं। आपके विश्वविद्यालय में पाठ्य-सामग्री हिंदी, अंग्रेजी दोनों भाषाओं में तैयार की जाती है—यह मुझे बहुत अच्छा लगता है।"

"पिछले सप्ताह आपके विभाग से दो लोग आये थे, उन्हें मैंने तीन घंटे समझाया और मैंने सामग्री पढ़कर उस पर अपने विचार भी उन्हें दे दिये हैं। पर आपके विश्वविद्यालय से मुझे कई शिकायतें हैं।"

"आप लोगों को चाहिए कि समाजशास्त्र की पाठ्य-सामग्री ऐसे तैयार की जाये कि जो भी समाजशास्त्रियों ने सीखा है वह साधारण से साधारण लोगों तक पहुँच सके।"

1988 से 1996 के दौरान कहे गये ये वाक्य प्रो. श्यामाचरण दुबे के बहुमुखी व्यक्तित्व के उस अंश को दिखाते हैं जिसने भारत में समाजशास्त्र की गहरी नींव डाली। किसी भी शिक्षा संस्थान के विकास में विद्वत्जनों का योगदान एक आवश्यक तत्त्व होता है और यदि वह दूर-शिक्षावाला (डिस्टैंट-एजूकेशन) हो तो उसकी प्रगति उनके सहयोग के बिना हो ही नहीं सकती। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के फलने-फूलने की प्रक्रिया में देश के जाने-माने समाजशास्त्रियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और उनमें प्रमुख नाम आता है प्रो. श्यामाचरण दुबे का। यों तो प्रो. दुबे से हम सबका परिचय काफी समय से था, परंतु दूर-शिक्षा के संदर्भ में उनके साथ हमारा सम्पर्क अनूठे ढंग का रहा। शायद हमारी तरह अन्य शिक्षकों को भी उनके संसर्ग में आकर काम करने का अनुभव हुआ होगा। 1988 से 1996 के बीच प्रो. दुबे ने बिना किसी पूर्वाग्रह के, मुक्त भाव से हमारा मार्गदर्शन किया और हमारी छोटी-बड़ी, उल्टी-सीधी, हर तरह की माँगों को

पूरा किया। हमें लगने लगा जैसे उनके समय, ज्ञान और अनुभवों पर हमारा एकाधिकार है।

उन्होंने समय-समय पर हम सबको कभी एक साथ, कभी अलग-अलग, भाँति-भाँति की सलाह दी, हमारे पाठ्यक्रम की रूपरेखा पर विचार-मंत्रणा से लेकर पाठ्यक्रम की सामग्री के सम्पादन का भार लिया। हमारे विश्वविद्यालय के दृश्य-श्रव्य कार्यक्रमों के निर्माण में सहर्ष सहयोग दिया।

कभी यह नहीं लगा कि उनका बहुमूल्य समय हमारे लिये नहीं है। बल्कि हमें हर बार यही महसूस हुआ कि उन्हें नयी पीढ़ी से बातचीत करके बड़ा आनंद आता है। पाठ्य-निर्माण प्रक्रिया में प्रायः कई बार उन्हें विशेषज्ञ समिति के अध्यक्ष का भार उठाना पड़ा। यद्यपि उनके स्वास्थ्य की दृष्टि से इतनी लम्बी-लम्बी बैठकों में घंटों का समय देना ठीक नहीं था, परंतु उन्होंने कभी भी थकान की शिकायत नहीं की। 1989 में 'भारत में समाज' पाठ्यक्रम की विशेषज्ञ समिति में आपने इस बात पर जोर दिया कि पाठ्य-सामग्री को तैयार करने वालों में केवल प्रोफ़ेसर पद के विद्वान् ही न हों। हमें युवा पीढ़ी के शिक्षकों से भी सहयोग माँगना चाहिए।

श्रव्य कार्यक्रमों में प्रोफ़ेसर दुबे ने सहज व सरल हिन्दी तथा अंग्रेज़ी, दोनों भाषाओं में अपने विचारों को सँजोया। हमारे लिये यह गौरव की बात है कि हमने उनकी आवाज और सोच को बाँध लिया है और आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं, हम उनकी आवाज के माध्यम से उनकी याद को तरोताज़ा कर सकते हैं।

1994-95 में 'समाज और धर्म' पाठ्यक्रम की पूरी सामग्री का सम्पादन कर उन्होंने इस संवेदनशीलता पूर्ण विषय पर पाठ्य-सामग्री तैयार करने के बुलंद इरादों को न केवल बढ़ावा दिया वरन् अपनी विद्वता का सहारा भी दिया। इस तरह पाठ्यक्रम की उपादेयता के बारे में संदेह करने वालों को अवसर नहीं मिल पाया कि वे इस पाठ्यक्रम को दुराग्रहों से भरा दिखा सकें।

यह बात नहीं कि हमें उनसे कभी आलोचना नहीं मिली। यदि कभी पाठ्यक्रम निर्माण-दल का कोई सदस्य मिलने का समय तय करने के बाद न पहुँचता तो उसे आलोचना सुननी पड़ती थी, परंतु यह अस्थायी ही रहती और पुनः पुराना स्नेह-भाव जाग उठता था। यही कारण था कि हम सब अपने-अपने ढंग से उनसे जुड़े रहे।

सबसे बड़ी बात थी कि उन्हें हम सभी की चिंता लगी रहती थी कि हम अपने-अपने शोध क्षेत्रों में क्या प्रगति कर रहे हैं। मुझे उन्होंने हिंदी में लिखने को प्रोत्साहित किया। खुशी है कि मैंने उनके प्रोत्साहन को साकार कर 'भारत में परिवार, विवाह और नातेदारी' पुस्तक हिंदी में लिखी।

चाहे एक बार ही किसी ने उनसे अपने शोधकार्य के बारे में चर्चा की हो, उन्हें हमेशा याद रहता था कि कौन क्या कर रहा है। वे सदैव मुझसे पूछते थे कि मेरे युवा साथियों के काम की क्या प्रगति है। अलग-अलग व्यक्ति की अलग-अलग विशेषताओं के बारे में याद रखना उनके लिए सहज बात थी।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय में हमारी योजना थी कि हम उनके समाज-शास्त्रीय व्यक्तित्व पर एक दृश्य-कार्यक्रम तैयार करें परंतु इसके पहले कि हम अपनी इस

योजना पर क्रियात्मक कदम उठा पाते, वे असमय हमें छोड़ गये। उन्हें हमारे विश्वविद्यालय में अनेक महत्त्वपूर्ण काम करने थे जिन्हें बीच में छोड़कर ही वे चले गये। हमें महसूस हुआ कि हमारा दायित्व और बढ़ गया है। संतोष यही है कि उन्होंने हमें इतना सशक्त बनाकर छोड़ा कि समाजशास्त्र के विकास में हम उनके उत्तराधिकारी बनने का प्रयत्न कर सकें।

रिश्तों को बरतने का तरीक़ा

□ *मुहम्मद तालिब*

प्रोफ़ेसर दुबे से मेरी मुख़्तसर-सी तीन-चार दफ़ा की मुलाक़ातें इस बात की इजाज़त नहीं देतीं कि मैं उनेक बारे में कुछ ऐसा कह पाऊँ, जो मेरे उनसे ताल्लुक़ का इज़हार करते हुए ऐसी बातों को नुमाया करे जिनसे कम-से-कम वे लोग वाक़िफ जरूर होंगे जिन्होंने अपनी ज़िन्दगी का बड़ा हिस्सा उनके साथ गुज़ारा, उनके साथ मुआमलात में शामिल हुए या उनके साथ किसी संस्था में काम किया। कुछ लोग उस बड़ी हक़ीक़त के समान होते हैं जिनकी ज़िन्दगी अपने जुज़ (part) और कुल (whole) में एक तसल्सुल (continuity) बनाये रखती है। यह बैंकग्राउंड इसलिए दे रहा हूँ कि मैं प्रोफ़ेसर दुबे के साथ हुई उन छोटी-छोटी तीन मुलाक़ातों का ज़िक्र करूँगा जो मेरे दिल पर अपने अमिट नक़्श छोड़ गयीं। ये नक़्श इतने गहरे थे कि जब यह ख़बर मिली कि प्रोफ़ेसर दुबे हमारे बीच नहीं रहे तो ऐसा लगा कि हम एक घने पेड़ की एक छोटी-सी टहनी से, जिसकी छाँव का लुत्फ़ हमने भी लिया था, महरूम हो गये।

"ठण्डी थी जिसकी छाँव वह दीवार गिर गयी।"

जब प्रोफ़ेसर दुबे ने हमारे डिपार्टमेंट ऑफ सोशियालॉजी की फरमाईश कुबूल की कि वे हमारी बोर्ड ऑफ स्टडीज़ के सब्जेक्ट एक्सपर्ट के तौर पर आया करेंगे तो डिपार्टमेंट में सब लोगों को उसकी बेहद ख़ुशी थी। यह साल 1990 था।

प्रोफ़ेसर दुबे थके-थके से दिखाई देते थे, और मीटिंग में पी-एच. डी. में आने के लिए दरख़्वास्त देने वालों से बहुत आहिस्ता-आहिस्ता सवाल पूछते थे। बोर्ड की मीटिंग में आने के लिए उन्हें अपने-आपको जिस्मानी तौर पर तैयार करना पड़ता होगा। बाद में पता चला कि उन दिनों उनके गुर्दे का ऑपरेशन करवाने की बात चल रही थी। काफ़ी तकलीफ़ में थे। प्रोफ़ेसर दुबे ने उम्र के इस हिस्से तक बेशुमार समाजशास्त्रियों को इंटरव्यू किया होगा। अगर वे जामिया के हमारे डिपार्टमेंट की फ़रमाइश कुबूल न भी करते तो उन्हें कोई फर्क़ नहीं पड़ता। बल्कि सच बात तो यह थी कि उसे कुबूल करने से उन्हें तकलीफ़ ही उठानी पड़ती थी। उन्हें हमारी तरफ़ से साल में कम-से-कम तीन बार तो तलब किया जाता था। मैंने एक रोज़ प्रो. दुबे से कहा, उनका डिपार्टमेंट आना हमारे लिए खुशी की बात है मगर आने में उन्हें जो मुश्किल होती है वह सबको नज़र आती है। प्रो. दुबे ने कहा, "जामिया में आप लोगों ने बुलाया था, मैं टाल नहीं सकता था। मगर अब मैंने इस तरह की ज़िम्मेदारी लेना लगभग खत्म कर दिया है।" इस जुमले से हम लोग कितने अहं हो गए। हम असल में अहं थे या नहीं यह तो अभी भी तय नहीं हो सका है, मगर यह बात एकदम साफ हो गई कि प्रो. दुबे की नज़र में हमारी अहमियत थी। जब वे मुझसे पूछते थे कि सोशियालॉजी में क्या लिख-पढ़ रहा हूँ तो अपनी बात बताते हुए मुझे शक होता कि वे मेरी

बात में दिलचस्पी भी ले रहे हैं या नहीं। और फिर तीन-चार महीनों के बाद ख़ैरियत पूछते थे कि मैं जो काम कर रहा था वह किस स्टेज तक पहुँचा। और मैं ताज्जुब में पड़ जाता कि अपनी बात को मैं भी इतनी अहमियत नहीं दे सका। अपने बेटे सौरभ की शादी में उन्होंने मुझे भी बुलाया था। मसरूफ़ियत के बावजूद थोड़ा-सा वक्त ऐसा भी निकाला जिसमें उन्होंने मेरी ख़ैरियत पूछने के अलावा मुझे बताया कि वे बेहद खुश हैं, इसलिए कि उनके बेटे ने ऐसी लड़की को चुना जो दिल्ली के नुमायशी व बनावटी माहौल में पली-बढ़ी नहीं है। जब वे यह बात कर रहे थे उस वक़्त शादी की ढेर सारी मसरूफ़ियत से बेनियाज़ थे। और मैं बेहद खुश कि प्रो. दुबे ने अपने दिल की बात में मुझे शरीक़ किया। हो सकता है प्रो. दुबे ने यही बात कुछ और लोगों से भी कही होगी मगर क्या मेरे लिए यह बात इस वजह से कम अहं हो जाती है? एक बार उन्होंने मेरे एक दोस्त से बात करते हुए मेरे बारे में कहा कि सोशियालॉजी प्रोफेशन में वे मेरी कोई मदद नहीं कर सके, इसकी उन्हें बड़ी फ़िक्र है। मेरे दोस्त, जो उनके पड़ोसी भी हैं, मुझे पूरी बात सुना गए। उस वक़्त मैंने अपने-आपसे फिर कहा कि प्रोफ़ेसर दुबे को मुझसे न सिर्फ़ ताल्लुक है बल्कि मेरी बड़ी फ़िक्र भी है।

मैं अगर अपनी बात यहीं खत्म कर दूँ तो ऐसा लगेगा मैंने अपनी अहमियत जताने के लिए एक मौके का फायदा उठाते हुए अपने-आपको प्रो. दुबे से जोड़ने की कोशिश में यह मजमून लिख दिया। मगर मैं इन बातों से कुछ और नतीजा निकालना चाहता हूँ। इन्सानी रिश्तों को समझते हुए उनको बरतने का वह पैमाना जिसमें एक शख़्स से मिलने वाला हर दूसरा आदमी यह समझे कि रिश्ते में जो कुर्बत उसे मयस्सर हुई है वह और किसी को भी हासिल नहीं है।

इस बात की वज़ाहत मैं दो और बातों से करूँगा। 1988 में मैं एक सूफ़ी ख़ानक़ाह में पीरी-मुरीदी रिश्ते को समझने के लिए कुछ फील्डवर्क कर रहा था। बरेली की एक ख़ानक़ाह में एक किस्सा सुना जिसमें यह बात साफ़ होती है कि सूफ़ी शेख़ रिश्तों को बरतने में किस मेयार का लिहाज रखते थे। मुझे बताया गया कि एक सूफ़ी बुजुर्ग की मौत पर ख़ानक़ाह में बहुत से लोग अपने ग़म का इज़हार करने आए। इस भीड़ में एक सब्जी बेचने वाला भी मौजूद था।

वह इस बुज़ुर्ग के लड़के के पास गया और उसे जताने लगा कि "तुम्हारे बाप की मौत का तुमसे ज़्यादा ग़म मुझे इस वजह से है कि उन्हें मुझसे ज़्यादा कुर्बत थी और उन्होंने मुझे अपनी ज़िन्दगी के तजुर्बे की वह बातें बतायीं जो उन्होंने तुम्हें भी न बतायी होंगी।"

मैंने यह किस्सा एक इस्लामिक स्कॉलर को सुनाया तो उन्होंने मुझे बताया कि रिश्तों को बरतने का यह तरीका इस्लाम के पैगम्बर हज़रत मुहम्मद से भी मनसूब किया जाता है। एक हदीस से पता चलता है कि हज़रत मुहम्मद से मिलने वाला हर शख़्स यह समझता था कि हज़रत मुहम्मद सबसे ज़्यादा उसी के क़रीब है। रिश्तों को बरतने का यह मेयार किसी एक रिवायत या मज़हब तक महदूद नहीं है बल्कि दुनिया के किसी भी क़ौम में भलमनसाहत की यही रिवायत है। मेरे लिए यह सब कह देना जितना आसान है उतना ही आसान प्रोफ़ेसर दुबे के लिए उनका बरतना था।

"हरेक दर्द का दरमा सही ज़माने में
मगर ये दर्द कि इक ग़म गुसार था, न रहा।"

डॉक्टर श्यामाचरण दुबे स्मृति

☐ *कृष्णनाथ*

यह लिखते हुए डॉक्टर श्यामाचरण दुबे की अनेक स्मृतियाँ जाग्रत हो रही हैं। प्रथम परिचय तो उनकी पुस्तक 'इंडियन विलेज़' से हुआ। हम लोग बनारस जिले के गाँव से ही बनारस शहर आये थे, इसलिए गाँव अपरिचित न था। लेकिन दुबे जी का गाँव का वर्णन-विश्लेषण अवश्य विशिष्ट था। उन दिनों सामुदायिक विकास योजना के जरिये गाँव का सुधार-बिगाड़ चल रहा था। यह योजना गांधीजी की कल्पना के ग्राम-स्वराज से निश्चय ही भिन्न थी। इटावा पायलट प्रॉजेक्ट की असफलता इटावा में ही हो चुकी थी, किन्तु उसे सारे देश के गाँवों में फैलाने का क्रम शुरू हो चुका था। ऐसी परिस्थिति में गाँव क्या है—यह जानना नये सिरे से जरूरी हो गया था।

यह बात समय पाकर पुरानी पड़ गयी थी, जबकि शायद जून 1974 में राष्ट्रपति निवास, शिमला स्थित 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़' में उन्हें उसके निदेशक के रूप में देखा-सुना। सीमान्त बौद्ध महासभा और इंस्टीट्यूट के संयुक्त तत्त्वावधान में 'हिमालयी सीमान्त प्रदेशीय भाषा और संस्कृति के संरक्षण-संवर्धन' पर इंस्टीट्यूट के सभाभवन में गोष्ठी आयोजित थी। हिमालय प्रदेश राज्य के निर्माता डॉक्टर यशवंत सिंह परमार ने गोष्ठी का उद्घाटन किया था। गोष्ठी एक विशेष प्रकार से आयोजित की गयी थी। डॉक्टर बैद्यनाथ सरस्वती की कल्पना और श्रद्धेय लामा लोबजंग के संयोजन से एक ओर हिमालयी सीमान्त के प्रतिनिधियों और देश के कुछ खास समाज-वैज्ञानिकों का वहाँ समागम हुआ। डॉक्टर श्यामाचरण दुबे ने न सिर्फ इसमें इंस्टीट्यूट की ओर से सहकार किया, बल्कि स्वयं सक्रिय रूप से भाग लिया। इस गोष्ठी में थोड़ी टकराहट हिन्दू-बौद्ध की पहचान को लेकर हो गयी। किन्तु उसमें से जो ताप और प्रकाश निकला उससे गोष्ठी के निष्कर्ष ज्यादा जीवन्त ही हुए, नष्ट नहीं हुए। इस गोष्ठी के विवाद में, भूगोल के संस्कृति पर प्रभाव के बारे में और सीमान्त भाषा संस्कृति की विशिष्टता के बारे में मुझे भी अपनी समझ या नासमझी पेश करने का सुयोग मिला। जिस उपसमिति ने गोष्ठी के निष्कर्ष लिखित रूप में तैयार किये उसमें हिमालय की उदीयमान बौद्ध नेता श्रीमती लता ठाकुर, एम. एल. ए. के साथ बैठकर उसे तैयार करने और प्रस्तुति पर बहस में भाग लेने का अवसर मिला। प्रस्तुति तो इंस्टीट्यूट के फेलो डॉक्टर कैलाशनाथ शर्मा ने की। प्रस्तुति एक कलाकार की कृति के समान थी। इन सारे प्रसंगों में, औपचारिक-अनौपचारिक बातों में, भोजन और चाय के समय दुबे जी से निकट का परिचय हुआ। श्रीमती डॉक्टर लीला दुबे ने भी गोष्ठी में भाग लिया था; उस शीर्ष गोष्ठी का चक्र आज भी चल रहा है।

इस गोष्ठी-प्रसंग में शामिल होते हुए भी डॉक्टर दुबे कुछ उससे एक अंगुल ऊपर ही

दीखते थे। न सिर्फ अपने कद या पद के चलते, बल्कि शायद अपने एक खास अन्दाज के, एक प्रकार के बौद्धिक आभिजात्य के कारण वे इसमें थे भी, और नहीं भी। गोष्ठी के बाद हम लोग शिमला से हिमाचल के प्रत्यन्त जिले लाहुलस्पीति की यात्रा के लिए निकलने वाले थे। हिमाचल राज्य के अतिथि के रूप में यह यात्रा होने वाली थी। उसमें कुछ विघ्न और विलम्ब हो रहा था। मुझे याद है कि उस समय दुबे जी ने सहजभाव से कहा कि यह यात्रा तो होगी ही। अगर कोई कठिनाई हो तो भी। फिर वह विघ्न दूर हुआ, और हमारी हिमाचल के प्रत्यन्त प्रदेश की वह प्रथम यात्रा सम्पन्न हुई। उसका बखान 'स्पीति में बारिश' में हुआ है। किन्तु वह यात्रा- कथा जहाँ शिमला प्रवास समाप्त हुआ, वहाँ से शुरू होती है। और एक माने में आज तक चल रही है। इस बार तो एक ही वर्ष में, जुलाई-अगस्त में आल्प्स में, और नवम्बर में हिमालय में जाने का योगायोग हुआ! किन्तु सीमान्तों पर जाने का वह प्रथम क्षण आज भी स्मृति में है। और उसके साथ डॉक्टर श्यामाचरण दुबे की स्मृति जुड़ी हुई है।

हमारा तो मूल रूप से परिवार का समाज और देश है। जो परिचय प्रारम्भ होता है वह जैसे परिवार के सदस्य जैसा हो जाता है। डॉक्टर लीला, श्यामाचरण दुबे के पुत्र मुकुल और मेरे बड़े भाई स्वर्गीय जयनाथ शर्मा के ज्येष्ठ पुत्र आनन्द कुमार दोनों जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक दिनों में विद्यार्थी और मित्र हुए। इस प्रकार उनके बीच एक पारंपरिक मैत्री हुई। मुकुल एक बार हमारे काशी विद्यापीठ स्थित आवास में आये, विद्यापीठ में वे एक गोष्ठी में सम्मिलित हुए। युवकों में ताजगी और नयापन होता ही है। जिन्दगी तो युवा की है। मुकुल में वह भरपूर थी। उनके संक्षिप्त से सामान में एक अच्छा 35-मिलिमीटर का कैमरा था। हिमालय यात्रा के साथ-साथ हिमालय की प्रकृति और संस्कृति की मैंने भी फोटो ली थीं। और युवा दिनों से फोटोग्राफी का शौक था। इसलिए मैंने कैमरे के बारे में पूछना शुरू किया। कैमरों की बात चली तो मुकुल ने शरारतवश बताया की दुबे जी ने किसी के कहने से एक बैडोल-सा कैमरा खरीद लिया था जिसे लोड-अनलोड करने में उन्हें कठिनाई होती थी। (बाद में दुबे जी ने अपने खास अन्दाज से कहा कि मैंने उससे कितनी ही फिल्में खींची हैं। मुझे तो कोई दिक्कत नहीं मालूम पड़ी।)

फिर, एक स्मृति उन दिनों की है जब वे मध्य प्रदेश में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष थे। उनके हस्ताक्षर से मुझे एक पत्र मिला। उसमें विश्वविद्यालय स्तर की अच्छी पाठ्य-सामग्री तैयार करने का निमन्त्रण था। और मुझे भारतीय समाज में असहमति ('डिसेंट') की परम्परा पर लिखने को कहा गया था। इस बीच मेरी बदनामी 'अंग्रेज़ी हटाओ' और अन्य निषेध-परक आन्दोलनों के लिए हो चुकी होगी। शायद उसके चलते यह निमन्त्रण था। किन्तु यह निमन्त्रण भी अंग्रेज़ी भाषा और रोमन लिपि में था। उन दिनों मेरा यह व्रत था कि अँग्रेज़ी भाषा और रोमन लिपि में कोई सार्वजनिक काम न करूँगा। अतः मैंने इस निमन्त्रण का कोई उत्तर नहीं दिया। यह जानते हुए भी कि संबंधों के कारण और वैसे भी यह अशिष्टता है। मेरे लिए तो यह बात आयी-गयी हो गयी। अपने युवा और समाजवादी दिनों में ऐसी अनेक शिष्टता- अशिष्टता की होंगी, इसलिए कहाँ तक याद रखता। किन्तु दुबे जी को वह बात याद

थी। सन्, संवत तो मुझे स्मरण नहीं, लेकिन कभी 1980 के दशक में पं. विद्यानिवास मिश्र के कुलपति काल में काशी विद्यापीठ के समावर्तन समारोह में डॉक्टर श्यामाचरण दुबे, मकबूल फिदा हुसेन और अन्य को मानद 'डॉक्टरेट' की उपाधि दी गयी थी। हुसेन तो प्रगट नहीं हुए। दुबे जी आये। बातचीत में उन्होंने पाइप पीते हुए, अपने खास अन्दाज में पूछा कि मैंने उनकी चिट्ठी का जवाब क्यों नहीं दिया? तो मुझे याद आया। मैंने उन्हें संकोच के साथ कारण बता दिया। मुझे लगा कि उन्हें मेरा बताना अच्छा लगा। और जैसे उनके मन से, और मेरे भी, एक मलाल मिट गया।

प्रायः बीसेक वर्षों की स्मृतियाँ अनेक हैं। वैसे मैं अपने स्वभाव के सहज संकोच के कारण चेष्टा करके कहीं मिलने-जुलने या सम्पर्क बनाये रखने का आदी नहीं हूँ। फिर भी दूर-दूर से हाल-चाल मिलता रहता था। पिछले दिनों दिल्ली में किसी अन्य आयोजन के सिलसिले में था। पता चला कि दुबे जी को कोई चोट आ गयी है। प्लास्टर लगा था। अब कट गया है। जमुना पार अपने 'फ्लैट' में हैं। निकलते कम ही हैं। तो प्रोफ़ेसर रमेशचन्द्र तिवारी और डॉक्टर आनन्द कुमार के साथ उन्हें देखने गया। बैसाखी उनके बाजू रखी थी लेकिन वैसे ही जैसे कि पाइप। उनके चेहरे पर कोई शिकन न थी। बल्कि वही ठाठ। उन दिनों भाई शिवप्रसाद सिंह को उनके उपन्यास 'नीला चाँद' के लिए 'व्यास सम्मान' से सम्मानित किया गया था। दुबे जी उस समिति के अध्यक्ष थे, इसलिए मैंने उनके चयन के लिए उन्हें साधुवाद दिया। उन्होंने हिन्दी साहित्य की राजनीति या गुटबाजी का कुछ खेद के साथ संकेत किया। इस बात पर चिंता भी प्रगट की कि हिन्दी के लेखक, कम-से-कम दिल्ली-स्थित लेखक जिन्हें वे जानते हैं, हिन्दी की किताबें नहीं पढ़ते। उनकी चर्चा नहीं करते। कोई न कोई दूर की कौड़ी ले आते हैं। इस बीच उन्होंने नवभारत टाइम्स में हिन्दी में मूलरूप से लेख लिखे थे। चाहते थे कि और भी लिखें और हिन्दी-भाषी लोगों से सीधा संवाद करें।

शायद अंतिम बार उन्हें जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के समाजविज्ञान 'स्कूल' के एक सेमिनार के उद्घाटन सत्र में गत वर्ष देखा-सुना। सेमिनार राष्ट्र-निर्माण के किसी पहलू पर था। हाँ, इस बीच वे अपने 'गाँव' अनेक वर्षों बाद ही गये थे और उसके बदलाव को तफसील में देख-सुनकर लौटे थे। (वह एक अलग प्रसंग इस बीच कहाँ से आ गया?) प्रोफ़ेसर अवध किशोर शरण समारोह के विशिष्ट वक्ता थे। दोनों ही विशिष्ट व्यक्तियों और शैलियों का अद्भुत संयोग वहाँ देखने-सुनने को मिला। दुबे जी का शरीर तो चोट खा चुका था, लेकिन अन्दाज वही था। मुड़कर राष्ट्र निर्माण की समस्या, संभावना पर उन्होंने पश्चात् विचार रखा। जो कहा सो तो सेमिनार की रिपोर्ट में दर्ज हो न हो, लेकिन प्रभावोत्पादक प्रस्तुति की छाप मन पर है। छवि है। और जब वह सशरीर नहीं हैं तो वह छवि और भी उजागर है।

'अब मैं जा सकता हूँ'

□ *सुधीश पचौरी*

"सुधीश जी, दुबे जी तो चले गये !" भर्राए स्वर में इतना बोलते-बोलते लीला जी फफक पड़ीं।

मैंने क्षमा को बताया तो उसकी आँखों में आँसू तैर गये। ऐसा नहीं हो सकता ! अभी कुछ दिन पहले ही तो हम दोनों कोई घंटे-भर उनसे 'गप्प' मारकर आये थे। वे ठीक थे। देर तक उसी स्टाइल में बतियाते रहे थे। बस, एक फ़र्क़ था। वे अधलेटे थे। ऊपर रजाई ओढ़े थे। कुहनी से करवटहे ही बात कर रहे थे।

"अब मैं समझ पाया हूँ कि नामवर जी क्यों कम लिखते हैं,'' उन्होंने मुस्कुराकर कहा। बीमारी की बात कम की, किताबों की बात ज़्यादा की।

'आप जिद्दी हैं दुबे जी। लीला जी परेशान होती हैं। देर रात तक पढ़ते रहे उस दिन ? अब आप यह साहित्य-वाहित्य मत पढ़िए, कुछ हलका-फुलका पढ़िए।" हम शिकायत करते हैं।

"हलका-फुलका क्या है ?" वे पूछते हैं, मानो व्यंग्य करते हों।

"आप 'स्टारडस्ट', सिनेब्लिट्ज़' पढ़िए। ये आपको डिस्टर्ब नहीं करेंगी। मैं भिजवा दूँगी।" क्षमा कहती है।

"ठीक है। अब तुम कहती हो तो उन्हें भी पढ़ लेंगे।" दुबे जी अपनी उसी चिरपरिचित धीमी किंतु साफ आवाज़ में बोलते हैं, "उन्तीस को जाना है बोलने।"

"नहीं, आप आराम करिए।" हम आग्रह करते हैं।

उन्हें अपने कमिटमेंट की बहुत चिंता रहती थी।

"हम जब आ रहे थे, तो उधर ड्राइंगरूम में लीला जी आपकी शिकायत कर रही थीं। वे रो रही थीं," क्षमा उलाहना-भरे स्वर में कहती है।

"कभी-न-कभी तो लीला जी को रोना ही है।" एक हलकी-सी स्मित-रेखा उनके थके हुए चेहरे पर खिंच जाती है।

हम विचलित हो उठते हैं।

—और दुबे जी ने जैसा कहा था, वही हुआ। लीला जी को बहुत जल्दी रुलाकर वे चले गये।

कोई आठ साल पहले के जाड़ों की एक शाम रही होगी। घंटी बजी तो बच्चे के पूछने पर धीमी आवाज में किसी ने पूछा कि क्या सुधीश जी यहीं रहते हैं ? और थोड़ी देर बाद साक्षात् दुबे जी सामने थे। लंबे, साँवले। हाथ में पाइप। ट्वीड कोट। गर्म पैंट।

"मन में था कि आपसे मिलूँ," वे बैठते हुए बोले। उम्र में उनके बच्चे जितना मैं अवाक्। पानी-पानी। अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त दुबे जी का यही स्नेहसिक्त ढंग था जिससे वे

बड़े-छोटे का भेद पलभर में मिटा सकते थे। जाना मुझे था। आ गये वे। देर तक बैठे। उन्होंने पूछा कि दूरदर्शनवाली वह पुस्तक आयी कि नहीं ? मैंने कहा कि प्रकाशन विभाग छाप रहा है और उसकी रफ़्तार कछुए से स्पर्धा करती है। मैंने उन्हें बताया कि मैंने उनके 'कम्युनिकेशन' संबंधी लेख पढ़े हैं, विल्बर श्रैम की पुस्तक में उनका सुदीर्घ लेख पढ़ा है और विकास के संदर्भ में संचार-माध्यमों, खासकर रेडियो की भूमिका का जो विश्लेषण वहाँ किया गया है, उससे मुझे मदद मिली है। मैं आपसे अभिभूत हूँ।

"रामविलास जी कैसे हैं ?" "नामवर जी अद्भुत बोलते हैं।" "अशोक वाजपेयी मेरे प्रिय हैं"··· "और राजेन्द्र यादव जी का क्या कहना ? कैसे हैं हमारे प्रिय कथाकार ! देखिए ! हम आजीवन ग्राहक हैं। लेकिन ऐसे निठल्ले ग्राहक हैं कि 'हंस' कभी पहुँचता ही नहीं।"

पहली भेंट में ही लगा कि मैं एक अत्यधिक शालीन और सभ्य पितृतुल्य व्यक्ति के सम्मुख हूँ जिन्होंने घर पर पहले आकर शिक्षा दी है कि लिखने-पढ़ने के क्षेत्र में कोई किसी से बड़ा होता नहीं। और दुबे जी के लिए तो कोई भी छोटा नहीं था। अनेक अनाम, अज्ञात लेखक-लेखिकाएँ उन्हें पुस्तकें देते, तो पाते कि उनमें साहित्यिक किस्म की ठन-गन बिल्कुल नहीं है जबकि वे समकालीन साहित्य के कदाचित् सबसे आतुर अध्येता थे। आप उनसे पिछले पखवाड़े उन तक पहुँची किताबों के नाम और अर्थ—सब समझ सकते थे। वे रात-रात-भर पढ़ते रह सकते थे।

उन्होंने उठते हुए कहा, "सुधीश जी, घर आइयेगा।"

"मैं इसीलिए नहीं आया कि मेरे आने से आपका टाइम बेकार होगा। बिज़ी रहते हैं आप। थोड़ा डर भी था मन में कि आप जैसे व्यस्त स्कॉलर से भेंट करूँ, तो कैसे !" मैंने बड़ी मुश्किल से कहा।

तब से मृत्यु पूर्व तक पितृतुल्य दुबे जी का हमारे परिवार के ऊपर अगाध स्नेह रहा। महीने-दो महीने में एक बार उनकी तरफ चक्कर लगता। वे सफेद कुरते-पाजामे में ड्राइंगरूम में आते। पाइप भरते और फिर उनकी 'साहित्यिक जिज्ञासाएँ' शुरू होतीं। देखकर आश्चर्य होता था कि उन्हें हिंदी-साहित्य की तमाम गतिविधियों के बारे में सही-सही मालूम रहता था। अपने बारे में बहुत कम बोलते। दूसरों के बारे में ज़्यादा सुनते। देर तक वे अपनी तुरंत पढ़ी पुस्तकों के बारे में बताते कि कौन कैसी लगी। एक-डेढ़ घंटे की बैठकों में एक बार भी याद नहीं पड़ता कि उन्होंने किसी लेखक की जरा-सी निंदा की हो। निंदा-रस, जो साहित्य का इन दिनों स्थायी रस है, उन्हें छू तक नहीं गया था। छोटे-से-छोटे व्यक्ति का स्मरण भी 'जी' लगाकर वे करते। हाँ, यादव जी का ज़िक्र आते ही वे मुस्कराए बिना न रहते थे और यह शिकायत ज़रूर दर्ज कराते कि—देखिये ! हंस हमें फिर भी नहीं मिला। फिर मैं उन्हें ले जाकर देता।

"रामविलास जी की भाषा-संबंधी पुस्तकें पढ़ी हैं आपने ? बहुत अच्छा काम किया है उन्होंने।" एक शाम वे बोले।

"अब देखिए, व्यास-सम्मान को प्रतिष्ठित करना है। बिड़ला जी ने यह काम दे दिया है। देखिए, कैसे होता है यह काम !" यह उनकी लाक्षणिक शैली थी। दो-तीन दिन बाद

अख़बारों में ख़बर छपी कि बिड़ला फाउंडेशन द्वारा संस्थापित व्यास-सम्मान डॉ. रामविलास जी को दिया जाना घोषित हुआ है। वे अभिधा में कम, लक्षणा में बातें करने में सिद्धहस्त थे। समझनेवाले ही समझ सकते थे उन्हें।

"आपने कमाल किया दुबे जी! बिड़ला हाउस से रामविलास जी को सम्मान दिलाना अद्भुत है!" वे बिड़ला को लेकर रामविलास जी के घर पर सम्मान देकर आये थे।

"वे बहुत बड़ा व्यक्तित्व हैं। मेरे लिए तो वे ऋषितुल्य हैं। छोटे-से कार्यक्रम में वहीं देकर आये। वे कहीं जाते नहीं हैं तो बिड़ला जी ने कहा कि हमीं चलते हैं।" दुबे जी ने बताया।

बिड़ला फाउंडेशन के सम्मानों को उन्होंने इतने कम समय में जो प्रतिष्ठा दिलायी, वह वे ही दिला सकते थे।

यों तो, वे हिंदी में पहले भी लिखते थे, लेकिन मयूर विहार के 'पूर्वाशा' में आकर उन्होंने हिंदी में अधिक लिखना शुरू किया। वे अक्सर हिंदी में मौलिक विचार की पुस्तकों के बारे में चिंता करते, हिंदी प्रकाशन में सुरुचिपूर्ण ढंग से पुस्तकों के उत्पादन की कमी को बताते और चाहते कि एक प्रकाशक ऐसा हो जो अंग्रेज़ी की टक्कर की किताबें छापे। किताबें सस्ती हों और अच्छे ढंग से लिखी गई हों। प्रकाशकों के पास 'कापी एडीटर' नहीं होते, ऐसा जानकर वे व्यथित होते। उनकी लाइब्रेरी जिन्होंने देखी है, वे बता सकते हैं कि उनके पास समाजशास्त्र संबंधी दुर्लभ पुस्तकें हैं और हिंदी साहित्य की पुस्तकें भी बहुत हैं। जब मैं 'उत्तर आधुनिकता' पर काम कर रहा था, तो उन्होंने कहा कि मैं उनसे कई पुस्तकें ले सकता हूँ। कुछ पुस्तकें उनके सुपुत्र सौरभ के पास हैं।

दूसरी बार अस्पताल जाने से पहले उन्होंने बच्ची सिंह को भेजा। वह स्टारडस्ट और सिनेब्लिट्ज़ दे गया। उसने बताया कि बाबूजी की तबियत फिर ख़राब हो गयी है। उन्हें अस्पताल से वापस आये सप्ताह भर भी तो न हुआ था कि लीला जी का फोन ही आ गया। दुबे जी चले गये! अपने असंख्य स्नेहभाजनों को छोड़कर चले गये।

अब वही ड्राइंगरूम है। उन्हें उनके सुपुत्र मुकुल ले आये हैं। कोने में वे लेटे हैं। वही पुरानी चाँदी जैसी चमक मारते बाल हैं। नीचे बर्फ लगी है। उनकी प्रिय शाल उन्हें उढ़ा दी गयी है। लीला जी रोते-रोते थक गई हैं। एक बच्ची आती है। उनसे लिपटकर रोने लगती है। यह पड़ोसी की बिटिया है जो उन्हें नाश्ता देती थी, उनसे झगड़ती थी, उनकी दुलारी थी।

उनके परिजनों ने कोई कर्मकांड नहीं किया। माने हुए समाजशास्त्री, एंथ्रोपोलोजिस्ट को किसी कर्मकांड की दरकार! बस, लीला जी की बहन सुमति मुटाटकर तथा परिजनों ने 11 फरवरी की शाम एक सर्वधर्म भजन संध्या रखी है। अंतिम पद गा रही हैं : सर्वं ब्रह्म मयं। किंकरणीयम्, किमकरणीयम्। सर्वं ब्रह्म मयं। किंरचनीयम्, किमरचनीयम्, सर्वं ब्रह्म मयं। और हम तमाम लोग दुबे जी को अंतिम विदा देकर चले आते हैं। सैकड़ों बड़े-छोटे लोग पूर्वाशा के लॉन पर ठगे-से खड़े हैं। किंवचनीयम्? दुबेजी ही जानते थे, क्या कहने योग्य है, क्या नहीं।

कितनी बातें? कितनी यादें? क्या-क्या लिखें? बस, लीला जी की डबडबाई आँखें याद आती हैं। वे हाथ जोड़े खड़ी हैं।

उन्होंने उस दिन कहा था, "दुबे जी बहुत जिद्दी हैं। मानते ही नहीं हैं। सब जगह चले जाते हैं। अभी बंबई होकर आये हैं। डॉक्टरों ने मना किया है कि ज्यादा मत थकिए। गोष्ठियों में ज्यादा मत जाया कीजिए। मानते ही नहीं।" वे रोने लगती हैं।

अंदर दुबे जी अधलेटे हैं। कह रहे हैं कि उनतीस तारीख को एक मीटिंग में जाना है। आधी रात को दिल का दौरा पड़ने से घंटे भर पहले तक 'विकास का समाजशास्त्र' के प्रूफ पढ़ते रहे। 'अब मैं जा सकता हूँ।' कहते वे मुस्कुराते हैं।

और वे अब एक ऐसी गोष्ठी में चले गये हैं, जहाँ से जल्दी नहीं आने वाले!

अन्तिम धरोहर

□ *दयाकृष्ण*

दोस्त तो बहुत से होते हैं, कुछ बचपन के, कुछ जवानी के, कुछ उन दिनों के जब आप स्कूल या कॉलेज में पढ़ते थे और दुनिया आपके सामने एक अनन्त क्षितिज की तरह खुली होती थी जिसका आमन्त्रण आपको सदा आगे की ओर बढ़ने की चुनौती देता था और प्रलोभन भी कि वहाँ कुछ और है, जो थोड़ा और बढ़ोगे तो मिलेगा। अधिकतर मित्र इसी काल में बनते हैं क्योंकि उनके साथ जीवन के वे क्षण बीतते हैं जिनकी याद हमेशा ताज़ा रहती है। पर, ऐसा बहतु कम होता है कि इस काल के गुज़र जाने के बाद कोई ऐसी नयी दोस्ती बने जो उन पुरानी दोस्तियों के समान ही या उनसे भी ज़्यादा, जीवन का अंग बन जाये। दुबे जी की 'दोस्ती' कुछ इन दोस्तियों में से ही थी क्योंकि मेरी मुलाक़ात उनसे बहुत दिन बाद हुई थी, और वह भी देहली से दूर सागर में, जहाँ मैं भी बिल्कुल नया था और वे भी मेरे जाने के, कुछ दिन बाद ही आये थे। पर पढ़ने-लिखने का शौक़, रोज़मर्रा की बातचीत, साहित्य की चर्चा, समाजशास्त्र के नये आयाम; सागर के उस परिवेश में हम लोग अक्सर ही मिला करते थे, और जब भी मिलते थे, ऐसी बौद्धिक प्रसन्नता और आत्मीयता का वातावरण बनता था, जिसमें सहज आह्लाद भी होता था और नये चिन्तन का स्फुरण और जागरण भी। लगता था, क्षण सफल हुए और कुछ ऐसा मिला जिसमें तृप्ति भी थी और प्यास भी, उन क्षणों को फिर दोहराने की।

दोस्ती बनती तो बहुत हैं पर रहती कम हैं। बहुतों के साथ केवल 'निभाना' मात्र रह जाता है क्योंकि जब फिर मिलते हैं तो वो पहले-सी बात नहीं होती। हाँ, पुरानी यादों के सहारे, उनका सम्बल लेकर कई बार फिर भी सम्बन्ध बने रहते हैं। पर वहाँ मिलने पर न वो तृप्ति होती है और न प्यास। लेकिन दुबे जी के साथ ऐसा कभी नहीं हुआ। उनसे जब भी मिले, लगा, उस अन्तराल में उन्होंने कुछ और पाया था जिससे सहज रूप में सीखा जा सकता था और जिसके सीखने में एक सहज आनन्द की उपलब्धि होती थी। व्यक्ति का ऐसा विकास बहुत कम होता है और वह भी अनेक नये आयामों में। शायद उनसे मिलने में जो खुशी होती थी उसका राज़ वही था—खुलापन आकाश जैसा, मुस्कुराहट फलों जैसी, आत्मीयता जिससे लगे कि आपके आने से किसी को वास्तव में आनन्द मिला है।

मिले हम बहुत बार, शिमला में, देहली में, भोपाल में, पर उनकी अदा वैसी ही थी जैसी सागर में हुआ करती थी। आख़िरी बार वह दिल्ली में बीमार होते हुए भी मेरा भाषण सुनने आये थे, जो मैंने के. के. बिड़ला फउंडेशन के तत्त्वावधान में दिया था। आख़िर में जाने से पहले उन्होंने कहा—

"कितनी मुश्किल बात आज तुमने किस आसानी से कही है—यह मैं ही समझ सकता हूँ। कल फिर आऊँगा।" पर यह वादा वे निभा नहीं पाये क्योंकि दूसरे दिन उनकी तबियत

ज़्यादा ख़राब थी और फिर मिलना हुआ ही नहीं। अब केवल स्मृति ही शेष है, पर शास्त्रों में यही लिखा है कि "श्रुति के बाद स्मृति ही होती है।" और मनुष्य तो श्रुति और स्मृति के बीच जीता है। हमारी भी यही नियति है—एक हलकी-सी रेखा के भीतर रहने की, जिसको पार करना मना है, और जो जन उसके पार जाता है, वह उस 'अदृष्ट' का अंग बन जाता है जिसका सत्य केवल श्रद्धा से, विश्वास से, श्रुति से ही जाना जा सकता है। पर उसके एक अन्य सत्य को मनुष्य की चेतना स्मृति में सुरक्षित रखती है, दृष्ट रूप में, प्रत्यक्ष रूप में; और वही संस्कृति की, सभ्यता की, मनुष्य की, दोस्ती की, प्रेम की अन्तिम धरोहर है।

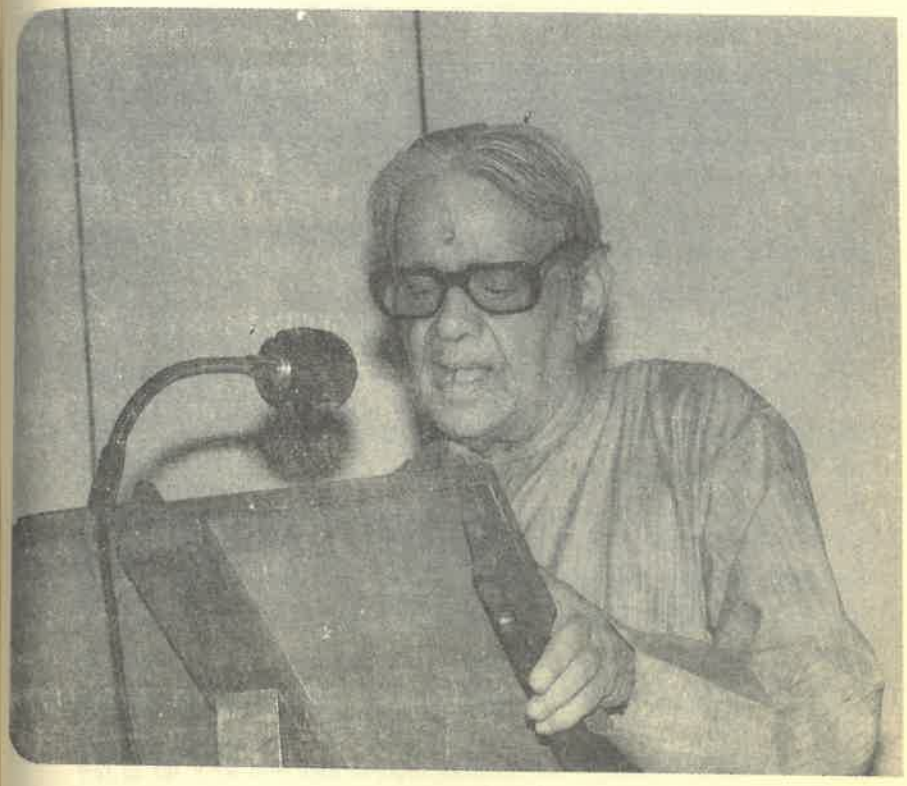

खण्ड—दो

(प्रो. दुबे के चुनिंदा निबंध और व्याख्यान)

भारतीय समाज : परंपरा और गतिशीलता

आपके स्नेहपूर्ण आमंत्रण के लिए कृतज्ञ हूँ। हिंदी-सेवियों की इस मातृ-संस्था के प्रति मुझे बचपन से ही बड़ा आदर और अनुराग रहा है। हिंदी भाषा और साहित्य के अनेक बड़े नाम इस संगठन से जुड़े रहे हैं, उनके नेतृत्व में हिंदी को उसका स्थान और आत्म-गौरव दिलाने में सम्मेलन की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। दीर्घजीवी संस्थाओं के जीवन-काल में कुछ उतार-चढ़ाव आना अस्वाभाविक नहीं है, संतोष यह है कि अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करती हुई इस संस्था की विजय-यात्रा उसके अमृतमहोत्सव तक पहुँच गयी है। आशा है, यह अवसर एक नया प्रस्थान-बिन्दु सिद्ध होगा। चुनौतियाँ अभी भी बहुत हैं : स्वाधीनता के पाँच दशक बाद भी अंग्रेज़ी का वर्चस्व बढ़ रहा है और देशज चिंतन का अवमूल्यन हो रहा है। छद्म आधुनिकता हमारी निजी वैचारिक ऊर्जा को क्षीण कर रही है और पश्चिम का अंध अनुसरण कर हम उसकी हास्यास्पद अनुकृति बनते जा रहे हैं। स्थिति की विडम्बना यह है कि हम अपने-आपको विदेशी नज़रों से देखने लगे हैं। भाषा और विचार-प्रक्रियाओं के सावयवी संबंधों को हमने प्रायः भुला दिया है; पश्चिमी सोच से भारतीय-परम्परा, जीवन-दृष्टि और मूल्यों को समझने के प्रयत्न एक विचित्र-सा विचार उत्पन्न कर रहे हैं। इधर 'भारतीयता' की बात बहुत की जाने लगी है, पर या तो वह महज़ फैशन है अथवा राजनीतिक शतरंज का एक मोहरा है। एक ओर जातीय भावना ड्राइंगरूम की सजावट बन रही है, दूसरी ओर संस्कृति, धर्म और भाषा के नाम पर ऐसी विस्फोटक स्थितियाँ उत्पन्न की जा रही हैं, जिनका लक्ष्य मात्र सत्ता की प्राप्ति है। कहाँ हैं हमारी कार्य-सूची में सांस्कृतिक नवजागरण की सार्थक और कारगर योजनाएँ? क्या हम अप-संस्कृति के उत्कर्ष के मूक साक्षी हैं? क्यों हम धर्म की सारी मर्यादाएँ तोड़ते हुए उसे केवल एक आनुष्ठानिक भूमिका दे रहे हैं? भारतीय भाषाओं की ऐसी दुर्दशा क्यों हो रही है कि उनके लिए होनेवाले आन्दोलन और प्रचुर वित्तीय प्रावधान के बाद भी अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ियत का प्रभाव-क्षेत्र निरंतर बढ़ रहा है? हम खण्डित मानसिकता के शिकार हैं। भारतीयता से जुड़ा छोटा खण्ड धीरे-धीरे और भी सिकुड़ रहा है और वह जातीय पहचान का प्रायः अर्थहीन प्रतिष्ठा-चिह्न बन रहा है।

भारतीय संस्कृति की बुनावट और सामाजिक संरचना की समझ के प्रयत्न अनेक आग्रहों और दुराग्रहों से ग्रस्त रहे हैं। आज भी उनमें वैज्ञानिक तटस्थता और ऐतिहासिक विवेक की कमी है। 'आर्यवाद' ने अनेक मिथकों को जन्म दिया। यह माना जाने लगा कि शुद्ध रक्त आर्य भारत में ज्ञान और सभ्यता का प्रकाश लाये और उन्होंने अनार्यों—दास, निषाद, अनास, दस्यु को परास्त कर एक उच्च संस्कृति का विकास किया। किसी बड़े आर्य-आक्रमण और विजय की बात आज ऐतिहासिक रूप से संदिग्ध मानी जाने लगी है। अब दावा किया जा रहा है कि आर्य समूह भारतीय मूल के ही थे और अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के

कारण उन्होंने स्वयं को आदरसूचक नाम—आर्य दे दिया था। आखिर ये आर्य थे कौन? क्या कोल और किरात समूहों को उन्होंने सिर्फ दिया ही, उनसे कुछ लिया नहीं? सिन्धुघाटी-सभ्यता के उत्खनन से आर्यवाद को गहरा धक्का लगा। नागर सभ्यता का यह गौरवशाली अध्याय द्रविड़ों की देन माना गया। भौतिक-सभ्यता की यह उच्च उपलब्धि थी, तथाकथित आर्य इस दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे। नये अनुसंधान, जो पूरी तरह प्रमाणित और स्वीकृत नहीं हैं, यह संकेत देते हैं कि सिंधुघाटी-सभ्यता के निर्माण में आर्य और आर्येतर समुदायों का मिला-जुला योगदान था। यदि यह अवधारणा सच है, तो भी वह आर्यों की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को चुनौती देती है। भारतीय समाज के आर्यकरण की प्रक्रिया भी अत्यंत जटिल थी। सांस्कृतिक—विशेषकर वैचारिक और दार्शनिक तत्त्वों का प्रवाह एकतरफा नहीं था। यदि व्रात्यों का आर्यकरण हुआ, तो एक सीमा तक आर्यों का व्रात्यकरण भी हुआ। आर्यपूर्व विश्वासों की छाप समकालीन हिंदू समाज पर देखी जा सकती है। हिंदू देव-मण्डल में आर्येतर देवी और देवता भी प्रतिष्ठित हैं।

वैदिक धर्म, जो अब सनातन धर्म के नाम से अधिक जाना जाता है, धर्मान्तरण में विश्वास नहीं करता था, फिर भी उसने अनेक बाह्य प्रजातीय तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया। यवन (ग्रीक), शक, हूण और कुषाण तत्त्वों के हिंदूकरण के बारे में पर्याप्त जानकारी है। अपनी शक्ति और हिन्दू-धर्म के नियमों में सामान्य शिथिलीकरण के कारण उनकी स्वीकृति में अधिक कठिनाई नहीं हुई। उत्तर-पूर्व की कई जनजातियों को हिंदू-धर्म ने किस तरह आत्मसात् किया, यह अभी भी ठीक तरह से नहीं जाना गया है। बोडो-भाषी समूह की अनेक जनजातियाँ—विशेषकर कचारी, राभा और कोच, जिनके कभी अपने शक्तिशाली राज्य थे—अब हिंदू समाज में घुल-मिल गये हैं और अपने-आपको राजवंशी कहने लगे हैं। ये तिब्बती-बर्मी भाषा समूह के हैं। भारतीय-मंगोल—समूह की अनेक जनजातियाँ—चुटिया, देअरी, मिशिंग और मोरन—धीरे-धीरे हिंदू समाज का अंग बनती जा रही हैं। अहोम समुदाय की गौरवशाली परम्परा रही है। तेरहवीं सदी में चीन के यूनान क्षेत्र और उत्तरी बर्मा से आये इस ताई शान भाषी समूह ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की, जो उन्नीसवीं सदी के मध्य तक चला। इनके पराक्रम की गाथा बुरंजियों-इतिहास-पोथियों में अंकित है। अहोम समुदाय ने गैर-अहोम लोगों से भी विवाह-संबंध स्थापित किये, असमिया भाषा अपनायी और धीरे-धीरे अपने हिंदूकरण को स्वीकार करते गये। ताईभाषी अन्य शान समूह—खामयेंग, खामटी, तुरांग आदि—बाद में आये और उन्होंने बौद्धधर्म अपनाया। श्री शंकरदेव के प्रयत्नों से वज्रयान और सहजयान बौद्ध-शाखाओं के अनेक समूहों का वैष्णवीकरण हुआ। मणिपुर के मैतेई भी अब पूरी तरह हिंदू-धर्म का पालन करते हैं। इनके संबंध में कहा जाता है कि वे तेरहवीं-चौदहवीं सदी में उत्तर-पश्चिम चीन से मणिपुर में आये थे। सन् 1714 में पाम्हेइबा नाम का एक नागा प्रमुख यहीं का राजा बना। उसने हिंदू-धर्म स्वीकार किया। उसे क्षत्रिय की प्रस्थिति दी गयी। धीरे-धीरे सारे मैतेई हिन्दू हो गये। वे जाति के नियमों का पालन करने लगे और उन्होंने भक्ति-संगीत और नृत्य की विशिष्ट शैलियाँ विकसित कीं। त्रिपुरा में जनजातीय और हिन्दू परम्पराओं का सह-अस्तित्व देखा जा सकता है। वहाँ के हिंदू जिन देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, उनकी सूची है—हर, उमा, लक्ष्मी, सरस्वती, ब्रह्मा, समुद्र, गंगा, अग्नि, कामदेव और

हिमालय। इनके पुजारी त्रिपुरी आदिवासी हैं, ब्राह्मण नहीं। खारची-उत्सव के समय इन देवी-देवताओं को जो स्थान मिलता है, वही 'बुरामा' नाम की आदिवासी देवी को भी दिया जाता है। ऐसी ही प्रक्रिया भारत के कुछ अन्य जनजातीय क्षेत्रों में भी देखी जा सकती है।

भारत में ईसाई धर्म और इस्लाम के आने और फैलने का इतिहास अधिक नज़दीक का है, परन्तु उनके बारे में भी कई भ्रान्तियाँ हैं। ईसा पूर्व सन् 50 में सेण्ट थामस और सेण्ट बाइथोलोम्यु इस धर्म को भारत लाये। उसे किसी विदेशी सत्ता का समर्थन प्राप्त नहीं था। इस्लाम भी भारत में पहले तलवार के जोर से नहीं आया। पूर्वी तट के उत्तरी भाग में बिल्हारा वंश ने और दक्षिणी भाग में मलाबार के झामोरिन ने मुसलमान व्यापारियों का स्वागत किया और उन्हें व्यावसायिक केंद्र विकसित करने में सहायता दी। इस्लाम का प्रचार-प्रसार करने में मुख्य भूमिका उन धर्म-उपदेशकों की थी जो अन्तःप्रेरणा से भारत आये थे। उनकी सूची लम्बी है, पर शेख इस्माइल (बुखारा), अब्द अल्लाह (यमन), नूरख़्तरागत (ईरान) और ख़्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती (ईरान) आदि का स्मरण आज भी आदरपूर्वक किया जाता है। उन्हें राज्य-शक्ति का समर्थन प्राप्त नहीं था। हिंदुओं ने उन्हें और अन्य सूफ़ी संतों को अपार श्रद्धा दी और आज भी दे रहे हैं। धर्म और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में तीनों धर्मों में पर्याप्त संवाद और आदान-प्रदान रहा। प्रच्छन्न रूप से भारतीय ईसाइयों और मुसलमानों में कुछ हिंदू तत्त्व आये, जैसे अप्रत्यक्ष रूप से जाति-प्रथा की स्वीकृति। राज-शक्ति ने धर्मान्धता की प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया और उदार सहिष्णुता की भावना को क्षीण किया। आज की राजनीति भी यही कर रही है।

भारतीय समाज की संरचना संघीय प्रणाली की है, जिसमें एकरूपता का आग्रह नहीं रहा। उसमें क्षेत्रीय, स्थानीय और जातीय अस्मिताओं को समान आदर मिला है। उसने अनेक मतों, पन्थों और सम्प्रदायों को स्वीकार किया है। उसमें विवाह के आठ रूप स्वीकृत हैं, मातृधारिक परिवार स्वीकृत हैं और बहु पतित्व भी स्वीकृत हैं। आंध्र के पंच ब्रह्म या विश्वब्रह्म समुदाय में पाँच भिन्न शिल्पकार समूह सम्मिलित हैं, पर यह समुदाय अंतर्विवाही है और वह ब्राह्मणों की मध्यस्थता स्वीकार नहीं करता। भारत में शास्त्र महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु वे लोकधर्म से ऊपर नहीं हैं।

भारतीय समाज में रूढ़ियाँ रही हैं, परंतु उसकी परम्परा की गत्यात्मकता भी उल्लेखनीय है। वाल्मीकि, वेदव्यास और विदुर उच्च वर्ण के नहीं थे, पर उन्हें ऋषियों और ज्ञानियों-जैसा आदर प्राप्त है। असहमति, विरोध और सुधार की परम्पराओं ने सामाजिक अन्याय का खुलकर विरोध किया। जैन और बौद्ध धर्म प्रति-संस्कृति के रूप में जन्मे थे। संत कवियों की वाणी में भी असहमति और विरोध का स्वर था। ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज सामाजिक क्रांति के पक्षधर थे। देश, काल और पात्र के अनुसार धर्म की व्याख्या की परंपरा समाज की गतिशीलता की द्योतक है।

(समाजशास्त्र परिषद् के सभापति पद से भाषण, इलाहाबाद)

सांस्कृतिक बहुलतावाद

मानव-संसार में अत्यंत बृहत् सांस्कृतिक विविधताएँ हैं, उससे भी कहीं अधिक बृहत् जितनी हम कल्पना करते हैं या पहले से ही मान लेते हैं। हमारे पास रूढ़िबद्ध धारणाएँ हैं — पूर्व और पश्चिम की, क्रिस्तीन, मुस्लिम, बौद्ध तथा हिंदू की, गोरी, काली, पीली तथा भूरी जातियों की एवं परम्परागत संक्रामी और आधुनिक समाजों की। इन रूढ़िगत धारणाओं के विकास के ऐतिहासिक कारण हैं किंतु वे मानवजाति के सांस्कृतिक मानचित्र की विविधताओं के आकलन में विशेष सहायता नहीं करतीं। वे यथार्थ तथा कल्पित, दोनों पर आधारित हैं और उनमें सूक्ष्म और इतने सूक्ष्म भी नहीं, पारिस्थितिक आवश्यकताओं तथा दबावों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं।

मानवविज्ञानी मुख्यतः सांस्कृतिक अस्मिताओं के आधार पर अक्सर 10,000 (?) समाजों की बातें करते हैं। यह पूर्णरूपेण सही संख्या नहीं है, न ही यह परिशुद्ध वैज्ञानिक निकषों पर आधारित है। यह सांस्कृतिक अस्मिताओं में अस्थिरता के कारण संभव भी नहीं है, जिनमें अक्सर परिवर्तन होते रहते हैं तथा जो नये संरेखण बनाती रहती हैं। अनुमान बदलते रहते हैं। गुर्र तथा सेरिट्ट ने नीत्शमान को उद्धृत किया है, जो इनकी संख्या को 5,000 बताते हैं। ये विशिष्ट समुदाय हैं जिनकी वंश-परंपरा, विश्वास, संस्थाएँ, भाषा तथा भूभाग सामान्य हैं, जो 'राष्ट्रीय' समुदायों की हैसियत का दावा कर सकते हैं, और माना जा सकता है कि वे स्वतंत्रता नहीं तो कम-से-कम स्वायत्तता के अधिकारी हैं। एलिस बोल्डिंग ने एक अन्य अनुमान के अनुसार, 159 देशों में 6,276 'महत्त्वपूर्ण नस्ली समूहों' की संख्या बताई है।

जो भी अनुमान सच्चाई के निकट हो, अधिकांश देश अनेक अस्मिताएँ अवश्य रखते हैं, जिस भाँति भी उन्हें पारिभाषित किया जाये—चाहे नस्ली बन्धुता के आधार पर, या सामान्य सांस्कृतिक विरासत के आधार पर, या साझी भाषा या भाषाई-कुल के आधार पर। सांस्कृतिक लक्ष्यों तथा हितों के मध्य संतुलन स्थापित करना एवं सामंजस्य बनाये रखना अक्सर एक समस्या का रूप लेता है। आधुनिक दिनों में अस्मिता से जुड़े प्रश्नों के राजनीतिकरण के साथ ही यह प्रचुरता में प्रकट हो रहा है।

मानवजाति ने इतनी विस्तृत विविधताओं का विकास कैसे किया? विभिन्न प्रकार का सांस्कृतिक बहुलतावाद लगभग 28 हज़ार वर्षों से विद्यमान रहा है, हो सकता है इतने प्रखर रूप से इसको महसूस न किया गया हो, तथा इतने आवेगपूर्ण ढंग से इस पर बल न दिया गया हो। कुल-झुंडों की अपनी अस्मिता एवं अभिमान रहा है। जनजातीय संगठनों ने अभिलक्षणों का विकास किया, जो एक को दूसरे से पृथक् करते थे। तथा राष्ट्र, जो चंद जनजातियों के संगलन के कारण अस्तित्व में आये, विशेषक चिह्नों एवं आक्रामकता से युक्त होते गये और गौरव-भाव को आत्मसात् करते गये। उस समय से मानव-जाति का सांस्कृतिक विकास विविध

ऐतिहासिक रास्तों से होता रहा। इस पर विभिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रभाव पड़ता रहा, जिसने इसके स्वरूप तथा सार का निर्माण किया।

अतीत में भीषण जलवायुवीय तथा पारिस्थितिक परिवर्तनों, भोज्य पदार्थों के स्रोतों की कमी, (परस्पर) सांघातिक युद्धों तथा विजयों के कारण जनसंख्या के व्यापक संचलन हुए। उनमें से कुछ में दीर्घ एवं कष्टसाध्य यात्राओं तथा नये परिवेश एवं अपरिचित मानव-समाजों के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया शामिल थी। 'हम' तथा 'वे' के कुछ विभेद धूमिल हुए किन्तु अन्य बने रहे। अतीत के कुछ विजेताओं—सिकन्दर, चेंगिज़ तथा तैमूर—ने बड़े साम्राज्य स्थापित किये। लुटेरे, ख़ानाबदोश झुंडों—जैसे तुर्क, मंगोल तथा अन्य—ने बड़े भू-भाग को रौंद डाला। उन्होंने अपनी सांस्कृतिक जनसांख्यिकी में लूट तथा अंधाधुंध हत्याओं का नया आयाम जोड़ा।

एक प्रकार का सांस्कृतिक बहुलतावाद अस्तित्व में आ रहा था। यह ज़्यादा स्थिर नहीं था, न ही हमेशा शत्रुतापूर्ण या आक्रामक ही था। इतिहास के प्रक्षेप-चक्रों द्वारा पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत तक एक नयी विश्व-व्यवस्था का आविर्भाव हुआ। यह क्रिस्टोफ़र कोलम्बस तथा वास्कोडिगामा के युग का उदय था, जो उन्नत नाविकी कौशल एवं बढ़ी हुई अग्नि-सामर्थ्य के कारण संभव हुआ। यह एक बड़ा हस्तक्षेप था जिसने इतिहास की धारा बदल दी। उत्तर तथा दक्षिण के मध्य बढ़ती हुई दरार के साथ ही नये विषम तथा असम संबंधों का सृजन हुआ। नस्ली-संबंधों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा।

अमरीकी क्षेत्रों में कोलम्बस-पूर्व देश तथा अमरीकी-इंडियनों (Amerindians) के राज्य-मंडल (Confederations) नष्ट हो गये और उनके स्थान पर एक नयी राज्य-व्यवस्था स्थापित हुई। इस विजय को युगीन आयामों में से एक माना गया। इसके नायक किंवदंती बने तथा उनके कार्यों को उत्सव की तरह मनाया जाना नये अमरीकी लोकज्ञान का भाग बना। यह ऐसा समय था जब लोग कहा करता थे, यहाँ तक कि विश्वास करते थे कि 'मृत इंडियन ही एक अच्छा इंडियन हो सकता है' ('the only good Indian is a dead Indian') चार सौ वर्ष पश्चात् आज महिमामंडन अत्यन्त कम है। यथार्थ में मूल निवासियों के ऊपर ढायी गई बर्बरताओं तथा उनकी परिसम्पत्तियों, स्वतंत्रताओं, यहाँ तक कि समझौते के अधीन प्राप्त संधि-अधिकारों के अतिक्रमण के प्रति आज पश्चात्ताप का भाव है।

अमेरेंडियनों की संवैधानिक स्थिति को विभिन्न प्रकार से व्याख्यायित किया गया है। उन्हें ब्रिटिश सरकार से संपृक्त तथा ब्रिटिश रॉयल घोषणा, 1963, के संरक्षण के अधीन 'राष्ट्रों या अमरीकी आदिवासियों की जनजातियाँ' कहा जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने उन्हें 'पराश्रित देशीय राष्ट्र' के रूप में स्वीकारा। सन् 1972 में राष्ट्रपति निक्सन के एक वक्तव्य में कहा गया कि यू. एस. ए. का नीति-लक्ष्य अमेरेंडियनों को 'स्व-निर्णय' का अधिकार देना है। अमेरेंडियन स्वयं के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग करते हैं यद्यपि यू. एस. ए. का संविधान उनके लिए 'जनजाति' (Tribe) शब्द का प्रयोग सतत् रूप से करता आ रहा है। यद्यपि कुछ असुविधा एवं अपराध-बोध के साथ पर मानवविज्ञानी भी उनके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं।

आप उन्हें चाहे जिस नाम—राष्ट्र, जनजातियाँ या दलों/बैंड से पुकारें, यू. एस. ए. में

अमरेंडियनों की 178 स्पष्ट अस्मिताएँ हैं। अमरेंडियनों की जमीनों तथा प्राकृतिक संसाधनों, जिन्हें सरकार तथा गैर-अमरेंडियन समूहों द्वारा अवैधानिक तरीके से हस्तगत कर लिया गया था, के लिए क्षतिपूर्ति के दावे हेतु वैधानिक लड़ाइयाँ लड़ी जा रही हैं।

यू. एस. ए. में और भी नस्ली समूह हैं, विलयन के दृष्टिकोण के बावजूद उनका एकीकरण पूरी तरह से नहीं हुआ है। काले लोग महसूस करते हैं कि उनके साथ भेद-भाव हो रहा है और अपने असंतोष को मुखरित करने हेतु उनके पास शक्तिशाली संगठन हैं। अन्य नस्ली समूहों, जैसे—चीनी, भारतीय, जापानी, फिलीपीनी तथा दूसरों ने अपनी सांस्कृतिक तथा धार्मिक अस्मिताएँ बनाये रखी हैं यद्यपि उनमें से कुछ सामाजिक स्तर में उन्नति कर गये हैं। यूरोपीय मूल के लोगों ने भी कुछ सीमा तक अपनी मूल राष्ट्रीय अस्मिताएँ बनाये रखी हैं। यहूदी सैद्धान्तिक तत्त्व दृढ़ता से बुना हुआ तथा प्रभावशाली है। इस्पेनी लोगों के साथ हीन बंधुओं की भाँति व्यवहार किया जाता है। समय-समय पर यू. एस. ए. में नस्ली हिंसा भड़क उठती है, लेकिन निःसंदेह वहाँ पर अलगाववादी आंदोलन नहीं हैं।

कनाडा 'जाति/राष्ट्र' ('peoples') तथा 'स्व-निर्णय' जैसे शब्दों के प्रति सावधान था और उसने अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर इन शब्दों के अंगीकरण का प्रतिरोध किया। एक समय, मूल निवासियों—जैसे अमेरेंडियन, इन्यूट तथा मेटिस के लिए 'बैंड' जैसे अनोखे शब्द का प्रयोग होता था, उन्होंने इस शब्द के प्रयोग का प्रतिरोध किया। उन्होंने फ्रेंच तथा ब्रिटिश लोगों को कनाडा की 'दो संस्थापक जातियों' के रूप में उल्लेख किये जाने को पसंद नहीं किया, क्योंकि क्या अमेरेंडियन तथा इन्यूट जातियाँ इन तथाकथित संस्थापक जातियों के पैर रखने से हज़ारों वर्ष पूर्व वहाँ नहीं निवास करती थीं जिसे आज कनाडा कहा जाता है? क्या वे वास्तविक 'आद्य जातियाँ' नहीं थीं? कनाडा के हाउस ऑफ कॉमन्स द्वारा गठित इंडियन स्व-शासन की विशेष समिति ने इस संज्ञा को स्वीकार्य पाया, और उनके स्वनिर्णय के अधिकार तक को मान्यता प्रदान की।

प्रथम राष्ट्रों की सभा ने तो कनाडा के संविधान द्वारा मान्य शासन के दो क्रमों — संघीय तथा प्रादेशिक—की धारणा पर भी आपत्ति की। क्या प्रथम राष्ट्र-शासन के प्रथम क्रम का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे? निःसंदेह, कनाडा के लोगों का विरोध जिन कारणों पर आधारित था उनका अमेरेंडियनों एवं अन्य आदिवासी समूहों से कुछ भी लेना-देना नहीं था, बहुत कम लेना-देना था। जिस कारण ने उन्हें परेशान कर रखा था, वह था, कनाडा के संघ का संभावित विघटन। वे इस बात को लेकर चिंतित थे कि ऐसा कोई विधिक रास्ता न बच जाये जिससे फ्रेंच बोलनेवाले राज्य, क्यूबेक, को अलगाव में मदद मिले। स्थिति 'क्री' अमेरेंडियनों के इस दावे से और जटिल हो गयी कि यदि क्यूबेक कनाडा से अलग होता है, तो उन्हें भी क्यूबेक से अलग हो जाने का अधिकार होगा। दोनों, क्यूबेक तथा क्री, (और इन्यूट भी) के अलग हो जाने के दावे के प्रश्न को अंतर्राष्ट्रीय विधि के पाँच विख्यात् विद्वानों को संदर्भित किया गया, परंतु उन्होंने उसका समर्थन नहीं किया। उलझे हुए प्रश्नों के समाधान सहज नहीं होते। वाद-विवाद चलता रहता है।

कनाडा में और दूसरे नस्ली तथा सांस्कृतिक तत्त्व हैं। उनकी सांस्कृतिक एवं धार्मिक संवेदनशीलता का सामान्यतया सम्मान किया जाता रहा है। एक प्रशासनिक अभिकरण द्वारा

उनके सांस्कृतिक मामलों—विशेषकर अल्पसंख्यकों की समस्याओं—पर कड़ी दृष्टि रखी जाती है। वहाँ एक बड़ी विभाजक-रेखा भाषाई आधार पर है—यानि फ्रेंच बोलनेवाला कनाडा बनाम अंग्रेज़ी बोलनेवाला कनाडा। अलगाववादी प्रवृत्ति को वार्तालाप एवं रियायतों द्वारा रोका गया है, यद्यपि अभी भी देश के सामने अंतिम समाधान नहीं है।

लैटिन अमरीका में नस्लों, विशेषकर यूरोपियनों, अमेरेंडियनों एवं नीग्रो में पर्याप्त मिश्रण हुआ है। मिश्रित रक्त के ये लोग मेस्टिजो (Mestizos) के रूप में जाने जाते हैं। तीन दशक पूर्व उनकी संख्या 16,000,000, दक्षिण अमरीका में अमेरेंडियनों की संख्या की दुगुनी थी। परग्युए में वे जनसंख्या का 97 प्रतिशत तथा वेनेजुएला में 70 से 80 प्रतिशत थे। मेक्सिको तथा मध्य अमरीका में मेस्टिजो 120 से 130 लाख थे। भेद-भाव के सूक्ष्म रूप अभी भी हैं। नगर-निवासी, स्पेनिशभाषी गैर-इंडियन लेडिनो, को एक विशेषाधिकृत कोटि का माना जाता है, किंतु यह नाम अब अपमानजनक माना जाने लगा है।

अफ्रीका में स्थिति भयावह दिखाई पड़ रही है। उत्तरी इस्लामिक राज्य—मिश्र, अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, लीबिया तथा मोरक्को—अरब जगत् के हिस्से हैं, यद्यपि उनके यहाँ भी नस्ली और धार्मिक अल्पसंख्यक हैं। उदाहरणार्थ—कॉप्ट, जो स्वयं को पुराकालीन मिश्रवासियों के वंशज मानते हैं, एवं आज के मिश्र की जनसंख्या का दसवाँ भाग हैं, के समक्ष सांस्कृतिक समायोजन- संबंधी गंभीर समस्याएँ हैं। इनमें से अधिकांश देश इस्लामिक कट्टरवादियों के दबाव में हैं। सूडान उत्तर के मुसलमानों एवं दक्षिण के ईसाइयों के लिए रणक्षेत्र बन गया है। इथोपिया ने भूख, अभाव तथा मृत्यु को हाल में काफी निकट से अनुभव किया है। सोमालिया इस शताब्दी की मानव-जनित प्रमुखतम त्रासदियों में से एक का साक्षी हो रहा है।

काले अफ्रीका में अन्य स्थान पर भी स्थिति निराशापूर्ण है। नस्ली एवं जनजातीय समूहों के मध्य भ्रातृहंता युद्ध हो रहे हैं। युगांडा और इदी अमीन को याद कीजिए। अन्य प्रकार से सुसम्पन्न, नाइजीरिया के बियाफ्रा क्षेत्र में अन्तर्जातीय युद्धों की त्रासदी का स्मरण कीजिए। अंगोला तथा मोजाम्बीक के मध्य हुए युद्ध में विचारधारा के साथ-साथ नस्लीयता का भी तत्त्व था। यथार्थ में, अफ्रीका विभिन्न यूरोपीय शक्तियों के साम्राज्यों के मध्य टुकड़ों में बाँट लिया गया था। इन्हें निरंकुश ढंग से उपनिवेश बनाया गया, और किसी भूगोलीय तर्क का पालन नहीं किया गया, न ही जनजातीय अस्मिताओं और उनकी सीमाओं को ध्यान में रखा गया। अप्रत्यक्ष शासन-व्यवस्था की पद्धति ने परंपरागत उपकरणों का प्रयोग दैनंदिन प्रशासन में किया। ऐसा अंशतः उपनिवेशवादियों की, लोगों की भावनाओं का सम्मान करने की इच्छा के कारण हुआ होगा। किंतु उससे भी अधिक उपयुक्त प्रश्न हैं : किनके हितों के लिए नीतियाँ बनायी गयीं और प्रशासन चलाया गया? क्या लोगों के लिए उपनिवेशवादियों को उनकी अपनी चिंताओं ने कभी रुकने और अपने शोषक तथा उत्पीड़क शासन की प्रकृति और परिणामों के बारे में सोचने के लिए बाध्य किया? अंतिम प्रश्न, क्या लोगों को स्व-शासन हेतु प्रशिक्षित करने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया?

प्रवासी प्रत्यक्षतः बेहतर जीवन जीते थे। देशवासियों को तंग, ऊबड़-खाबड़ कस्बों में रहना पड़ता था। अल्प वेतन के लिए अधिक समय तक कार्य करना, बहुधा स्वयं को अपनी सांस्कृतिक जड़ों से उन्मूलित होना तथा अपने परिवारों और रिश्तेदारों से बिछुड़ना पड़ता था।

'गोरी जाति का दायित्व' चन्द लोगों के धर्मांतरण एवं अत्यन्त थोड़े लोगों को प्रारंभिक शिक्षा देने से अधिक नहीं था। यथार्थ में, नस्ली आद्यताओं पर बल दिया गया। दक्षिण अफ्रीका, जो गोरी जाति के प्रभुत्व का अन्तिम गढ़ है, के निकट भविष्य में विखंडित होने की संभावना है। किंतु इस प्रक्रिया के रक्तपातहीन तथा वेदनारहित होने की संभावना नहीं है। काले, गोरे एवं अश्वेतों के मध्य सत्ता के बँटवारे को लेकर प्रारम्भ में गंभीर कठिनाइयों का होना अवश्यंभावी है। सांस्कृतिक बहुलतावाद की धारणा को कठोर परीक्षा से गुजरने की संभावना है।

यूरोप और मध्य-पूर्व की छवि भी आशाजनक नहीं है। यहाँ संघर्ष-रेखाएँ विभिन्न स्तरों पर खिंची हैं, जैसे कि **धार्मिक**—उत्तरी आयरलैंड तथा बोस्निया इसके उदाहरण हैं; **नस्ली**—जर्मनी में नव-नाज़ीवादी तथा रूस में यहूदी-विरोधी गर्जनाएँ जिसका प्रतिनिधित्व करती हैं; **भाषा-आधारित**—जैसाकि नीदरलैंड तथा स्पेन के कुछ हिस्सों में है; **विभाजित नस्ली समूहों के मध्य**—जैसे कि बास्कों, कुर्दों, ग्रीक एवं साइप्रस के तुर्कों तथा विभिन्न देशों के फिलिस्तीनियों के बीच। **बहु-सांस्कृतिक समाजों में**—जैसे कि यूनाइटेड किंगडम तथा अन्य बहुत से देश जहाँ अतिथि श्रमिक हैं, और **संप्रदाय आधारित** जैसे कि ईरान एवं इराक के मध्य शिया-सुन्नी मतभेद।

सोवियत साम्राज्य के विखण्डन ने नस्ली समस्या को केवल आंशिक रूप से हल किया है। नये गणराज्यों में पर्याप्त अल्पसंख्यक समूह एवं लघु संपुटित अस्मिताएँ हैं। यहाँ भी सांस्कृतिक बहुलतावाद की धारणा को परीक्षा का सामना करना होगा।

और एशिया में क्या स्थिति है? इसके अधिकांश बड़े देश, और कुछ छोटे भी, बहुनस्ली, बहुधर्मी तथा बहुभाषी हैं तथा प्रायः सभी के अपने फ्लैशप्वाइंट हैं। इस्लाम के आधार पर एक होते हुए भी, अफ़गानिस्तान नस्ली आधार पर विभाजित है और आत्मसंहारक युद्ध में फँसा हुआ है। बांग्लादेश में मुसलमान व हिंदू के बीच के समीकरणों, बिहारी मुसलमानों के बारे में अनिश्चितता एवं चकमा समस्या को लेकर अपनी असाध्य समस्याएँ हैं। भूटान के ड्रेगन राज्य में द्रुकपा—नेपाली संघर्ष है। चीन, जो बाह्य जगत् के लिए बहुत खुला नहीं है, में कम-से-कम तिब्बत की समस्या है। साथ ही साथ जिङ्ग्यान में यूगुर, कजक एवं आठ अन्य लघुतर विशिष्ट समूहों, जो सभी मुसलमान हैं, के मध्य असंतोष बढ़ रहा है।

भारतवर्ष बड़ी संख्या में विवादास्पद समस्याओं का सामना कर रहा है। तमिलनाडु में आक्रामक भाषावाद (linguism) है, उत्तर-पूर्वी राज्यों में जनजातीय उभार, पंजाब में खालिस्तान राज्य एवं कश्मीर में स्वतंत्रता या स्वायत्तता की माँगें हैं। कश्मीर को छोड़ दिया जाए तो इन समस्याओं पर काबू पा लिया गया है, कम-से-कम अस्थायी तौर पर। भारत के पटल पर बौडोलैंड एवं झारखंड की समस्याएँ भी हैं। दोनों के मूल में जनजातीय चेतना है। इनके अतिरिक्त भारतीय संघ के सभी राज्य बृहत्तर स्वायत्तता के लिए शोर मचा रहे हैं। साथ-ही-साथ, भारत की चिरस्थायी सांप्रदायिक समस्या समाधान की राह देख रही है।

मलेशिया में, जहाँ मलयों, चीनियों, तमिलों तथा पंजाबी भारतीयों और थोड़ी संख्या में बौद्धों की मिश्रित जनसंख्या है, अतीत में नस्ली तनाव रहे हैं, किन्तु अब वहाँ शान्ति है। इस शांति की प्राथमिक शर्त है कि मलयों के प्रभुत्व को स्वीकार किया जाए। यहाँ सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न नहीं है, यद्यपि कुछ भेदभाव अवश्य है।

म्यानमार, जो पूर्व में बर्मा के नाम से जाना जाता था, की अपनी सांस्कृतिक जटिलताएँ हैं। बर्मी के अतिरिक्त इसमें अन्य नस्ली समूह हैं, उदाहरणार्थ—शान, अराकानी, कारेन, मॉन, काचीन, चिन एवं वा समूह। उनकी पुष्ट अस्मिताएँ तथा पर्याप्त स्वायत्तताएँ हैं। वास्तव में, उनमें से कुछ केवल बोधात्मक रूप से ही म्यानमार के हिस्से हैं। सांस्कृतिक बहुलतावाद लागू है क्योंकि सरकार प्रभावी रूप से कोई अन्य नीति लागू नहीं कर सकती।

पाकिस्तान अपने पूर्वी भाग से च्युत हो गया, क्योंकि इसने बंगाली भावना का अव-आकलन एवं अपनी सैनिक क्षमताओं का अधि-आकलन किया। इसे अपने बलूच तथा सिंधी समूहों को संतुष्ट रखना है, जिनमें सभी में असंतोष की बुदबुदाहटें सुनाई पड़ रही हैं। इसके अतिरिक्त, मोहाजिर—भारत से गये अप्रवासी—संघर्ष में जुटे हुए हैं। हमें अहमदिया तथा अन्य चन्द लघुतर पंथों को भी नहीं भूलना चाहिए।

फिलीपींस की जनसंख्या भी बहुनस्ली तथा बहुधार्मिक है। वहाँ कैथोलिक बहुसंख्यक हैं पर अल्पसंख्यक मुसलमान भी हैं। इसके अतिरिक्त मोरोस (Moros) एवं अन्य जनजातीय समूह हैं। मोरोस तथा चंद जनजातियाँ मुखर हैं; तथा आक्रामक रूप से बृहत्तर स्वायत्तता की अपनी माँग पर बल दे रही हैं।

श्रीलंका की त्रासदी सर्वविदित है। सिंहली तथा तमिल लोगों के बीच के मतभेद ने सौहार्द्र तथा शांति के लिए प्रत्येक सहमति-जन्य फार्मूले को स्वीकार करने से इंकार कर दिया है। आस्ट्रेलियाई आदिवासियों के विषय में कुछ कहना होगा—ब्रिटिशवासियों द्वारा 200 वर्ष से पहले खोजे गये इस महाद्वीप की जनसंख्या सन् 1788 में 7,50,000 थी। इसे मानव-बस्तीविहीन माना जाता था। गोरों के बसने के कुछ ही वर्षों के अन्दर 6,00,000 आदिवासी काल-कवलित हो गये। उनके साथ पाशविक व्यवहार किया गया। उन्हें सताया गया और अस्तित्वहीन किया गया। उनकी स्त्रियों के साथ बलात्कार किया गया तथा उन्हें दास-श्रमिकों की भाँति कार्य करने के लिए बाध्य किया गया। सभ्यता ने उन्हें मदिरा और व्याधि के उपहार दिये। उन्होंने न्यायिक वादों द्वारा अपने कुछ अधिकारों को प्राप्त किया है, और पश्चात्तापी सरकार विश्व की प्राचीनतम सभ्यता को एक नयी भेंट (a new deal) देने का प्रस्ताव कर रही है।

बहुलतायुक्त समाजों में विलगाव क्यों और किस प्रकार घटित होते हैं? इसके कारणों में प्रथम हैं—बहुसंख्यकों में दर्प एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता का होना। दूसरा कारण है—अल्पसंख्यकों का समान अवसर एवं संसाधनों से वंचित होना; कम-से-कम वे वंचना का अनुभव करते हैं। तीसरा कारण है—जब समस्या सामने आती है तो तदनुभूति या कोई रचनात्मक संवाद की स्थिति नहीं बन पाती। चौथा—प्राचीन पूर्वाग्रहों को राजनीतिक लाभों के लिए पुनर्जीवित किया जाता है। अतीत की भूलों का परिमार्जन करने के लिए अधपकी परियोजनाएँ लागू की जाती हैं, और अंतिम है—कुछ नस्ली आंदोलनों को बाहरी देशों द्वारा प्रेरित किया जाता है एवं उन्हें आर्थिक और सैनिक सहायता दी जाती है।

तब, समाधान क्या है? स्पष्टतः प्रभुत्व आधारित ढाँचा इसका समाधान नहीं है। यह कारगर होता नहीं प्रतीत होता। अर्ध-प्रभुत्व—जिसका प्रतिनिधित्व फ्रांस में ब्रेटन्स तथा कोर्सिकन करते हैं, ईरान में बहाइयों का दमन, अल्जीरिया में बरबर भाषा की समस्याओं के प्रति

असंवेदनशीलता—ये सभी पके हुए फोड़े का रूप ले सकती हैं। लगभग 18,000 गैर-सरकारी संस्थाएँ इन स्थितियों को सुधारने में जुटी हैं और उनके हस्तक्षेप का प्रभाव पड़ा है।

निस्संदेह, हम सभी नस्ली दावों को स्वीकार नहीं सकते—6000 राज्य जितनी समस्याओं का समाधान करेंगे उससे ज़्यादा नयी समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी। राजत्व प्रदान करना वहीं समाधानकारक हो सकता है, जहाँ उद्धत तथा असाम्य हितों के संघर्ष मौजूद हों। अतः शिष्ट संवाद की ओर वापस लौटना ही बेहतर होगा। और व्यावहारिक सहचरता के प्रतिदर्शों के विकास के लिए इस तरह से प्रयत्न करना चाहिए कि प्रत्येक स्थिति की विशिष्टताओं के मूल तक पहुँच सकें। केवल यही सांस्कृतिक बहुलतावाद को सफल बना सकता है।

समकालीन विश्व को बहुस्तरीय शासन की आवश्यकता है। वैश्विक समस्याएँ वैश्विक समाधानों की माँग करती हैं। अनेक भू-पर्यावरणीय समस्याओं को मध्यवर्ती क्षेत्रीय अभिकरणों द्वारा सबसे अच्छी तरह हल किया जा सकता है और नस्ली अस्मिताओं को स्वायत्तता दी जा सकती है, ताकि वे निजी और सामुदायिक जीवन के वृहत् सामाजिक कर्म के अंतराल को समेट सकें। यह कल्पना-लोक प्रतीत हो सकता है, किंतु कुछ कल्पना-लोक कारगर भी होते हैं।

केवल शुभ आशयों से ही ऐसे कल्पना-लोक को मूर्त रूप नहीं दिया जा सकता। इसके लिए बड़ी कल्पनाशील एवं सोद्देश्य क्रियाशीलता की आवश्यकता होती है। यह मानव-अभियांत्रिकी की एक भयंकर उपलब्धि लग सकती है, लेकिन यह प्राप्य है। इसे स्वीकारा जा चुका है कि प्रत्येक युद्ध का प्रारंभ मानव-मस्तिष्कों में होता है। अब तो यह स्वीकारा जाना है कि शान्ति और स्थायी संबंधों का आरम्भ भी मानव समुदायों के मस्तिष्कों में ही होता है। यही वह स्थल है जहाँ एक रूपांतरक, वांछनीय और जीवनदायक मानव-भविष्य के लिए संघर्ष करना होगा। इस लक्ष्य की दिशा में, आइये हम विचार एवं कार्यवाही के लिए चंद क्रांतिक क्षेत्रों को चिह्नित करें।

पहला तो यह कि सांस्कृतिक भिन्नताओं के अधिकतम हो जाने की छूट देने में कोई हानि नहीं होगी, जब तक कि हम आर्थिक असमानताओं को न्यूनतम करने एवं समस्त प्रकार के अन्याय के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूपों को नष्ट करने का रचनात्मक प्रयास भी करते हैं।

दूसरा—हमें पहले ही इस बात से आगाह हो जाना चाहिए कि परंपरा को इतिहास का कूड़ा कहकर रद्द नहीं किया जा सकता, न ही धर्म को अवैज्ञानिक सिद्धांतों एवं अंधविश्वासों का पुलिंदा बताकर खारिज किया जा सकता है। दोनों में सृजनात्मक सामर्थ्य है, जिसका दोहन किये जाने की आवश्यकता है। दोनों में यथेष्ट लचीलापन और पलटकर वार करने की सामर्थ्य है। दोनों अस्मिताओं एवं सामूहिक कार्यवाही के लिए प्रेरणा बन सकते हैं। दोनों के रचनात्मक उपयोग हैं।

तीसरा—इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों तथा संस्कृति के वैश्वीकरण की उनकी शक्ति की अवहेलना नहीं की जा सकती है। उन्हें एक दिशाबोध तथा सुसूत्रीकृत उद्देश्यों की आवश्यकता है। क्या हम चाहते हैं कि 'वैश्विक ग्राम' ('global village') रूपविहीन एक भीड़ हो, जो तुच्छ वैयक्तिक तृप्ति में ही लिप्त रहे तथा बृहत्तर मानवीय सरोकारों से उसका कोई वास्ता न

हो? हो सकता है, घटिया प्रति-संस्कृति के असंयमी प्रोत्साहन के साथ एम. टी. वी. तथा ज़ी. टी. वी. जैसे उपक्रम अस्थायी हों, किंतु इसके बावजूद वे इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को परिभाषित कर रहे हैं और इस परिभाषा के स्थायी होने की संभावना है। इन माध्यमों द्वारा परंपरा के प्रक्षेपण के प्रति भी हमें सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि ये बहुत आसानी से रूढ़िबद्ध धारणाओं को जारी रख सकते हैं तथा पूर्वाग्रहों को शक्ति प्रदान कर सकते हैं।

चौथा—शिक्षा एक शक्तिशाली किंतु दुधारा हथियार है। यह मानव-मस्तिष्क को मुक्त कर सकता है, किंतु यह अंधविश्वास एवं पूर्वाग्रह के नये खाँचों का निर्माण भी कर सकता है और मानस को क़ैद कर सकता है। इसे मुक्ति की एक शक्ति के रूप में अवश्य ही उभरना चाहिए। किसी भी समाज का अतीत लिली के सदृश्य धवल नहीं रहा है। सभी विश्व-दृष्टिकोण किसी-न-किसी प्रकार से दोषयुक्त हैं तथा विकार उनमें अंतर्निहित हैं। एक मुक्त मस्तिष्क उन्हें देख सकता है और उनके शोध के लिए कुछ प्रयत्न कर सकता है। यहीं पर शिक्षा की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

पाँचवाँ—हमें संभावित विस्फोटक तनावों और स्फुरों के पूर्वानुमान के लिए स्वयं को प्रशिक्षित करना चाहिए। हमने परिवर्तन की शक्तिशाली प्रवृत्तियों को, बिना इनके विविध परिणामों को नियंत्रित करने की क्षमता का विकास किये हुए ही, उन्मुक्त कर दिया है। अज्ञान का यह क्षेत्र हमें नयी अंतर्दृष्टि के विकास के लिए आमंत्रित करता है। आवश्यकता है अज्ञान के इस क्षेत्र हेतु नयी अंतर्दृष्टि के विकास की।

अंतिम रूप से, उत्तरजीविता की बाध्यकारी अंतःप्रेरणा (imperative) का उपयोग समकालीन कठिन स्थितियों को हल करने और भविष्य के लिए एक योजना को विकसित करने के लिए किया जाना आवश्यक है। गंभीरतर अभिप्रायों, जिनकी संकल्पना विभिन्न संस्कृतियाँ करती हैं, की कीमत पर आधुनिकता को प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। समांगीकृत मानव संस्कृति एक नीरस, उबाऊ विषय हो सकता है, वहीं संस्कृतियों की बहुलता हमें अपनी समस्याओं को विभिन्न कोणों एवं परिप्रेक्ष्यों से देखने के योग्य बनाती है। पथ-प्रदर्शन के लिए हमारे पास वैकल्पिक अंतर्दृष्टि होती है। अतः एक श्रेयस्कर भविष्य एवं दीर्घकाल तक चलने योग्य सामाजिक-व्यवस्था के लिए स्थिरीकृत बहुलतावाद हमें आशा एवं उपयुक्त लक्ष्य प्रदान करता है।

(1993 इंदिरा गांधी मेमोरियल व्याख्यान, एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता, 1994)

इतिहास का बोझ

इतिहास समाज की शक्ति बन सकता है और उसकी सीमा भी। सच्चा इतिहास-बोध कार्य-कारण संबंधों के आधार पर सामाजिक विकास की प्रमुख धाराओं का विश्लेषण कर उसकी रचनात्मक और विघटनकारी प्रवृत्तियों का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। अपनी निष्ठुर तटस्थता के कारण वह परम्पराओं की प्रशस्ति मात्र नहीं होता—संस्कृति के उजले और काले, दोनों पक्षों का संतुलित विवेचन उसका उद्देश्य होता है। एक ओर, यदि हम उसके आलोक में समाज की जीवन-शक्ति के स्रोतों से परिचित होते हैं, तो दूसरी ओर, वह उन प्रभावों की ओर भी इंगित करता है जो सामाजिक जड़ता और उसकी अनुकूलन-शक्तिहीनता के लिए उत्तरदायी होते हैं। विवेकपूर्ण ऐतिहासिक दृष्टि समाज को विकास के स्पष्ट दिशा-संकेत देती है। उसके आग्रह और चेतावनियाँ, दोनों महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसके विपरीत झूठा इतिहास-बोध अतीत का एकांगी चित्र प्रस्तुत करता है। उसका मादक प्रभाव समाज को केवल अपने उज्ज्वल पक्ष देखने देता है। इतिहास के मीठे तथ्य ही इस दृष्टि को स्वीकार होते हैं। कड़वे यथार्थ के प्रति वह उदासीन होता है। इस तरह का इतिहास वैज्ञानिक विश्लेषण के निर्मम तर्कों की अवहेलना कर, नये-नये राष्ट्रीय मिथकों का निर्माण करता है। वर्तमान के सीमित सन्दर्भों में विशिष्ट हितों के लिए यह इतिहास संभवतः उपयोगी हो सकता है, किंतु उसके तात्कालिक लाभ अनेक दूरगामी कुप्रभावों को जन्म देते हैं। सम-सामयिक सांस्कृतिक जड़ता से उद्भूत सामाजिक-हीन-भावना को ऐतिहासिक अहं द्वारा स्थायी रूप से दूर नहीं किया जा सकता। परम्पराओं का एकपक्षीय भव्य प्रस्तुतीकरण इस हीन-भावना का उपचार नहीं, उसका लक्षण मात्र होता है।

सामाजिक जीवन में परंपराएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। उनकी जड़ें इतिहास की गहराइयों में होती हैं और अनेक स्थितियों में उनकी अवहेलना भी नहीं की जा सकती, किंतु अपनी ऐतिहासिकता के कारण ही परंपराएँ पूजनीय नहीं बन जातीं। सम-सामयिक सन्दर्भों में उनके विशिष्ट प्रकार्य ही उनका महत्त्व और मूल्य निर्धारित करते हैं। समाज के बदलते परिवेश और प्रतिमानों से जिन परम्पराओं का सामंजस्य नहीं होता, वे क्रमशः शक्तिहीन होती जाती हैं। उन्हें पुनर्जीवित करने के प्रयत्न सांस्कृतिक विसंगतियों को जन्म देते हैं। समाज जब अपने विकास के नये लक्ष्य और नयी दिशाएँ निर्धारित कर उनकी प्राप्ति के लिए नियोजित प्रयास करता है तो अनेक परंपराओं में परिवर्तन करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। इतिहास के आकर्षण और आधुनिकीकरण की अनिवार्यता के ध्रुवांतों के बीच अनेक समाज दिग्भ्रमित होकर अपने-आपको अनिश्चय की असहाय स्थिति में पाते हैं। परम्परा की ओर उन्मुख अभिजात वर्ग उनके इस अनिश्चय का उपयोग अपने न्यस्त स्वार्थों की साधना में करता है। एक सीमा तक ये प्रयत्न सफल भी होते हैं, परन्तु अन्ततः वे नयी इच्छाओं के विस्फोट को रोकने में समर्थ नहीं होते। आकांक्षाओं के उभरते क्षितिज जब अपने-आपको परंपराओं से अवरुद्ध पाते हैं, तब

वे एक ऐसे आक्रोश के रूप में प्रकट होते हैं, जो अनेक उपयोगी और प्रकार्य-युक्त परंपराओं को भी ध्वस्त कर देते हैं। इतिहास संस्कृति को गरिमा प्रदान कर सकता है, किंतु संस्कृति की वास्तविक शक्ति उसकी अनुकूलन क्षमता में निहित होती है। सम-सामयिक विश्व की चुनौतियों और बदलते परिवेश से संबद्ध समस्याओं का समाधान वह किस प्रकार करती है, इसी पर उसका भवितव्य निर्भर होता है। नये आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक समीकरणों द्वारा जनित सभी समस्याओं का निदान और उपचार इतिहास के पृष्ठों में नहीं मिल सकता। विराट् उपलब्धियों वाली अनेक महान् संस्कृतियाँ इसलिए क्षीण या विनष्ट हो गयीं कि वे अपनी गौरवपूर्ण किन्तु अप्रकार्यवादी परंपराओं से अपने-आपको मुक्त कर नयी समस्याओं के नये समाधान न खोज सकीं। मिस्र और सुमेर, एजटेक और इंका, यूनान और रोम की सभ्यताओं का ह्रास इसी कारण से हुआ।

परिवर्तन और विकास के ध्येय और दिशा के संबंध में भारत आज भी अनिर्णय की स्थिति में है। निःसन्देह हमारी प्राचीन सभ्यता की अनेक उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। उन पर सम्पूर्ण मानव-जाति और विशेषकर भारतीयों को गर्व होना चाहिए। परंतु इस गर्व से ही हमारे समाज के गंभीर प्रश्न हल नहीं किये जा सकते। जिन विशिष्ट स्थितियों ने प्राचीन भारत में विचारात्मक और कलात्मक सर्जना को प्रेरित किया था वे समसामयिक भारत में संभवतः विद्यमान ही नहीं हैं। नये प्रतिमानों और मूल्यों ने उन्हें अनुपयुक्त बना दिया है। आज के समाज में न केवल समस्याओं के आयाम बदले हैं, उन पर विचार करने का ढंग भी बदल गया है। जाति-व्यवस्था किसी समय सावयवी सामाजिक संगठन का सुंदर उदाहरण रही हो, किंतु आज के नये मानवीय मूल्यों को उसमें अंतर्निहित जन्म-जात उच्चता और हीनता की भावना स्वीकार नहीं है। कर्म और नियति के सिद्धांतों का एक उदात्त दार्शनिक पक्ष है, किंतु व्यावहारिक रूप में निष्क्रियता और अकर्मण्यता को पुरस्कृत करने के कारण वे आज की स्थिति में प्रगति-अवरोधक प्रमाणित होते हैं। भारत की बहुचर्चित और बहुप्रशंसित आध्यात्मिकता आज जटिल ग्रंथियों वाला कर्मकाण्ड बनकर रह गयी है। भूखे पेट का अध्यात्मवाद अधिक टिकाऊ नहीं होता। झूठे संतोष के आवरण को चीरकर उभरनेवाला आक्रोश एक ऐसा यथार्थ है जिसकी अवहेलना विनाशक सिद्ध हो सकती है।

भारतीय-सभ्यता का जो आदर्श चित्र हमारे सम्मुख है वह किसी एक युग के यथार्थ पर आधारित नहीं है। उसमें विभिन्न युगों के विभिन्न तत्त्वों का संकलन है। इन तत्त्वों के चयन की पृष्ठभूमि में एक पूर्वाग्रह है, जिसके कारण विशिष्ट कोटि के आदर्शों और व्यवहार-प्रकारों को चुनकर अन्य कोटियों के आदर्शों और व्यवहार-प्रकारों को छोड़ दिया गया है। अधिकांशतः यह चित्र दार्शनिक एवं सांस्कृतिक-सामाजिक स्थापनाओं पर आधारित है, अनुभव-जन्य यथार्थ पर नहीं। भोले विश्वास की भावना से यह मान लिया जाता है कि वास्तविक स्थिति भी यही थी और उसका सनातन रूप पर-सांस्कृतिक प्रभावों के कारण विकृत हुआ। काल-चक्र के सिद्धांत और सनातन-सत्य के आदर्श में सामंजस्य नहीं है, किंतु भारतीय संस्कृति की अपरिवर्तित निरंतरता में बहुतों का अन्धविश्वास है। भारतीय विचारधारा के भौतिकतावादी पक्ष, सामाजिक प्रयोग और परंपरा के प्रति विद्रोह के अनेक उदाहरण इस आदर्श चित्र में प्रतिलक्षित नहीं होते। महानता के उच्च सोपान की गुण-गाथा में हम इतने लीन

हो जाते हैं कि हमें यह विचार करने का समय ही नहीं रहता कि पदच्युत होकर हम अवनति के गर्त में कैसे गिरे? ऐतिहासिक सन्दर्भों में जिन प्रवृत्तियों का कुछ अर्थ था, नये संदर्भों में वे अर्थहीन हो गयी हैं। आज के युग में आर्यों और अनार्यों के युद्ध की कल्पना व्यर्थ है। हिंदू और मुसलमान, दोनों को अब एक समाकलित समाज में ही रहना है, पारस्परिक संघर्ष दोनों के लिए विनाशक प्रमाणित होगा। व्यक्ति, समूह और समाज के पुराने और नये प्रतिमानों में समन्वय अनेक स्थितियों में संभव नहीं होता। अस्पृश्यता इसलिए अवांछित नहीं है कि वेद-कालीन भारत में उसका प्रचलन नहीं था, वरन् वह इसलिए हेय है कि वह समाज के एक अंग को उसके मानवीय अधिकारों से वंचित रखती है।

आधुनिक मानव वर्तमान में जीता है और भविष्य को नियोजित करता है। बार-बार पीछे देखने का रोग उसे आगे बढ़ने से रोकता है। गौरवमय इतिहास की मदिरा उसे क्षणिक और अयथार्थ संतोष दे सकती है, उसकी समस्याओं को हल नहीं कर सकती। आभूषण शरीर के अनुपात में ही शोभा देते हैं। तीन या पाँच हजार वर्षों का इतिहास यदि समाज को हथकड़ी और बेड़ी बनकर जकड़ ले तो उससे मुक्ति पाना ही श्रेयस्कर है। मानवीय विवेक और तर्क-संगतता की कसौटी पर जो परंपराएँ और रूढ़ियाँ अनुपयोगी प्रमाणित हों उनका त्याग आवश्यक है। धर्म-ग्रंथों के प्रमाण, इतिहास के उदाहरण और शंकराचार्यों के अभिमत, विवेक से बढ़कर नहीं हैं। मानव ऐतिहासिक परंपराओं के अनुकरण के लिए नहीं जीता, वह जीकर ऐतिहासिक परंपराएँ बनाता है। सच्चा ऐतिहासिक-बोध समाज को उसके बहु-धारिक विकास की प्रक्रिया से परिचित कराता है, किन्तु उसकी नियति का अंतिम निर्णायक नहीं बनता। मनुष्य ज्ञान और प्रयोग से अपना मार्ग स्वयं बनाता है।

इतिहास समाज की शक्ति बन सकता है और उसकी सीमा भी।

(नंद चतुर्वेदी द्वारा अनूदित;
'बिन्दु', अंक-जनवरी-मार्च, 1970)

लोकसाहित्य और संस्कृति

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि बहुत साल बाद अपनी इच्छा को मैं पूरी कर सका; जिसकी प्रेरणा से मैं रीवा आना चाहता था। देश-काल की अवधारणाएँ लोकसंस्कृति में क्या होती हैं और हमारी आधुनिक संस्कृति में क्या हैं? मैं इतना ज़रूर जानता हूँ कि मध्यप्रदेश से बाहर रहने के बाद मध्यप्रदेश के हर संस्कृति-क्षेत्र के प्रति मैं एक लगाव का अनुभव करता हूँ और लँगड़ाते-लँगड़ाते ही सही, पर पिछले छः महीनों पूर्व मैं रायपुर गया था, इंदौर गया था, अब रीवा आया हूँ और कल या परसों ठेठ बुंदेलखण्ड में भी जाने की इच्छा है।

आपने जो परिसंवाद आयोजित किया, उसकी आज के संदर्भ में बहुत ज़रूरत है। राष्ट्रीय अस्मिता, जातीय अस्मिता, संस्कृति, परंपरा—इन शब्दों का हम बहुत उपयोग और दुरुपयोग कर रहे हैं। यह सच है कि विश्वव्यापी धरातल पर शायद इतनी सांस्कृतिक चेतना, इतनी सजगता पहले कभी नहीं रही क्योंकि इतिहास हमें संस्कृति-सम्पर्क की स्थितियों के बारे में बताता है। दो संस्कृतियाँ मिलती हैं। एक संशय का भाव रहता है। फिर या तो शत्रुता होती है या मित्रता होती है, पर इन संस्कृतियों में आदान-प्रदान भी होता है। यह क्रम चलता रहा है, चल रहा है पर इस युग में संस्कृति का रूप इतना आक्रामक हो गया है और संस्कृति की परंपरा का, जातीय अस्मिता का राजनीतिकरण इतनी तेजी से हुआ है कि कभी-कभी डर होने लगता है कि जहाँ मानव के प्रश्नों के उत्तर खोजने की कोशिश होनी चाहिए वहाँ हम संघर्ष को आमंत्रित कर रहे हैं। आज के संवाद में शायद यह बीज शब्द है। पर संस्कृति के बारे में जब हम बात करते हैं, परंपरा के बारे में बात करते हैं, राष्ट्रीय अस्मिता के बारे में बात करते हैं, तो मुझे दुःख है कि न हमारी दृष्टि ऐतिहासिक होती है, न हम समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं, और यदि परम्परा के बारे में किसी को बोलना हो तो उस भाषण का सारांश यह होता है, कि यह हमारा देश अत्यन्त महान् था और उसके बाद संस्कृत के दो-चार श्लोक सुना दिये जाते हैं, और बात खत्म हो जाती है। हम समझते हैं कि देश कि अस्मिता, इसकी संस्कृति, इसकी परम्परा को सूत्र रूप में हमने वर्णित कर दिया। परम्परा उलझी हुई चीज होती है। संस्कृति की संरचना बहुत जटिल होती है और जब हम इन पर विचार करते हैं, देश की वर्तमान समस्याओं को उनसे जोड़कर, तो अनेक प्रश्न हमारे सामने उभरते हैं। कभी दुःख होता है, कि एक मंत्र देश को दिया जाता है—'जय श्रीराम' और अपेक्षा की जाती है कि उससे देश की सब समस्याएँ हल हो जायेंगी। कहीं द्रविड़-अस्मिता की बात आती है, उसे तमिल भाषा से जोड़ दिया जाता है और अपने स्वतंत्र सांस्कृतिक व्यक्तित्व और स्वायत्तता की बात लोग करने लगते हैं। यदि इसी तरह द्रविड़ भाषा और संस्कृति के आधार पर हमें लोगों को एक करना है, तो जब मैं कहता हूँ कि द्रविड़-संस्कृति के पुरोधाओं को पाकिस्तान के कुछ हिस्से पर भी कब्ज़ा करना पड़ेगा क्योंकि कराँची से 18 मील दूर जो भाषा बोली जाती है, वह द्रविड़ मूल की है और

बलूचिस्तान में इन द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव है, तो लोग कुछ चौंकते हैं। आदिवासी-अस्मिताओं की बात है। वहाँ ज़रूर प्रश्न होता है कि ये हमारे अंग हैं पर हर अंग की कितनी स्वायत्तता है।

पिछले साल मैं उस विश्वविद्यालय में गया था जिसने मुझे जीवन को समझने की क्षमता दी और जिन लोगों के बीच में रहकर– आदमी क्या होता है और कैसा होना चाहिए-यह सीखा। उस विश्वविद्यालय में कोई बड़ी इमारतें नहीं थीं, उस विश्वविद्यालय में कोई कुलपति नहीं था, उस विश्वविद्यालय में लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति पर कभी परिसंवाद आयोजित नहीं किये जाते। यह जनजाति छत्तीसगढ़ की है। बारह-चौदह हजार लोग। पचास साल के बाद उनके पास गया था और बहुत खुशी हुई कि जातीय स्मृतियों में एक छोटा-सा स्थान मेरा भी है। इसके पहले रंजन जी जानते हैं कि एक बार आदिवासियों को भोपाल में बुलाया गया था, तो मेरी जनजाति के, कमार जनजाति के जो लोग थे। उनके छः-आठ बच्चे-बच्चियाँ मेरे साथ घर पर ही ठहरे। पहले उन्हें भी संकोच था, मुझे भी थोड़ा-सा संकोच था कि जिस पीढ़ी को मैं जानता हूँ उसके बाद की यह तीसरी पीढ़ी है, पर दिल जहाँ साफ हो, हृदय में थोड़ा-सा प्यार हो, सम्बन्ध बन जाते हैं। दो-ढाई दिन वे लोग रहे। सारे मकान में घूम-घूमकर जहाँ भी फ्लश मिला उसका पानी सींचते थे और बच्चे हँसते थे या उन्हें तरुण-तरुणियाँ कह लीजिए। मैंने चाहा कि मैं उन्हें आधुनिक सभ्यता की कुछ फिल्में वी. सी. आर. पर दिखाऊँ। वी. सी. आर. की फिल्म देखते थे, पाँच मिनट बाद ऊब जाते थे। उन्हें अच्छा नहीं लगता था और जब वी.सी.आर, फास्ट-फारवर्ड पर मैं दबाता था तो जो चूँ-चूँ-चूँ-चूँ आवाज़ होती थी, उस आवाज़ से वे बहुत खिलखिलाते थे और छत्तीसगढ़ी में मुझसे कहते थे, बबा इसको फिर चला दो यह अच्छा प्रोग्राम है, तो मैं फिर फास्ट-फारवर्ड करता था। यह उदाहरण मैं इसलिए दे रहा हूँ कि इन संस्कृतियों का सह-अस्तित्व हमारे भारतीय जीवन में है और यदि हम अपने सामाजिक यथार्थ को समझना चाहते हैं तो हमें इन अंगों को समझना जरूरी है। और इन अंगों के बीच जो सम्बन्ध हैं, उन सम्बन्धों को समझना भी बहुत जरूरी है।

आज की चर्चाओं में हम संस्कृति की बात करते हैं, प्रति-संस्कृति की बात करते हैं और अब मैं तो अप-संस्कृति की बात बहुत करने लगा हूँ क्योंकि एक विराट् फलक है। अनेक प्रेरणाओं से हमें ऊर्जा मिलती है—एक सांस्कृतिक ऊष्मा, जिससे हम अपने दायें-बायें, ऊपर-नीचे, सामने-पीछे सबको देख सकते हैं, पर उसके लिए एक दृष्टि चाहिए। और आज जो हो रहा है—'हम आर्य हैं?' पहली बात तो यह है कि आर्य कोई प्रजाति नहीं है। आर्य एक भाषा-वर्ग है। यह सच है कि शायद आर्य भाषा-भाषियों का आक्रमण इस देश पर नहीं हुआ पर हम आर्य-संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। जब इस तरह के दावे हम करते हैं तो हम उस मूल धन को भूल जाते हैं, उस विरासत को भूल जाते हैं, जो इस देश के आदिवासियों ने हमें दी। महादेव की कल्पना शिव के रूप में एक शास्त्रीय संस्कृति की कल्पना है, पर महादेव की कल्पना लोक-जीवन में निश्चित रूप से आदिवासियों से आयी है। चाहे आप बस्तर में हों, चाहे आप तेलंगाना में हों, महादेव का रूप आकर्षक है। इच्छापूर्ति करता है। आशीर्वाद देता है पर तेलंगाना के महादेव के स्वभाव में जो मुझे अच्छी बात मालूम पड़ी, वह यह है कि जितने अकर्मण्य सरकारी मुलाजिम– रिश्वतख़ोर फारेस्ट गार्ड, पुलिसवाले, आबकारी महकमे के लोग

थे, उनके विरुद्ध भगवान् शिव का लघु ताण्डव होता था। दो-चार मोटी-मोटी भद्दी गालियाँ इन ऑफिसर्स को देकर भगवान् महादेव उनको दो लातें लगाते थे। वहाँ नाट्य रूप में ये चीजें प्रस्तुत की जाती हैं। बड़े लोग जायेंगे, तो शायद यह नहीं होगा; पर जो उनके हैं, उनके बीच में तो, जो भड़ास रहती है, जो मन में चीज़े भरी रहती हैं, वे व्यक्त होती ही हैं। अत्याचार सहना तो पड़ता है, पर व्यंग्य में उस अत्याचार को शब्द देना और अपना गुस्सा निकाल लेना—यह भी लोकसंस्कृतियों में होता है।

आज जब हम भारत को देखते हैं, जहाँ एक शास्त्रीय परम्परा है, जिस शास्त्रीय परम्परा ने दर्शन के अनेक स्कूल्स हमें दिये, जिसने एक गौरवशाली साहित्यिक परम्परा दी, और जिसमें एक उदार सर्वग्राहिता का बड़ा भाव था, उस संस्कृति पर, संस्कृति के उस शास्त्रीय पक्ष पर हमें गर्व हो सकता है। अभी एक पुस्तक मैं देख रहा था—हिन्दू होने का मतलब। शायद यहाँ नहीं पहुँची होगी। एक महीने से भी कम हुआ है जब छपी थी। उसमें एक अच्छे पत्रकार राजकिशोर जी का लेख है, और वह एक घोषणा-पत्र है—एक अहिन्दू का। जो पैदा हिन्दू हुआ था, बचपन से जिसके सारे संस्कार हिन्दू-धर्म से हुए, जिसका विवाह हिन्दू-पद्धति से हुआ—आज की स्थिति से विचलित होकर एक घोषणा-पत्र देता है, प्रकाशित करता है अपनी पुस्तक में कि वह हिन्दू क्यों नहीं है? मैं राजकिशोर जी को बुलानेवाला हूँ, मेरे पड़ोस में रहते हैं। मैं उनसे कहनेवाला हूँ कि आप लाख कहो कि मैं हिन्दू नहीं हूँ, कोई माननेवाला नहीं। जब तक कि आप मुसलमान, सिक्ख, ईसाई नहीं हो जाते, तब तक कौन कह सकता है कि आप हिन्दू नहीं हो। मैं अपने-आपको क्या कहूँ? चोटी नहीं, यज्ञोपवीत नहीं, खाद्य-अखाद्य का विशेष स्थितियों में अन्तर नहीं करता—हालाँकि कभी-कभी धर्म-संकट हो जाता है। हांगकांग में एक चीनी मित्र बड़े विद्वान् हैं, परिवार में बड़ी सम्पत्ति है—उद्योगों से। मैं उनका ख़ास मेहमान था। अपने ख़ास मेहमान के लिए, उन्होंने कहा कि देखिए, आपके लिए ख़ास चीज़ मैंने ब्लैक मार्केट से मँगायी है। मैंने कहा कि, आपने नियम अपना क्यों तोड़ा? ब्लैक मार्केट से क्यों मँगाया? तो बोले—भाई, बात यह है कि कुत्ता आसानी से मिलता नहीं और पुलिसवालों को पैसा देना पड़ता है कि एक्सीडेंट में मरे हुए कुत्ते उसी दिन के आ जायें। मैं चौंका। यानी मुझे मालूम है कि मेरे देश के भी कुछ लोग बड़े प्रेम से कुत्ते का गोश्त खाते हैं। उत्तर-पूर्व में, नागाज़ ने जब लार्ड लिनालिथगो का सम्मान किया था तो एक कुत्ते के पेट में चावल, ड्राइफ्रूट्स वग़ैरह डालकर, भूनकर रखा गया था। वह वाइसराय भी, संकट में पड़ गया। जो कि हिन्दुस्तानियों का मज़ाक उड़ा सकते थे कि हम लोग गाय को पवित्र मानते हैं, शाकाहारी हैं, वहाँ था कुत्ता, वहाँ था साँप, वहाँ था मेंढक। झूठ बोलना ठीक नहीं, पर उन चीज़ों का नाम सुनकर मुँह का कुछ स्वाद बदला, पेट में कुछ अजीब-सी गड़बड़ होने लगी और मुझे कहना पड़ा कि मैं अस्वस्थ हूँ। आपके ये अनोखे व्यंजन तो मैं खा नहीं सकूँगा। मेरे लिए कुछ उबाली सब्जियों का प्रबंध हो जाये। पर जब इस देश में हम एक शास्त्रीय संस्कृति के साथ इसे जोड़कर देखते हैं, तो उनकी भी संस्कृति है जिनके लिए केकड़ा खाने की अच्छी चीज़ है, जिनके लिए कुत्ता खाने की चीज है। कुछ साल पहले तक बिहार में भी कुछ ऐसे लोग थे, जो बन्दर का मांस बड़े शौक़ से खाते थे। तो ये दो ध्रुव हैं। इन दो ध्रुवों के बीच सम्बन्ध कौन-सा है? शास्त्रीय परम्परा के बाद असलियत अगर प्रकाश में आती है तो वह हमारी क्षेत्रीय परम्पराओं की है,

और हमारी लोकपरम्पराओं की है जो कि क्षेत्रीय परम्पराओं के एक विशेष अंग होते हैं। इसके साथ-साथ मैं समझता हूँ कि स्वाधीनता आन्दोलन ने एक राष्ट्रीय चेतना, एक राष्ट्रीय परिकल्पना संस्कृति की हमें दी। आधुनिकीकरण के साथ पश्चिम से भी बहुत कुछ इस देश में आता जा रहा है। ये पाँच-छः धाराएँ हैं जिनसे मिलकर इस देश की संस्कृति बनी है और जिसमें अनेक धर्मों का योग है।

मुसलमानों के बारे में बहुत बातें होती हैं। इतिहास तो हमें यह बताता है कि मुसलमान तलवार के ज़ोर से तो पहले इस देश में नहीं आये थे। दक्षिण भारत की तस्वीर देखिए, मलावार का हिस्सा—केरल राज्य का देखिए, तमिलनाडु के दक्षिण में देखिए। यहाँ मुस्लिम व्यापारियों का स्वागत किया गया था, राजा ने अनुदान दिया था कि जिससे उनकी मस्जिद बने, उनकी दूकानों के लिए इमारतें बनायी गयी थीं। और कई सौ साल तक दक्षिण भारत में हिन्दू और मुसलमान एक साथ रहे, संघर्ष की कोई बात नहीं रही। उत्तर भारत को यदि लें, तो सिन्ध, जो अब पाकिस्तान में है या पंजाब, राजस्थान का कुछ भाग, यहाँ भी मुसलमान तलवार के ज़ोर से नहीं आये थे। आये थे कुछ सीखने, शायद कुछ सिखाने। बहुत कुछ इस देश से, यहाँ की उस समय की संस्कृति से उन्होंने लिया। और देना चाहते थे या नहीं; पर सूफ़ी-परम्परा जिसकी एक ईरानी शाखा है, और जिसकी एक भारतीय शाखा है—उसने लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। बांग्लादेश से लेकर गुजरात, सिन्ध तक सूफ़ी सन्तों की हज़ारों मज़ारें हैं जिन पर जानेवालों में मुसलमानों की संख्या कम और ग़ैर-मुसलमानों की यानी हिन्दुओं की संख्या विशेष रूप से ज़्यादा है। अजमेर शरीफ़ में आज भी आप देखिए, तो दो बड़े कड़ाहे हैं—एक में जो प्रसाद का पुलाव बनता है वह मांसाहारी होता है पर उससे भी बड़े कड़ाह में जो पुलाव बनता है वह शाकाहारी बनता है। क्योंकि ग़रीब नवाज़ के पास अपनी प्रार्थनाएँ और आकांक्षा लेकर जानेवालों में गैर-मुसलमानों की संख्या भी बहुत बड़ी है। पर उसी तरह से इस्लाम को जब एक ख़ास अरब रूप में आज प्रस्तुत किया जाता है—जम्मू-कश्मीर में मैं रहा हूँ—तो दो-चार भाई अरब देशों में रहे, वहाँ से आये और वहाँ के तरीक़े के कपड़े पहनने लगे और थोड़ी कश्मीरी, थोड़ी उर्दू और थोड़ी गलत-सलत अरबी—इसमें वे इस्लाम के बारे में बताने लगे तो उस समय तक कश्मीर में लोग हँसते थे कि भाई यह कश्मीर है, तुम कहाँ की बातें कर रहे हो। जब भी इस्लाम की चर्चा होती है, तो उन देशों की बात होती है, जिन देशों से हमारे देश के लोगों का दूर-दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा।

इस्लाम जहाँ भी गया है, उस देश की भूमि और समाज का रंग लिया है। नाइजीरिया में मुसलमान हैं, उनकी अफ्रीकी संस्कृति है, उनकी मूल आदिवासी संस्कृति के बहुत से तत्त्व वहाँ दिखाई पड़ते हैं। सेनेगल में बहुत ज़्यादा मुसलमान हैं; पर अरब तो नहीं हैं, सीरिया और इराक के नहीं हैं। उनकी संस्कृति, उनका भोजन, उनके अनेक विश्वास हैं पर संस्कृति का रूप नहीं बदला। या इण्डोनेशिया में क्रम्बडन का मन्दिर, जहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीनों की मूर्तियाँ हैं और जिसके प्रांगण में शायद दुनिया का सबसे शरारती हनुमान उत्कीर्ण किया गया है—जिसके चेहरे पर शरारत है, जिसकी पूँछ पर शरारत है; पर उस प्रांगण में जो नृत्य होते हैं वह रामकथा के होते हैं, वह महाभारत के नृत्य होते हैं और बाली को छोड़कर नृत्य करनेवाले नर्तक और नर्तकियाँ, सब-के-सब मुसलमान रहते हैं। मेरे एक बहुत अच्छे दोस्त थे—प्रोफ़ेसर

सुजात्मोको, यूनाइटेड नेशंस यूनिवर्सिटी के रेक्टर थे। उनके घर पर एक पाकिस्तानी दोस्त जकार्ता में शामिल हुए—दावत में शिरक़त करने के लिए गये तो पाकिस्तानी ने पूछा, कि भाई आप मुसलमान हैं तो यह सब क्यों? इस्लाम में कृष्ण, राधा और युधिष्ठिर—यह सब कैसे आ रहे हैं? उन्होंने कहा—देखिए इस्लाम हमारा मज़हब है, लेकिन यह हमारी कल्चर है, यह हमारी संस्कृति है। इस्लाम के बारे में आपको बात करनी हो तो आप बात कीजिए पर हमारे कल्चर के बारे में कुछ मत कहिए। आप विश्वास मानिए, जितनी सुन्दर रामकथा की प्रस्तुति मैंने इण्डोनेशिया में देखी है या थाईलैंड में देखी है, उतनी कहीं नहीं। भारत में तो हमने इसे एक अजीब-सी चीज़ बना दिया है। शिमला से मैं दिल्ली आ रहा था। हरियाणा का एक छोटा-सा शहर है—शाहाबाद। वहाँ रामलीला हो रही थी। मेरे बेटे ने कभी रामलीला नहीं देखी थी। उस समय प्रसंग चल रहा था—लक्ष्मण और सूर्पणखा का संवाद। जब सूर्पणखा ने गाना शुरू किया—'अँखिया मिला के जिया भरमा के चले नहीं जाना' तो मैंने कहा कि यह एक नयी-सी संस्कृति—आस्था और मनोरंजन का मिश्रण बड़ा अजीब-सा होता है। यह मध्यप्रदेश में तो नहीं होता पर दिल्ली, पंजाब में विशाल भगवती जागरण होता है। उसमें कुछ लोग मिल जाते हैं और चन्दा करते हैं। अब पूजा तो देवी की होती है पर उसमें एक बुलाये जाते हैं—नरेन्द्र चंचल, जो बड़े व्यस्त आदमी हैं, बहुत पैसा लेते हैं और दो या तीन भजन गाकर चले जाते हैं। उसके बाद कोई पार्टी आती है। उस पार्टी में एक गायक रहता है, दो-तीन गायिकाएँ रहती हैं। आस्था और भक्ति के नाम पर बड़ी भोंडी चीज़ें सुनाने के बाद जो भी कार्यक्रम होता है उसे मैं एक विकृति का कार्यक्रम समझता हूँ। पर दिल्ली में एक प्रतिस्पर्धा-सी चली रहती है कि किसका विशाल भगवती-जागरण, ग्रैण्ड सक्सेस हो। आज की स्थिति में एक ओर हम शास्त्रीय परम्पराओं की ओर जाते हैं, दूसरी ओर भूली-बिसरी लोक-परम्पराओं, जन-परम्पराओं की ओर जाते हैं। साथ में कुछ पश्चिम का प्रभाव है।

हमारी राष्ट्रीयता ने एक प्रतिरूप हमें दिया—भारतीय संस्कृति का। इन सबको हम मिलाते हैं और उसके साथ जो प्रभाव हमारी संस्कृति पर बाहर से पड़ रहे हैं उनका भी मूल्यांकन करते हैं, तो हमें एक बड़ी विचित्र-सी स्थिति दिखाई पड़ती है। अगर आप पूछें मुझसे कि उच्च वर्ग और शिक्षित वर्ग की संस्कृति क्या है? तो मैं कहूँगा कि वह एक त्रिशंकु-संस्कृति है। हम इंग्लैण्ड में जब रहते हैं तब हमें भारतीयता की याद आती है। भारत में जब हम रहते हैं तब हमें पश्चिम की याद आती है और वहाँ बाहर हम कार्बन कॉपी होते हैं भारतीय के, और भारत में आकर हम कार्बन-कॉपी बन जाते हैं किसी योरोपीय या अमरीकी के। एक विचित्र-सी खलबली इस क्षेत्र में है और अब तो चिन्ता हो रही है। इधर जो हिंसा का रूप देखा है और राजनीतिज्ञों पर जो टिप्पणी हो रही है—वह सब बड़ी भयावह-सी स्थिति है। एक ऐसा अयथार्थ हमारे जीवन में लाया जा रहा है। मेरे घर में तमिलनाडु की एक लड़की काम करती है। उसे बड़ा शौक़ था टी. वी. देखने का। बटन दबाई, एम. टी. वी. आया। उसे देखकर अजीब-सा अनुभव हुआ। आजकल लोगों में चेतना बहुत जागी है इसलिए घरों में सजावट की चीज़ों में अधिकता आयी है। बस्तर में भी यह स्थिति हो गयी है। आजकल राष्ट्रीयता, अस्मिता जैसे विषयों में बड़ी संगोष्ठियाँ आयोजित होती हैं—एक नशे की तरह। क्रमशः अस्मिता का यह जोश बढ़ता जाता है और दिल्ली के ड्राइंगरूम में जो बहसें होती हैं,

उसमें जो प्रतीक आते हैं मिथकों से, वे अधिकांश ग्रीक के होते हैं। बहसों में वे हवाई घोड़े दौड़ाते हैं। बस्तर में प्लास्टिक की कंघियाँ पहुँच गयीं—अब किसी कलाकार के लिए प्रेम की परिभाषाएँ तो नहीं बदली जा सकतीं। एक युवक अपने हाथों से लकड़ी को कुरेदकर, कंघी बनाकर अपनी किसी प्रेमिका को देता है, तो उसका महत्त्व ही कुछ और होता है। बहरहाल, हम आदमी को सर्कस के जानवर की तरह दिखाने के आदी होते जा रहे हैं। मुन्ना भालू के साथ अन्य बहुत से कलाकार विदेश-यात्रा पर गये थे। संसद् में इसकी चर्चा भी हुई थी। अगर नेल पॉलिश आदिवासी लगाने लगें तो कोई बात नहीं, आदमी, आदमी से सीखता है पर इस पर बहसें होंगी।

हमारे सतनामी भाइयों का लोकप्रिय नृत्य है—पंथी नृत्य। पिछली बार भिलाई में मैंने इस नृत्य को देखा, तो मुझे लगा, कि इस पर भाँगड़ा की कुछ छाप है। उनसे पूछा, और चूँकि मैं छत्तीसगढ़ी में ही बात उनसे कर रहा था और उन्हें लगा कि यह आदमी ठीक है इसे बताया जा सकता है, तो उसने बताया कि हाँ, हम गये थे दिल्ली में अपने नृत्य का प्रदर्शन करने। वहाँ भाँगड़ा भी देखा तो हमने सोचा कि भाँगड़ा का यह तत्त्व हम अपने नृत्य में ले आयें, तो कोई बुरी बात नहीं होगी। इस संक्रमण के युग की जो भी समस्याएँ आती हैं, प्रश्न आते हैं, हम भूलते हैं। इधर मैंने साधुओं के भाषण भी सुने, साध्वियों के भी भाषण सुने। एक साध्वी हैं, जो संस्कृति के नाम पर व्याप्त भावना, जो भारतीय संस्कृति की है, उसके बारे में बात करती हैं तो मुझे यह लगा कि अगर हम पाँच साल तक संस्कृति के बारे में बात करना बन्द कर दें और जिन्हें संस्कृति के बारे में व्याख्यान देना ही है वे पाँच साल तक गुरु-शिष्य परम्परा में बैठकर थोड़ा-सा इतिहास सीख लें, थोड़ा-सा समाजशास्त्र सीख लें तो अच्छा ही होगा।

मैं मौलवियों को भी बैठा लूँगा वहाँ, क्योंकि इन्हें भी मालूम नहीं है कि जब पहले-पहल इस्लाम फैला था इस देश में, तो जो कैटेगरीज़ विचारों की थीं, वे देश की संस्कृति से ली गयी थीं। दक्षिण में जो ईसाइयों में जाना चाहते थे उन्होंने साधुओं के गेरुए वस्त्र धारण किये। संत गुलाबसिंह बने और देश की देशज अवधारणाओं को लेकर उन्होंने ईसा मसीह के धर्म या सिद्धान्त को या समाज-नीति को समझाने की कोशिश की। मेरे कहने का अभिप्राय है कि इस देश की पाँच हजार साल की संस्कृति में इतना उलझाव है, इतनी क्षेत्रीय विविधता है, उसमें भी जातियों की विविधता है। हर जाति की अपनी संस्कृति है। सूक्ष्म परम्पराएँ आदिवासियों की उनकी अस्मिता के बारे में जितनी ज्यादा हैं उतनी ही चर्चित हैं, जितने श्री आडवानी जी हो सकते हैं या हिन्दुत्व के प्रखर प्रवक्ताओं में कोई भी हो सकता है।

अगर सब के बीच तुलानात्मक दृष्टि से स्थायित्व कहीं रहा है, तो वह हमारी लोक-संस्कृतियों में रहा है और लोकसंस्कृतियों ने हिन्दू और मुसलमान का भी बहुत फ़रक़ नहीं किया। जाति-जाति का अन्तर है; पर मौक़े ऐसे होते हैं कि सब मिलते हैं—चाहे वह गाँव की देवी की पूजा हो, उत्सव हो। मैं समझता हूँ कि एक निरन्तरता हमारी परम्परा की रही है तो वह इन लोकसंस्कृतियों के कारण रही है। लोकसंस्कृति जीवाश्म नहीं है। इन लोकसंस्कृतियों में क्रमशः परिवर्तन भी होता रहा है और परिवर्तन के इस पक्ष को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है। मध्यप्रदेश में रामकथा की छत्तीसगढ़ी परम्परा पर काम करने की आवश्यकता है किन्तु अब तो इसका प्रकाशन बड़ा विवादास्पद हो जायेगा, क्योंकि वहाँ की परम्परा में राम नायक नहीं है

बल्कि लक्ष्मण हैं, जो योगी हैं। सीता कहती हैं कि यह कैसा योगी देवर मुझे मिल गया, जो केवल मेरे पैरों को ही देखता रहता है, मेरे सुन्दर मुख और आकर्षक शरीर की ओर नज़र भी नहीं उठाता, किसी प्रकार का हँसी-मज़ाक भी नहीं करता। भगवान् न करे, अगर राम को कुछ हो गया तो यह मेरे साथ शादी कैसे करेगा? छत्तीसगढ़ में ऐसी शादी हो जाती है और वहाँ की परम्परा के अनुसार लोककथाएँ प्रचिलत हैं। देवर-भाभी की शादी हिन्दुस्तान के बहुत से हिस्सों में होती है। पण्डवानी परम्परा पर भी काम होना चाहिए था, नहीं हुआ।

अब तो सारी दुनिया में मौखिक परम्परा को जानने और उसके ऊपर काम करने की शुरुआत हो गयी है। प्राचीन काल में तो श्रुति परम्परा ही रही है। मौखिक परम्परा के भी क्षेत्रीय रूप हैं और मौखिक परम्परा के अनेक महाकाव्य बने। मैं समझता हूँ कि आप देश के बहुत से लोगों में हीन भाव पैदा कर रहे हैं—यह कह कर कि उसे पढ़ना-लिखना आ गया। आज भी यहाँ इस संगोष्ठी में जो कुछ हो रहा है, मौखिक परम्परा में ही है। विचारों की प्रक्रिया को ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि जहाँ लिखित संस्कृति आयी, वहाँ तार्किकता उत्पन्न हो जाती है कि इसके बाद यह लिखना चाहिए, ऐसे लिखना चाहिए, वैसे लिखना चाहिए। लिपिबद्धता के बहुत लाभ हैं, पर उसकी विचार-संस्कृति दूसरी है और मौखिक विचार-संस्कृति दूसरी है। मनोवैज्ञानिकों ने लोककथाओं में विचार-प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इस पर प्रभाव तो लिपि की परम्परा का पड़ता है। लिखित परम्परा में भी मौखिक परम्परा का उपयोग आप छोड़ नहीं सकते। इसीलिए तो पहले कहा जाता था कि—आपने एक अवध का गीत दे दिया और आपने कहा कि यह श्रेष्ठ कविता है। लेकिन मैं समझता हूँ कि कविता की तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें सूक्ष्म विचार, रूप-रंग जो आते हैं—वह उस भाग का व्यक्तित्व होता है। फिर हम दो कवियों की तुलना कैसे करें? छात्रों को भी ऐसे प्रश्नों का उत्तर लिखने में कठिनाई होती होगी। लोकसाहित्य में ज्ञान है, मनोविज्ञान है, समाजविज्ञान है, इतिहास है—इसे हमें समझकर चलना चाहिए।

इतिहास का प्रारम्भ विचार और परम्परा से नहीं होता। जापान में रामकथा है—कहानियों के रूप में, पर वहाँ जापानियों का जो दर्शन है उसके समर्थन में रामकथा का उपयोग किया गया है। मलेशिया में रामकथा सुनिए। वहाँ इस्लाम का ज़ोर है। वहाँ जब राम वनवास को गये थे, उनका मार्गदर्शक था एक दाढ़ी वाला मौलवी। दशरथ जातक का एक प्रसंग सहमत वालों ने ले लिया और उस पर इतना तूफ़ान देश में हुआ! थाईलैण्ड में हनुमानजी का जो रूप है यदि उसकी चर्चा हम यहाँ पर करें तो हिन्दुत्ववादी लोग थाईलैण्ड पर हमला बोल देंगे। थाईलैण्ड के उत्तरी भाग की संस्कृति में अपने मूल्यों की स्थापना के लिए वहाँ के निवासियों ने रामकथा को लिया है। एक झूठी आध्यात्मिकता को अपना लेना ठीक नहीं। हमें मानव-समूह की विविधता को देखना चाहिए।

जहाँ तक भारत की बात है, उसकी लोकसंस्कृति में विविधता है और उस विविधता में एकता के जो थोड़े-से स्रोत हैं, जो सभ्यता सूत्रों से जुड़ी हुई हमारी क्षेत्रीय लोकसंस्कृतियाँ हमारी हैं—वे हमें प्रेरित करती हैं कि हम अपनी संस्कृति को, अपनी परम्परा को एक-दूसरी दृष्टि से भी देखें, उस दृष्टि से नहीं जो पोलिटिकल प्लेटफॉर्म से कई बार हमारे सामने प्रस्तुत की गयी है। हमारी संस्कृति और परम्परा की जड़ें एक हैं—शाखाएँ अलग-अलग हैं।

आज का हमारा सांस्कृतिक यथार्थ ऐसा है कि हमें परम्पराओं को, संस्कृतियों को नये रूप में देखना चाहिए और इसलिए मैं तो यह मानता हूँ कि सभ्यता के जो सूत्र हैं, इतिहास की जो घटनाएँ हैं—जो पहले जोड़ती थीं पर शायद अब अलग करती हैं—लेकिन अनेक स्रोतों से संस्कृतियाँ जन्मी हैं और एक-दूसरे से मिली हैं, उनकी अपनी स्वायत्तता का, उनकी अपनी अस्मिता का भी हमें ध्यान रखना चाहिए। सभ्यता के इन सूत्रों को आगे बढ़ाकर बेहतर ढंग का राष्ट्रीय एकीकरण हो सके—पर किसी पर दबाव न डालें, ज़ोर-ज़बरदस्ती न करें और भविष्य की चुनौतियों को देखते हुए जो समाज को एकीकृत कर सके—उसकी प्रेरणा हमें लोकसंस्कृतियों से मिल सकेगी। लोकसंस्कृतियों में लोकमंगल की भावना बहुत गहरी है। हमारी आज की राजनीति ऐसी भावनाओं को विकृत कर रही है। भारत को भारत के रूप में रखने के लिए यह ज़रूरी है कि हम अपनी सांस्कृतिक विविधता का सम्मान करें, हम आदिवासियों को जंगली, असभ्य न समझें, लोकसंस्कृतियों को प्रदर्शन की वस्तु न बनायें और अपनी दृष्टि को बदलें। संस्कृति के बारे में हम जब भी सोचें, तो यह ज़रूर सोचें की संस्कृति जड़ नहीं है, गतिहीन नहीं है, अपरिवर्तनशील नहीं है। इस संस्कृति में असहमति, विरोध, विद्रोह की परम्पराएँ रही हैं जोकि हमारे लोकसाहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं और यदि हमें कल से आज और आज से आनेवाले कल की ओर जाना है तो हम अपनी सांस्कृतिक विरासत से बहुत कुछ लेंगे। पर जो मुख्य तत्त्व हमें ग्रहण करना है, वह यह है कि, यदि बात तर्कसंगत नहीं है तो आज की स्थिति में स्वीकार्य नहीं है। किसी तथ्य या प्रथा या रीति-रिवाज या कर्मकाण्ड के विरोध के लिए जब तक जनमानस तैयार नहीं होगा तब तक इस देश की समस्याओं का समाधान नहीं होगा। लोकगीतों में ऐतिहासिक दृष्टि को समझने का, जीवन-दर्शन को समझने का, संस्कृति को समझने का बहुत कुछ है। बहुत बार आज की कहानियों की अपेक्षा लोककथाएँ पढ़ना मुझे ज़्यादा अच्छा लगता है।

(उद्घाटन भाषण; लोकसाहित्य और संस्कृति सम्मेलन अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवां)

लोक-कलाओं का भविष्य

समसामयिक समाज में दो विपरीत प्रवृत्तियाँ लक्षित हो रही हैं। एक ओर पृथ्वी की दूरियाँ सिकुड़ रही हैं और मानवजाति 'एक ग्रह, एक मानवता' के आदर्श की ओर बढ़ती दिखायी दे रही है; वेश-भूषा, खान-पान, मनोरंजन आदि के क्षेत्रों में परंपरागत सीमाएँ टूट रही हैं और एक नया रुचि-वैविध्य लोकप्रिय होता जा रहा है, जो 'अपने' और 'पराये' के बारे में अधिक चिंतित नहीं है, कलाएँ इस पारस्परिक आदान-प्रदान से अछूती नहीं रही हैं, उनमें पर-संस्कृति-प्रभाव व्यापक रूप से देखे जा सकते हैं। दूसरी ओर, 'जड़ों की खोज' या 'बुनियाद की तलाश' का उपक्रम बड़े शक्तिशाली ढंग से उभरा है। यह प्रवृत्ति गहराई में जाकर संस्कृति की जड़ों को खोजने तक ही सीमित नहीं रही है, उसका आग्रह समूहों की विशिष्ट परंपराओं और सांस्कृतिक अस्मिता की वापसी की ओर भी है। इस तरह जहाँ एक ओर एकीकृत विश्व-संस्कृति पुष्ट होती दिखाई देती है, तो दूसरी ओर सांस्कृतिक व्यक्तित्व का प्रश्न विभिन्न मानव समुदायों के बीच विभाजन की नयी रेखाएँ खींचता है। पहली प्रवृत्ति विश्वव्यापी प्रबुद्ध तथा बौद्धिक संस्कृति और दूसरी लोकप्रिय (पापुलर) या जन (मास) संस्कृति को जन्म देती और संवर्धित करती है, तो दूसरी प्रवृत्ति, भूली-बिसरी और विशृंखलित तथा क्षीण होती लोक परंपराओं को पुनर्जीवित करने का आश्वासन देती है। इन प्रवृत्तियों के टकराव के दूरगामी प्रभाव क्या होंगे, यह कह सकना कठिन है। आनेवाले कल का स्वरूप बहुत कुछ आज अपनाई गयी सांस्कृतिक नीतियों और सांस्कृतिक नियोजन की व्यूह-रचना पर निर्भर होगा।

कलाओं के उद्भव और विकास का पहला चरण लोकभावना और सामुदायिक चेतना से अनुप्राणित रहा। कला के सृजन और उपभोग, दोनों में सामुदायिक-चेतना स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती थी। समूह मिल-जुलकर गाता और नाचता था। हज़ारों वर्षों तक सीमित संख्या के अभिप्रायों (मोटिव्स) वाली लोक-कथाओं ने बच्चों की कई पीढ़ियों का मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन किया। ये लोककथाएँ पूरे समुदाय की होती थीं, उन पर किसी परिवार अथवा समूह-विशेष का एकाधिकार नहीं होता था। समुदाय के मिथक, उसका इतिहास और दर्शन होते थे, लोकजीवन-दृष्टि इनमें अभिव्यक्ति पाती थी। भित्तिचित्र और साधारण आकृतियाँ समुदाय का कोई भी सदस्य प्रायः समान योग्यता से बना लेता था। सामान्य जीवन में उपयोग में आनेवाली वस्तुओं को भी कलात्मक ढंग से सजाया-सँवारा जाता था। कलाकार और श्रोता अथवा दर्शक का अंतर स्पष्ट नहीं था, दोनों की भूमिकाएँ मिली-जुली होती थीं। एक ही व्यक्ति कभी गायक या नर्तक होता था, तो कभी वह दर्शक बन जाता था। गायन, नृत्य, कहानी कहने अथवा चित्रांकन की क्षमताओं में अंतर अवश्य होता था, किंतु इन क्षेत्रों में विशेषज्ञता विकसित नहीं हुई थी। विभिन्न कला-रूपों के संबंध में समूह के प्रत्येक व्यक्ति को जानकारी होती थी और वे थोड़े-बहुत अंतर से उनमें सहभागी बन सकते

थे। सामाजिक संरचना में जटिलता आने के बाद कलाओं में भी विशेषीकरण आरंभ हुआ, किंतु लंबे समय तक उनमें सामूहिकता के तत्त्व बने रहे और थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी बने हुए हैं।

लोककलाएँ जीवन के अंग-प्रत्यंग से जुड़ी रहती थीं। कठिन शारीरिक श्रम के काम संगीत से हलके किये जाते थे। पेड़ काटना, नाव चलाना, बोझ खींचना, चक्की पीसना आदि किसी-न-किसी प्रकार के संगीत से जुड़े होते थे। हर ऋतु के अपने गीत और नृत्य होते थे। जीवन के संक्रमण-काल—जन्म, विवाह, मृत्यु—नृत्य और गायन के अवसर तो होते ही थे, उनसे चित्रांकन, मृद्-कलाएँ, काष्ठ-शिल्प आदि भी संबद्ध होते थे। आर्थिक क्रियाओं में भी किसी-न-किसी तरह जाने-अनजाने कलाएँ प्रवेश पा जाती थीं। धर्म और जादू-टोने से भी कलाएँ असंपृक्त नहीं होती थीं। सच तो यह है कि धार्मिक क्रियाओं और लोककलाओं में सावयवी संबंध था। यह कहना शायद उचित न हो कि शुद्ध सौंदर्यवादी दृष्टि से कलात्मक सृजन होता ही नहीं था, परंतु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कलाओं का उपयोगवादी पक्ष किसी भी दृष्टि से गौण नहीं था। आद्यकला-सृष्टियों के कई रूपों के संबंध में आज हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं, उनके व्यवहारवादी पक्षों पर प्रामाणिक टिप्पणी करना संभव नहीं है। अल्जीरियाई-सहारा मरुस्थल के मध्य आश्चर्यजनक चित्रकला के नमूने अवशिष्ट हैं, जो कठिन यात्रा के बावजूद हर वर्ष हजारों दर्शकों को अपनी ओर खींचते हैं। आदिमानव ने इन चित्रों की रचना क्यों की? आज इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। ये चित्र सौंदर्य-बोध को अभिव्यक्त तो करते ही हैं, पर शायद उनके साथ कोई धार्मिक या आर्थिक कार्य भी जुड़े हों—यही प्रश्न भोपाल के समीप भीमबेटका के चित्रों को देखकर उठता है। आदिमानव ने यूरोप में 'विलेनडार्फ की वीनस' की प्रसिद्ध मूर्ति क्यों गढ़ी? सिंधु-सभ्यता से जुड़ी चित्रकला और मूर्ति-कला के पीछे मूल भावना क्या थी? ये प्रश्न ऐसे हैं, जिनका पूर्णतः विश्वसनीय उत्तर शायद हमें कभी न मिले। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनमें सौंदर्य-दृष्टि तो थी ही, उनका कोई व्यवहारवादी पक्ष भी अवश्य रहा होगा। दैनिक जीवन में उपयोगी कितनी ही वस्तुओं का अलंकरण किया जाता था। परिधान—चाहे वे घास या पत्तों के हों, वल्कल के हों, या हथकरघे से बने कपास या रेशम के हों—आकर्षक डिजाइन और आकृतियों से अलंकृत होते थे। धनुष-बाण, कुल्हाड़ी, हारपून, बूमरेंग आदि अस्त्र-शस्त्रों में भी नक्काशी और पच्चीकारी की जाती थी। मिट्टी, लकड़ी, पत्थर या धातुओं के बर्तन सजाये-संवारे जाते थे। प्रशांत महासागर के द्वीपों में नौकाओं को कलात्मक ढंग से बनाया जाता था, मूर्तियों और भाँति-भाँति के आकर्षक डिजाइन उनके अविभाज्य अंग होते थे। फिर उन्हें कौड़ियों, सीपियों और शंखों से भी सजाया जाता था। धर्म-भावना ने काष्ठ, प्रस्तर और धातु-शिल्प को भी प्रेरित किया। अमरीकी इंडियंस के टोटम स्तंभ, सालोमन द्वीप की विशाल और विकराल मूर्तियाँ, अफ्रीका के मुखौटे और अनेक अन्य शिल्प-रूप धर्म-भावना के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। कला और जीवन का अंतरावलंबन लोककलाओं के आरंभिक रूपों की एक उल्लेखनीय विशेषता है। थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ यह विशेषता आज भी लोककलाओं में बनी हुई है। लोककलाकार ने अपनी कला को जीवन से काटकर देखने का प्रयत्न नहीं किया, उसकी कला जीवन से जुड़ी कला है। ज़िंदगी

के बदलते आयाम इस दृष्टि में परिवर्तन ला रहे हैं, किंतु लोककलाओं का व्यवहारवादी पक्ष अभी भी पूरी तरह विशृंखलित नहीं हुआ है।

लोककलाओं के विभिन्न रूपों के प्रकार्य भी भिन्न-भिन्न होते थे। गीत, कहानी, पहेलियाँ, नृत्य आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। अनेक अर्थों में चित्रांकन और मूर्ति-निर्माण द्वारा भी व्यक्ति और समूह अपना मनोरंजन करते थे। उस काल का सांस्कृतिक परिदृश्य ही कुछ ऐसा था कि परंपरागत खेलों और लोक-कलाओं के अलावा मनोरंजन के लिए अन्य कोई विकल्प ही नहीं था। खेलकूद आदि के साथ भी संगीत और नृत्य जुड़े थे। लोक-कलाएँ मनोरंजन के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों को भी पूरा करती थीं। उनके माध्यम से सांस्कृतिक परंपराओं का ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया जाता था। मिथक और किंवदंतियों के द्वारा श्रोताओं को जातीय इतिहास और सामाजिक मान्यताओं, विश्वासों और रीति-रिवाजों का ज्ञान मिलता था। एक लंबे अर्से तक समाज में अलग शैक्षिक संस्थाओं का अस्तित्व नहीं था। परंपरागत शिक्षा-प्रणाली काफ़ी हद तक लोक-कलाओं पर आश्रित होती थी। इस तरह मनोरंजन, परंपरा-बोध और शिक्षा के मिले-जुले कार्य लोक-कलाओं के माध्यम से किये जाते थे। उन कला-रूपों में समुदाय का जीवन-दर्शन अभिव्यक्ति पाता था और उनमें जीवन की सूक्ष्म व्याख्या अंतर्निहित होती थी। लोक-मानस और लोक-चिंतन के गंभीर पक्षों की सामग्री लोक-कलाओं के विश्लेषण से निकाली जा सकती है। संस्कृति-विश्लेषण की नयी विधाओं ने इस सामग्री का उपयोग कर जीवनदर्शन, सामाजिक मूल्य, सांस्कृतिक प्राथमिकताओं आदि पर गंभीर शोध किया है, जो संस्कृतियों के बाह्यरूप मात्र को देखकर संभव नहीं होता। ये कलाएँ सौंदर्य-बोध की अभिव्यक्ति करती थीं और उनके द्वारा व्यक्तियों और समूहों को सृजनात्मक आनंद भी प्राप्त होता था।

लोक-कला किसी भी अर्थ में अचल या जड़ नहीं होती। विशिष्ट काल-संदर्भों में उसके रूप में परिवर्तन होते रहते थे। लोक-कलाओं की प्रकृति के संदर्भ में यह कहा जा चुका है कि उसके प्रायः प्रत्येक कला-रूप में समुदाय की सहभागिता होती थी। कलाकृति-प्रदर्शनकारी अथवा रूपंकर—किसी व्यक्ति-विशेष की रचना न होकर अनेक अर्थों में सामूहिक रचना होती थी। लोक-कविता के साथ उसके रचनाकार का नाम नहीं जुड़ता था। छोटे गीतों की बात अलग है, खंड-काव्य और महाकाव्य के आकार के लोक-काव्य में भी रचयिताओं के नाम का कोई उल्लेख नहीं है। लोक-कलाकार चित्रफलकों पर अपने हस्ताक्षर नहीं करता था। लोक-वास्तुशिल्प की महान कृतियों को भी किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता। पहले ही कहा जा चुका है कि गीतों और नृत्यों में सभी शरीक होते थे। सहभागिता की यह प्रवृत्ति कला-रूपों में परिवर्तन का कारण बनती थी। सहभागी अपनी ओर से उसमें कुछ-न-कुछ जोड़ते-घटाते रहते थे। नाट्य-रूपों में परिवर्तन-परिवर्द्धन और नवाचारों की प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती थी, क्योंकि उनमें सामयिक समीक्षा भी आ जाती थी। रूपंकर कलाओं में भी समुदाय के प्रयोगों और सुझावों का प्रभाव देखा जा सकता था। मिथक और धार्मिक विश्वासों से जुड़े कला-रूपों में परंपरा का अधिक आदर होता था, किंतु यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उनका रूप भी स्थिर और स्थायी होता था। प्रस्तुतकर्ताओं के व्यक्तित्व की छाप उन पर भी पड़ती थी, दो विभिन्न दलों की प्रस्तुतियों में स्पष्ट अंतर देखे जा सकते थे।

लाककलाओं में एक निरंतरता होती है। उनके स्वरूप के कुछ पक्ष अपेक्षाकृत कम बदलते हैं, पर अन्य पक्षों पर समय का प्रभाव देखा जा सकता है। लोक-कलाकार भी बदलते सामाजिक परिदृश्य के प्रति संवेदनशील होते हैं। यदि कला-विधाओं का बाह्य रूप अपरिवर्तित रहता है, तो भी समय उनके अभिप्रायों और अर्थों को प्रभावित करता है। इस तरह विशिष्ट समय-संदर्भों से अलग कर यदि हम लोककलाओं को समय-प्रवाह से जोड़कर देखें, तो हमें उनके बाह्य और आंतरिक गठन तथा अंतर्निहित मूल्यों और अर्थों में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, लोक-कलाओं के मूल और शुद्ध रूप की खोज एक अर्थहीन प्रयास बन सकता है। जिन कला-रूपों में शैलीगत वैशिष्ट्य और स्थायित्व-सा आ जाता है, वे भी पूरी तरह अपरिवर्तनशील नहीं होते। गतिशीलता मानव समाजों की एक अनिवार्य प्रवृत्ति है और मूलतः सामाजिक उत्पादन होने के नाते लोक-कलाओं का एक भाग विकसित और परिमार्जित होकर शास्त्रीय परंपरा (क्लासिकी कला) की श्रेणी में आ जाता है। लोक कलाओं के भविष्य के संबंध में विचार करते समय हमें उनकी परिवर्तनशीलता की इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखना आवश्यक है।

विभिन्न मानव-समाजों की सामाजिक-आर्थिक संरचना में जिस मात्रा में जटिलता और विशेषीकरण के तत्त्व आये, उसी मात्रा में उनकी सामूहिक चेतना भी प्रभावित होती गयी। नगरीकरण और उद्योगीकरण ने सामाजिक जीवन को नये आयाम दिये। इसके कारण समाज में स्तरीकरण बढ़ा और वर्ग-भेद सशक्त रूप से प्रकट हुए। वैसे, ये सामाजिक प्रक्रियाएँ नव-पाषाण युग में कृषि के आरंभ और स्थायी कुटीर-उद्योगों की स्थापना के समय से ही शुरू हो गयी थीं। शिक्षा और विज्ञान के विकास और फैलाव ने मानवीय चेतना का विस्तार किया और इनके कारण मानसिकता के स्वरूप में भी क्रमशः अनेक परिवर्तन आये। समाज में नये मूल्यों का उदय हुआ और नयी जीवन-दृष्टियाँ स्वीकृति पाती गयीं। इस तरह समाज में एक छोटे प्रबुद्ध वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ और इस वर्ग और जनसाधारण के बीच की दूरी बढ़ती गयी। परिष्कृत कलाओं का क्रमशः विकास हुआ। इनमें से कुछ लोककलाओं से उपजी थीं, कुछ स्वतंत्र रूप से विकसित हुई थीं। कला-रूपों में विशेषज्ञता भी विकसित हुई और कलाओं का आंशिक अथवा पूर्ण व्यवसायीकरण होने लगा। इस प्रक्रिया में यदि एक ओर शैलीगत वैशिष्ट्य रूढ़ हुआ तो दूसरी ओर नवाचारों और प्रयोगों ने कलाओं को नये मोड़ भी दिये। अलग से पहचानी जा सकनेवाली कलाकारों की एक नयी श्रेणी समाज में उभरी। धर्म और विश्वास की भूमिका में बदलाव आया और कलाओं पर उनका प्रभाव कम हुआ। आर्थिक प्राविधिक क्रांति ने उत्पादन का स्वरूप तो बदला ही, साथ ही उत्पादन से जुड़े परंपरागत मूल्यों को भी अस्त-व्यस्त कर दिया। सामान्य उत्पादन में अंतर्निहित सौंदर्य-चेतना क्षीण हुई और उपयोगितावाद ने उसके सृजनात्मक पक्षों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। मनोरंजन के नये रूपों ने जन्म लिया और जनसंचार के माध्यमों के विकास ने सामूहिकता के स्वरूप को नया विस्तार दिया। कला-रूपों और प्रकारों में संघर्ष और सह-अस्तित्व की नयी प्रक्रियाएँ आरंभ हुईं। अंतर-सांस्कृतिक संपर्कों ने दीर्घकालीन परिदृश्य में, आदान-प्रदान द्वारा संस्कृतियों को नये तत्त्व दिये, जिन्हें भिन्न मात्राओं और अलग-अलग रूपों में आत्मसात् किया गया।

आर्थिक-प्राविधिक और सामाजिक उद्विकास की स्थितियों ने विभिन्न मानवसमाजों

को अलग-अलग मात्राओं में प्रभावित किया और उन्हें अलग-अलग दिशाएँ दीं। एक ही समाज के अलग-अलग समुदायों और समूहों के विकास की गति में भी अंतर था। आज भी कुछ समाज ऐसे हैं, जो छोटे-छोटे पारिवारिक झुंडों में खंडित हैं और जिनकी ये इकाइयाँ प्रायः स्वयं-पूर्ण हैं। इसी प्रकार के अन्य पारिवारिक झुंडों से वे लड़कियों का लेन-देन तो करते हैं, पर उनके अन्य सांस्कृतिक संबंध प्रायः नगण्य होते हैं। संसार के अधिकांश भागों की आदिवासी संस्कृतियों में सामाजिक विकास और गठन का यह आद्य रूप देखा जा सकता है। इस प्रकार के झुंडों के विलयन से एक नये सामाजिक गठन ने जन्म लिया, जिसे 'दल' या 'बैंड' कहा जाता है। दलों के सम्मिलन से जनजातियाँ या 'ट्राइब्स' बनीं, जनजातियों के एकीकरण से राष्ट्र या नेशन बने। सामाजिक उद्विकास की स्थितियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले समूह और छोटे-बड़े समुदाय आज भी मिलते हैं। इन सबमें सामूहिक चेतना का प्राधान्य होता है और इनकी संस्कृतियों को लोक-संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। नव-प्रस्तर युग की प्रविधि एक नयी आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्रांति की अग्रदूत थी। इसने ग्रामीण समुदायों को जन्म दिया और लोक-संस्कृति को इस काल में नया विस्तार और आयाम मिला। नगरीकरण की प्रक्रिया ने लोक-संस्कृतियों को पूरी तरह विशृंखल और विनष्ट तो नहीं किया, पर उसके स्वरूप और गठन में महत्त्वपूर्ण बदलाव अवश्य आये। नगर और ग्राम-संस्कृतियों का सह-अस्तित्व बना रहा और संसार के कई भागों में इन दोनों में सावयवी संबंध विकसित हुए। कस्बाई और छोटे नगरों की संस्कृति ग्रामीण संस्कृति से बहुत अलग नहीं थी। बड़े नगरों और महानगरों के जीवन में भी लुके-छिपे लोक-संस्कृति के कुछ तत्त्व बने रहे। उद्योगीकरण ने लोकसंस्कृतियों और लोककलाओं के सामने एक नयी चुनौती प्रस्तुत की। इसके प्रभाव से लोकसंस्कृतियाँ लुप्त तो नहीं हुईं पर उन्हें एक नयी उभरती संस्कृति से अपना अनुकूलन करना पड़ा। नये सांस्कृतिक प्रतिमानों और कला-रूपों को सहयोग और प्रतिस्पर्धा की स्थिति से निपटकर सह-अस्तित्व की नयी शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। आधुनिकीकरण की आँधी ने लोकसंस्कृतियों और लोककलाओं को बुरी तरह झकझोरा। सामूहिकता के ह्रास, विशेषीकरण के उदय और जीवन के पक्षों के अंतरावलंबन के बदलते स्वरूपों ने लोकसंस्कृति और लोककलाओं के प्रकार्यों को ही बदल दिया, मनोरंजन के नये रूप विकसित हुए। सौंदर्य-बोध और कलात्मक सृजन ने नयी दिशाएँ अपनायीं, शिक्षा की विषय-वस्तु बदली और विशेषीकृत शैक्षिक संस्थाओं ने जन्म लिया। ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं का विस्तार हुआ, जिसने आस्था और विश्वासों का मूल्यांकन करने की प्रेरणा दी। जीवन के प्रवाह को भी दिशा और गति मिली, नयी जीवन-दृष्टियाँ और जीवन-शैलियाँ विकसित होने लगीं। प्रयोग और नवाचार एक नये सम्मान के अधिकारी बने। संक्रमण की यह प्रक्रिया लोकसंस्कृतियों और लोककलाओं के अस्तित्व के लिए चुनौती बन सकती थी, किंतु उनकी अदम्य जीवन-शक्ति और अनुकूलन-क्षमता ने उन्हें मौत से बचा लिया। यह सच है कि कुछ लोकसंस्कृतियाँ विनष्ट हो गयीं और लोककलाओं के कुछ रूप लुप्त हो गये, किंतु उनका काफ़ी बड़ा भाग थोड़े-बहुत बदलाव के साथ आज भी जी रहा है। एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमरीका में लोकसंस्कृतियाँ अभी भी सशक्त हैं, यद्यपि उद्योगीकरण और आधुनिकीकरण ने उन पर अपना प्रभाव अवश्य छोड़ा है। पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका में लोकसंस्कृतियों और लोककलाओं पर प्रबल प्रहार

हुए, किंतु वहाँ भी सांस्कृतिक चेतना अतीत के कुछ तत्त्वों को कम-से-कम संकेत-चिह्नों के रूपों में पुनर्जीवित कर रही है। सोवियत यूनियन और अन्य कम्युनिस्ट देशों ने ऐसी सांस्कृतिक नीति अपनायी कि समाजों का आधुनिकीकरण तो हो, किंतु साथ ही उनकी क्षेत्रीय और लोकसंस्कृतियों का वैशिष्ट्य समाप्त न हो। बदलते जीवन-मूल्यों के संदर्भ में किस सीमा तक लोकसंस्कृतियाँ और लोककलाएँ अपनी आत्मा को जीवित रख सकती हैं और अपने स्वरूप को परिवर्तन से बचा सकती है, यह एक खुला प्रश्न है।

लोकसंस्कृतियों और लोककलाओं के संदर्भ में कुछ पूर्वाग्रह और शुद्धतावादी दृष्टिकोण चौंकानेवाले हैं। कुछ दिन पहले मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद की बैठक में इस विषय पर अनायास ही लंबी बहस छिड़ गयी जिसमें कुछ गर्मी भी आ गयी। बैठक में आदिवासी और लोककलाओं के कुछ विशेषज्ञ अध्येता थे, कुछ लोककलाकार। अधिकांश सदस्य लोककलाओं से जुड़े थे, सभी को उनसे गहरा लगाव था, चिंता व्यक्त की गयी कि बस्तर के लोककलाकार अब रंग-बिरंगी टीशर्ट और जींस पहनने लगे हैं और अपनी परंपरागत वेश-भूषा छोड़ते जा रहे हैं। प्लास्टिक की कंघियों के बढ़ते व्यवहार पर दुःख प्रकट किया गया। ट्रांजिस्टर-रेडियो की बढ़ती माँग पर भी आक्रोश व्यक्त किया गया। कुछ ने कहा कि आदिवासी और लोककलाकारों को राजधानियों के कार्यक्रमों में शहरी और फिल्मी ढंग से सजाया-सँवारा जाता है। मैं इस बहस में मौन ही रहा, पर दिमाग में बेचैन करनेवाले सवाल उठते रहे। बैठक की अध्यक्षता मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री अर्जुनसिंह कर रहे थे। राजवंश के होते हुए भी वे सामान्य-सी बुश्शर्ट, पैंट और चप्पल पहने थे। पुरानी परंपरा के अनुसार तो उन्हें राजसी वेश-भूषा में होना चाहिए था। मख़मली जूते, सोने-चाँदी के काम वाला मोटा रेशमी चोगा, साफा और हीरे-मोतियों और अन्य रत्नों से जड़ित आभूषण, कुछ भी तो नहीं पहने थे वे। यदि उनके सिर पर राजमुकुट होता तो शोभा और भी बढ़ जाती। उन्हीं के पास मैं भी बैठा था—ब्राह्मण-कुल में जन्मा, पर शिखा-सूत्र विहीन, कुरता, धोती और खड़ाऊँ में नहीं, अर्जुनसिंहजी की तरह ही बुश्शर्ट, पैंट और चप्पल में। बस्तर के आदिवासियों के शर्ट और जीन्स पहनने पर जिन्हें ग़म था, उन्होंने अर्जुनसिंहजी या मेरे परिधान पर कोई चिंता व्यक्त क्यों नहीं की? क्या आदिवासियों को अपनी रुचि के कपड़े पहनने का अधिकार नहीं है? संस्कृति की स्वस्थ और विकृत धाराओं से वे भी प्रभावित होते हैं। प्लास्टिक पर्यावरण को कितना ही प्रदूषित करता हो, पर उसका उपयोग विश्वव्यापी हो गया है। प्यार के प्रतीक के रूप में आदिवासी युवक अपनी प्रेमिका को हाथ से बनायी और अलंकृत कंघी दे या प्लास्टिक की, इसका निर्णय हम करें या युवक-युवती की अभिरुचि पर छोड़ दें? जन-संचार माध्यमों की क्रांति यदि आदिवासी क्षेत्रों को भी स्पर्श करे, तो इसमें दुःख या आश्चर्य की बात क्या है? गंभीर रूप से बीमार आदिवासी को आप प्रभावी आधुनिक औषधि देंगे या उसे सलाह देंगे कि वह जादू-टोने से अपना उपचार करा ले? यदि वह नयी औषधि अपना सकता है, तो उसे ट्रांजिस्टर-रेडियो भी अपनाने दीजिए। मिजो लोग मॉड वेश-भूषा, पाश्चात्य संगीत और नृत्य, और वीडियो तक अपनाकर कम मिजो नहीं हो गये हैं। विज्ञान और प्रविधि के तत्त्वों को रोका नहीं जा सकता। फिल्मी ढंग से सजाये आदिवासी कलाकार स्वाभाविक नहीं दिखते, पर यदि वे ही स्वयं इस नयी साज-सज्जा की माँग करते हैं, तो हम उन्हें कब तक और कैसे रोक सकते

हैं? उन्हें समझाया अवश्य जा सकता है कि उनकी परंपरागत वेश-भूषा का अपना विशिष्ट सौंदर्य है। वैसे दिल्ली में मुरिया युवतियों के वक्षों की प्रदर्शनी भी कुछ अच्छी नहीं लगती। स्वयं उन्हें और हमें भी लोक-जीवन में अनिवार्यतः बदलते परिवेश के प्रभाव दिखेंगे। हमें इस पर अधिक चिंता करने का कोई कारण नहीं है। ऐसे कलाकार और उनका समुदाय स्वयं कभी सोचेंगे कि किस सीमा तक बदलाव उचित है और किन स्थितियों में अनुचित है। वैसे, कलाओं का शुद्ध रूप क्या है, इसका निर्णय उसके अध्येता भी नहीं कर सकते। हर कला-रूप में परिवर्तन-परिवर्धन होते ही रहे हैं और उसे एक विशिष्ट समय-खंड या सांस्कृतिक संदर्भ से जोड़ा नहीं जा सकता। कुछ परिवर्तन स्वतः स्फूर्त होते हैं, कुछ बाह्य-प्रभावों से जनित होते हैं। ये दोनों ही लोक-कलाओं को संवर्धित कर सकते हैं। सीमाओं का निर्धारण हमें लोकमानस के विवेक पर छोड़ देना चाहिए। प्रबुद्ध वर्ग का हस्तक्षेप कभी-कभी दुःखदायी और चिंताजनक स्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है। लोककलाओं को किसी एक स्तर पर 'फ्रीज़' नहीं किया जा सकता। ऐसा कर सकने के कोई वैज्ञानिक और विवेक-सम्मत मानदंड भी नहीं हैं। यदि हमने यह किया भी, तो इसके दूरगामी प्रभाव घातक हो सकते हैं।

लोक-कलाओं का भविष्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर पहले तो 'लोक' के बदलते रूप पर निर्भर होगा, दूसरे, हमारी सांस्कृतिक नीतियों पर।

आज के सांस्कृतिक मानचित्र को देखिए। आधुनिकीकरण के प्रबल आग्रह के बावजूद जातीय स्मृतियाँ सशक्त ढंग से उभर रही हैं और नयी सांस्कृतिक चेतना परंपरा को विस्मृत करने के पक्ष में नहीं है। समाज का ढाँचा चरमरा रहा है। वैयक्तीकरण ने एक अजीब-सी दिशाहीनता की स्थिति उत्पन्न की है, जिसमें निजी हित व्यापक सामाजिक हितों पर हावी हो गये हैं। जिस वैकल्पिक भविष्य की तलाश हम कर रहे हैं, उसमें मानवसमाज के पुनर्गठन की योजना भी सम्मिलित है। इस नये समाज का आधार होगा—अर्थपूर्ण मानवीय संबंधों की पुनःस्थापना। यदि हमें उद्योगीकरण और महानगरीकरण की विकृतियों से बचना है और अमानवीयकरण के उफान को रोकना है तो हमें उद्योगों का रूप बदलना होगा, और साथ ही सामाजिक संबंधों का आधार भी। नयी सामाजिक इकाइयाँ ऐसी होनी चाहिए कि उनमें सामूहिकता और सहभागिता, दोनों संभव हों। इसका अर्थ हुआ—एक नये प्रकार की लोकसंस्कृति की ओर लौटना। इस संस्कृति का सृजन और उपयोग, दोनों मूलभूत मानवीय अधिकार के रूप में प्रतिष्ठित होंगे।

संस्कृति के प्रश्नों पर सतत् सार्थक संवाद आवश्यक है। सांस्कृतिक नीति की बात उठने पर कई विद्वान और संस्कृतिकर्मी चौंक पड़ते हैं, उन्हें मिरगी के दौरे-से आने लगते हैं, किंतु यदि सामाजिक नीति संभव और आवश्यक है तो सांस्कृतिक नीति की ज़रूरत को भी नकारा नहीं जा सकता। सांस्कृतिक नीति आवश्यक है। इस नीति के कुछ आयाम होंगे :

(1) सांस्कृतिक धरोहर के प्रति सम्मान और आत्मीयता की भावना का विकास।

(2) बिना सांस्कृतिक एकरूपता-संबंधी दुराग्रह के सांस्कृतिक विविधता को अभिव्यक्ति के समान अवसर।

(3) लोक-कलाओं और प्रबुद्ध, परंपरागत और शास्त्रीय-कलाओं को समान सम्मान और विकास के समान अवसर।

(4) विभिन्न क्षेत्रों और स्तरों की संस्कृतियों के बीच सेतु-निर्माण।

(5) जनसंचार के साधनों और पारंपरिक कलाओं के व्यर्थ संघर्ष का अंत और इन साधनों द्वारा लोक और शास्त्रीय कलाओं के प्रचार और प्रसार का योजनाबद्ध प्रयत्न।

(6) सांस्कृतिक प्रश्नों और गतिविधियों पर संवाद की सभ्यता का समर्थन जिसके अंतर्गत सार्थक बहस संभव हो।

(7) अर्थहीन अनुकरण और सांस्कृतिक विसंगतियों और विकृतियों पर जनमत जागृत करना।

(8) संस्कृतिमूलक बीज प्रश्नों को हर प्रकार के भ्रम, उन्माद और वितंडावाद से बचाना। इंडोनेशिया में 'रामायण' और 'महाभारत' की संस्कृति और इस्लाम का सह-अस्तित्व संभव है, मलेशिया ने परंपरा को छोड़कर कुछ खोया ही है। इस्लामीकरण पाकिस्तान और भारत के मुसलमानों को कौन-सी सांस्कृतिक दिशा देगा? ईसाई धर्म अपनाकर क्या आदिवासियों को अपने परंपरागत शिल्प और कलाएँ छोड़नी चाहिए? परंपरा की नींव से असंपर्कित होना अपनी जीवन-शक्ति का ह्रास करता है या नयी शक्ति पाता है?

(9) संस्कृति की सामर्थ्य द्वारा बुनियादी मानवीय समस्याओं को हल करने का प्रयत्न।

(10) आज के विवेकहीन प्रश्नों के पर्यावरण में सृजन और निर्माण की धाराओं को दिशा और शक्ति देना।

यह खुशी की बात है कि आज की सांस्कृतिक बहस इस प्रकार के मुद्दों पर केंद्रित है और सांस्कृतिक नीतियाँ इन चुनौती-भरे प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयत्न कर रही हैं। अंधानुकरण और उन्माद समस्याएँ भी उत्पन्न कर रहे हैं, पर यह लड़ाई नयी नहीं है।

लोककलाओं के भविष्य के संबंध में हमें चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। जातीय भावना का विकास, नयी सांस्कृतिक चेतना का उदय, भविष्य के समाज की उभरती परिकल्पनाएँ और सांस्कृतिक नीति के कई पक्ष हमें आश्वस्त करते हैं कि लोक-संस्कृतियाँ अस्तित्व के संकट का सामना कर सकेंगी। संभावना यही है कि वे पुष्पित, पल्लवित और पुष्ट होंगी। लोक-संस्कृतियों के संस्कृति की मुख्य धारा में विलयन-संबंधी दुराग्रह हमें छोड़ने होंगे। लोक-जगत् में उन्हें दूसरी श्रेणी की नागरिकता देना न केवल लोक-कलाओं के लिए वरन् सामान्य रूप से सभी कलाओं के लिए विघातक सिद्ध होगा। हमें ऐसा दृष्टिकोण अपनाना है जो लोककलाओं के विकास और उत्कर्ष का मार्ग भी अवरुद्ध न करे, उन्हें अपनी दिशा खोजने का मौका दे और अपनी गति से आगे बढ़ने दे। गाँव की धरती छोड़कर जब वे महानगरों के मंच पर जायेंगी तब उनका रूप तो बदलेगा ही, सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी उन्हें प्रभावित करेगा।

आदिवासी धरोहर

दुनिया का हर सातवाँ व्यक्ति भारतीय है और भारत की जनसंख्या में आदिवासी सात प्रतिशत हैं। यह आँकड़ा पूरी तरह विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि इसमें केवल वही आदिवासी समूह आते हैं, जिनके नाम भारतीय संविधान की 8वीं अनुसूची में सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे आदिवासी समूह भी हैं, जो किसी-न-किसी कारण से इस अनुसूची में सम्मिलित नहीं किये गये। अनूसूची में कुछ ऐसे समूहों के नाम भी सम्मिलित हो गये हैं, जिन्हें पहले आदिवासी नहीं माना जाता था, पर जो अपने लिए एक नयी सामूहिक छवि प्राप्त करने में सफल हुए हैं। सच कहा जाये तो आदिवासी और गैर-आदिवासियों के बीच की विभाजन-रेखा बहुत स्पष्ट नहीं है, क्योंकि थोड़े ही भारतीय ऐसे होंगे जिनमें आदिवासियों का रक्त न हो। फिर भी यह अंतर आज के संदर्भ में एक नया अर्थ ले चुका है और इसके साथ पहचान और आत्म-छवि के संवेदनशील प्रश्न जुड़े हैं।

भारत के संबंध में एक प्रचलित भ्रामक धारणा यह है कि इस देश में सभ्यता का प्रकाश आर्यों के आगमन के साथ ही आया। नये पुरातात्त्विक और ऐतिहासिक तथ्य इस भ्रांति का खंडन करते हैं। उत्तर-पश्चिम से आर्य भाषाएँ बोलनेवाले समूहों की लहरें, एक के बाद एक, जब इस उपमहाद्वीप में आ रही थीं तब भारत में एक उन्नत सभ्यता का विकास हो चुका था। इस सभ्यता के मुख्य तत्त्व थे—सुनियोजित नगर, विकसित कृषि-व्यवस्था, वाणिज्य और व्यापार का सुनियंत्रित जाल, जटिल धार्मिक विश्वास और कर्मकांड, और एक ऐसी लिपि जिसे अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। यह सभ्यता 'सिंधु घाटी सभ्यता' अथवा 'हड़प्पा सभ्यता' के नाम से जानी जाती है। नये अनुसंधानों से हमें इसके सीमा-विस्तार के संबंध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई। इसका विस्तार एक ओर पंजाब और हरियाणा तक था, तो दूसरी ओर गुजरात के समुद्र-तट तक। 'सिंधु घाटी सभ्यता' के पहले भी इस देश में पत्थर के उपकरण का उपयोग करनेवाली अनेक संस्कृतियाँ थीं। अनेक स्थानों पर पाये गुफाचित्रों में उस काल के जीवन के दृश्य हमें मिलते हैं। बहुसंख्यक पत्थर के बने उपकरणों से, जो इस उपमहाद्वीप के प्रायः सभी भागों से मिले, हम देश के आरंभिक सांस्कृतिक विकास का कालानुक्रम निर्धारित कर सकते हैं। आर्य, जिनमें कई विशेषताएँ थीं, अपने साथ कोई सभ्यता नहीं लाये थे। उनकी परंपरा सशक्त थी और वे प्रयत्नपूर्वक उसे बचाकर स्थायित्व प्रदान करने के लिए कटिबद्ध थे। उनकी स्मरणशक्ति विलक्षण थी और सकंठ पाठ से वे पूरी-की-पूरी पुस्तकें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचा सकते थे। उनकी चिंतनशीलता उल्लेखनीय थी और वे सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण प्रभावशाली ढंग से कर सकते थे। उनका कर्मकांड अत्यंत विकसित था। अपनी संस्कृति और आत्मछवि को भी वे दर्द-भरे भाव से शेष समाज के सामने प्रस्तुत करते थे।

इस स्थिति में सांस्कृतिक संघर्ष जरूरी था। आर्य प्रजाति के लोग अहंभाव-पीड़ित थे और देश के पुराने वासियों को अपने-आपसे बहुत कम समझते थे। उनका उल्लेख वे

अनादरसूचक शब्दों से करते थे, जैसे—दास, दस्यु, अनास आदि। प्राचीन भारत के कुछ भागों में दास-प्रथा प्रचलित थी, किंतु आर्यों के पहले से देश में रहनेवाले लोगों को दास कहना उचित नहीं था। देश में यहाँ-वहाँ संस्कृति के द्वीप थे। किंतु चोर और डाकू भी थे। परंतु आर्यों के पहले के सभी समाजों को दस्यु की संज्ञा देना निश्चित रूप से गलत था। यह सच है कि आर्यों के चेहरे पर उनकी नाक प्रमुख रूप से उभरकर आती थी, परंतु अपेक्षाकृत छोटी या दबी नाकवाले लोगों को नासिकाविहीन कहना निश्चित रूप से अनादरसूचक था। आर्यों की मौखिक परंपरा का एक बड़ा भाग कालांतर में लिपिबद्ध हो गया, इसीलिए हम यह जान सके कि वे आर्य पूर्व-भारतवासियों के संबंध में क्या धारणाएँ रखते थे। दुर्भाग्यवश आर्य-पूर्व परंपरा के ऐसे कोई दस्तावेज़ शेष नहीं हैं, जिनसे हम यह जान सकें कि आर्यों के बारे में उनका क्या मत था। यह निश्चित है कि उन्होंने आर्यों की प्रजातीय अथवा सांस्कृतिक श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया। भारतभूमि पर नये-नये आये आर्यों को अपनी प्रजातीय उत्कृष्टता पर दंभ था और उन्होंने उसकी शुद्धता बचाये रखने के प्रयत्न भी किये। यह स्पष्ट है कि इस लड़ाई में वे हार रहे थे। आर्यों और अनार्यों में विवाह वर्जित थे, फिर भी ऐसे विवाहों की संख्या बढ़ती ही गयी। शीघ्र ही ऐसी स्थिति आयी जब भारत की जनसंख्या में अनेक प्रजातियों का मिश्रण हो गया। आर्यों के द्वारा प्रजातीय शुद्धता के दावे किये जाते रहे, परंतु वे केवल एक मिथक थे।

धर्म और संस्कृति के संबंध में लगभग यही स्थिति थी। हिंदू त्रिमूर्ति में शिव या महादेव का स्थान महत्त्वपूर्ण है। शिव-भक्ति की परिकल्पना के स्रोत आदिवासी किंवदंतियों, विश्वासों और धार्मिक क्रियाओं में थे। सर्वशक्तिमान माता से जुड़े हुए विश्वास और धार्मिक क्रियाओं का उद्‌गम आदिवासी, स्थानीय और क्षेत्रीय परंपराओं में है। हिंदू धर्म-पंडितों ने इन्हें हिंदू धर्म के सम्मानित देवी-देवताओं में सम्मिलित कर लिया और उनके संबंध में सुचिंतित, दार्शनिक और धार्मिक अवधारणाएँ प्रस्तुत कीं। इसी प्रक्रिया से लोकव्यापी हिंदुत्व का विकास हुआ। महान् ऋषियों द्वारा संकलित और संपादित धार्मिक और सामाजिक संहिताओं का भारत भर में लोकव्यापीकरण नहीं हुआ था। पूरी तरह न उनकी आत्मा को स्वीकारा गया था, न उनके स्वरूप को। धीरे-धीरे इन संहिताओं में लौकिक परंपराओं का समावेश हुआ। आज का जीवित सामाजिक यथार्थ शास्त्रीय परंपरा पर पूरी तरह आधारित नहीं है। शास्त्रीय परंपराएँ केवल एक आदर्श प्रारूप प्रस्तुत करती हैं। स्थानीय और क्षेत्रीय सांस्कृतिक व्यक्तित्व आज भी सशक्त हैं और उनकी अलग पहचान है। विराट् हिंदू समाज में वे एक-दूसरे से जुड़ी होकर भी अपना अलग अस्तित्व रखती हैं। धार्मिक संस्कारों और सामाजिक रीति-रिवाजों में आज भी स्थानीय और क्षेत्रीय रंग और गंध है। इस संदर्भ में यह जानना भी आवश्यक है कि आरंभिक हिंदू धर्म के अनेक प्रतिष्ठित और पूजित देवता आज पदावनत हो गये हैं। संस्कृत-मंत्रों में यदा-कदा उनका उल्लेख होता है परंतु अपने गौण स्थान के कारण वे पूजा-अर्चना के अधिकारी नहीं रह गये हैं।

भारत की इस लंबी सांस्कृतिक गाथा से हमें क्या सबक मिलता है। मिथक कुछ भी कहें, सच्चाई उनसे बहुत अलग है। प्रजातीय रूप से भारतीय जन एक मिश्रित समूह है; इसके किसी भी अंश का प्रजातीय शुद्धता के अहंभाव से पीड़ित होने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं

है। यह भी निश्चित है कि हमारी संस्कृति का आज का रूप एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, जिससे उनके प्रजातियों और सांस्कृतिक तथा धार्मिक समुदायों का संविलयन जुड़ा है। आर्य-पूर्व और आर्य तो एक दूसरे से घुले-मिले ही, किंतु अनेक अन्य संस्कृति-धारक लहरें भी आकर इस उपमहाद्वीप की संस्कृति में समाहित होती रहीं।

आप पूछ सकते हैं कि जब पुराने निवासियों और आर्यों के संविलयन से एक नये समाज का निर्माण हुआ तब कुछ समूह अपनी आदिम संस्कृति को कैसे बचाये रख सके? वस्तुतः कई समूह सफलतापूर्वक संविलयन की इस प्रक्रिया का विरोध करते रहे। इस विरोध की उन्हें कीमत भी चुकानी पड़ी। अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बचाये रखने के लिए उन्हें नवविकसित सांस्कृतिक केंद्रों से दूर वनों और पर्वतों की शरण लेनी पड़ी। इस एकांत में उन्होंने अपनी जीवनशैली की विशिष्टता को बचाये रखा। धीरे-धीरे उन पर सांस्कृतिक और धार्मिक दबाव बढ़ते गये। उनमें से कुछ को हिंदू समाज की स्तरित व्यवस्था में सम्मानजनक स्थान मिल गया। शासक और शक्तिसंपन्न समूह क्षत्रियों के समकक्ष माने गये। कुछ समूहों को अपेक्षाकृत नीचा स्थान मिला, पर वह असम्मानजनक नहीं था। अन्य समूह, जो नयी हिंदू पहचान स्वीकार करनेवाले समूहों पर आश्रित थे, और भी नीचे स्तर पर हिंदू समाज से जुड़े। जिन आदिवासी समुदायों के पास संख्या की शक्ति थी, वे इस प्रक्रिया का अंग न बनने में सफल हुए। संख्या के अतिरिक्त उनका परिवेश भी इस विरोध को सफल बनाने में सहायक हुआ। कई छोटे-छोटे आदिवासी समुदाय ऐसे सुदूर और अगम्य भागों में रहते थे कि उन्हें लंबे समय तक छेड़ा नहीं गया। इस तरह एक ओर, जहाँ सामान्य हिंदू समाज में आदिवासी प्रजातीय और सांस्कृतिक तत्त्वों का मिश्रण हुआ, दूसरी ओर, कुछ आदिवासी समुदाय अपनी प्रजातीय शुद्धता और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य बचाए रख सके।

आदिवासियों और ग़ैर-आदिवासियों में अंतर किस तरह किया जा सकता है? प्रश्न कठिन है, क्योंकि उनके बीच की विभाजन-रेखा स्पष्ट नहीं है। भारतीय संदर्भ में आदिवासी और जनजाति शब्दों की सूक्ष्म और संतोषजनक व्याख्या नहीं की गयी है। 'ट्राइब' शब्द का उपयोग ऐसे समुदायों के लिए किया गया था, जो न एक दूसरे के समान थे और न जिनकी तुलना ही की जा सकती थी। इतिहास की पुस्तकों में राजपूतों और जाटों को भी यही संज्ञा दी गयी थी। बाद में इस शब्द का प्रयोग मूलनिवासियों और पूर्व समूहों के लिए ही किया जाने लगा। स्थिति इससे भी स्पष्ट नहीं हुई। जनजातियों की पहचान के लिए जिन तत्त्वों का सहारा लिया जाता है, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

(1) जनजातियों की जड़ें इस देश में बहुत गहरी और पुरानी हैं। वे इस भूभाग के सर्वप्रथम निवासी भले ही न हों, वे निश्चित रूप से यहाँ के पुरातनतम निवासियों में हैं।

(2) वे वनों और पर्वतों के अपेक्षाकृत एकांत में रहते हैं। उनका परिवेश अगम्य भले ही रहा हो, किंतु उसकी दूरी ने सांस्कृतिक प्रभावों पर स्वाभाविक नियंत्रण रखा है।

(3) जनजातियों का इतिहासबोध सीमित और उथला है। उनका स्मरण किया हुआ इतिहास पाँच-छः पीढ़ियों से अधिक का नहीं होता। इसके बाद वह जातीय मिथकों से जुड़ जाता है।

(4) उनके आर्थिक और प्राविधिक विकास का स्तर बहुत ऊँचा नहीं होता।

(5) अपनी सांस्कृतिक समग्रता, भाषाओं, संस्थाओं, विश्वासों और प्रथाओं के आधार पर समाज के शेष भागों से वे अलग दिखाई पड़ते हैं।

(6) जनजातियाँ समतावादी भले ही न हों, किंतु उनमें आंतरिक स्तरण और विशेषीकरण बहुत कम होता है।

ये सूचक बहुत संतोषजनक नहीं हैं। वैज्ञानिक कसौटी पर इनमें कई कमियाँ पायी जा सकती हैं। अधिक विश्वसनीय आधार के अभाव में ऐसे समूहों को, जिनमें यदि सब नहीं तो कुछ ऐसे तत्त्व हों, हम जनजाति कहकर संबोधित करते हैं। भारतीय संविधान के लागू होने के बाद अनुसूचित जनजातियाँ एक विशिष्ट श्रेणी के रूप में उभरकर आयी हैं। अनुसूचीकरण मूलतः राजनीतिक निर्णय पर आधारित होता है। ऐसे निर्णयों का प्रजातीय, सांस्कृतिक या आर्थिक-प्राविधिक कारकों पर आधारित होना आवश्यक नहीं है। स्मरण रखने की बात यह है कि इनमें से अनेक समुदायों की स्वतंत्र जनजातीय पहचान है और वे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बचाये रखने के लिए सचेत हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि एक ओर, आर्य-पूर्व और आर्य-तत्त्वों के मिश्रण से भारत में एक सामाजिक संस्कृति विकसित हो रही थी, तो दूसरी ओर, कुछ जनजातियाँ अपनी आत्मछवि और पहचान के अनुरूप जीवन-शैली बनाये रखने के लिए निरंतर प्रयत्नशील थीं। समसामयिक जनजातियों के पूर्वजों ने इस समसामयिक संस्कृति के विकास में योगदान किया था। वे स्वयं परिवर्तन की सशक्त आँधियों से प्रभावित नहीं रहीं। हमारी आज की संस्कृति में जनजाति तत्त्व कुछ इस तरह घुलमिल गये हैं कि उनको पहचानना कठिन हो गया है। आज की जनजातियों को अतीत के अवशेष मानना गलत होगा, क्योंकि समय की अनिवार्यताओं और पड़ोसियों की परंपराओं ने अपने प्रभाव उन पर छोड़े हैं। जनजातियाँ भारत के प्रजातांत्रिक राजतंत्र में पूरी हिस्सेदारी की इच्छुक हैं और इस दृष्टि से वे कई रूपों में दबाव डाल रही हैं।

जनजाति शब्द कुछ अर्थों में भ्रामक है। इस श्रेणी में आनेवाले समुदायों की तुलना, उनकी संख्या, अथवा सामाजिक गठन और सांस्कृतिक प्रकार्यों की विशिष्टता अथवा आर्थिक-प्राविधिक विकास के स्तर के आधार पर ही की जा सकती है। गोंड, मुंडा, कोल, भील और संथाल संख्या की दृष्टि से बड़ी जनजातियाँ हैं। इनकी तुलना में बिरहोर, कमार, चैन्चू और इसी तरह की अनेक जनजातियों की संख्या कुछ हजार से अधिक नहीं है। कुछ जनजातियाँ इनसे भी छोटी हैं। उदाहरण के लिए ओंगे और टोटो जनजातियों की संख्या सौ से भी कम है।

जनजातियों के सामाजिक संगठन के स्वभाव और जटिलता में बड़ी भिन्नता पायी जाती है। उनकी पारिवारिक रचना और उत्तराधिकार की व्यवस्था में भी महत्त्वपूर्ण अंतर है। भारत के अधिकांश भागों के आदिवासी समूहों में पुरुष की प्रधानता है और इनमें उत्तराधिकार का निर्णय पिता की पंक्ति में होता है। इसके विपरीत दक्षिण और उत्तर-पूर्व में उत्तराधिकार मातृ-धारा द्वारा निर्णीत होते हैं और पारिवारिक गठन मातृ-प्रधान होता है। विवाह के इच्छित रूपों में भी अलग-अलग समुदायों में अलग निर्णायक मान्यताएँ पायी जाती हैं। मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार, उत्तरप्रदेश और नागालैंड की कुछ जनजातियों में युवा-गृहों का प्रचलन था जिनके परिमार्जित स्वरूप आज भी वहाँ देखे जा सकते हैं। ये संस्थाएँ क्रीड़ा-केंद्र होने के

अतिरिक्त जनजातीय युवावर्ग में अनुशासन उत्पन्न करती थीं और शैक्षिक-संस्था के रूप में उन्हें जनजातीय परंपराओं और मूल्यों से परिचित कराती थीं। अनेक जनजातियाँ गोत्रों में विभाजित हैं, जिनमें कई गोत्र-समूहों के विशेष संबंध होते हैं। तमिलनाडु के नीलगिरि क्षेत्र, उत्तरप्रदेश के चकराता क्षेत्र और हिमाचल प्रदेश के कई भागों में बहुपति-प्रथा अभी भी प्रचलित है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उत्तरप्रदेश और हिमाचल के ये समूह कुछ समय पहले ही जनजातियों के रूप में अनुसूचित किये गए हैं और उनकी हिंदू पहचान अभी भी शेष है। कई छोटी-छोटी जनजातियाँ आज भी आदिम खाद्य-संकलन के स्तर पर हैं। उनसे कुछ बड़े समूहों में अस्थिर कृषि-व्यवस्था के दर्शन होते हैं। इनकी 'झूम' या 'पोडू' कही जानेवाली कृषि-व्यवस्था में बड़े वृक्षों की डालियों और छोटे वृक्षों और झाड़ियों को काटकर उनमें आग लगा दी जाती है और सीधी या टेढ़ी कुदाल की सहायता से खेती की जाती है। कुछ समूह स्थायी निवास नहीं बनाते और एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते हैं। यायावरी उनकी सांस्कृतिक विरासत का अंग है। कुछ जनजातियाँ किसी विशिष्ट आदिम प्रवृत्ति से जुड़ी रहती हैं, कुछ किसी रोजगार को अपना लेती हैं। बड़े समुदायों में स्थायित्व का कारण है कृषि जिसमें हल का उपयोग भी किया जाता है। कृषि की दृष्टि से ये जनजातियाँ गैर-आदिवासी कृषक समाज से भिन्न नहीं हैं। किंतु उनके मिथकों, धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं तथा सामाजिक प्रथाओं में जनजातीय रंग पाया जाता है।

भारत का सांस्कृतिक चित्र पच्चीकारी का एक अच्छा नमूना है, जिसमें विविध संस्कृतियों के आकार और रंग मिले हैं। आदिवासी समूह इस रचना में विशेष स्थान रखते हैं। समय-समय पर आदिवासियों और शेष जनसंख्या में संघर्ष की स्थितियाँ आयी हैं; परंतु सामान्यतः जीवन की धारा को कठिन अवरोध का सामना नहीं करना पड़ा। आदिवासियों को अन्य समूहों का उच्चभाव अच्छा नहीं लगता था और वे उनकी आलोचना से दुःखी भी हो जाते थे। आदिवासी-बहुल क्षेत्रों में आदिवासियों और गैर-आदिवासियों के संबंधों में स्थायित्व आ गया था। अखिल भारतीय आदिवासी पहचान विकसित नहीं हुई थी। सच तो यह है कि कई जनजातियाँ अपने असली नामों से नहीं जानी जातीं। वे उन नामों से जानी जाती हैं जो उन्हें दूसरों ने दिये। उदाहरण के लिए, गोंडों का मूल नाम कोइतूर है। और मिजो पहले लूशाई नाम से जाने जाते थे। उन्हें आदिवासी, आदिमजाति, जनजाति और गिरिजन जैसी संज्ञाएँ सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा दी गयी थीं, जो उनके कल्याण की योजनाओं से जुड़े थे। धीरे-धीरे भारतीय उपमहाद्वीप पर उन समूहों की एक अलग पहचान उभरी और वे इन नये नामों से पहचाने जाने लगे। उत्तर-पूर्व में ऐसे समूह अपने-आपको आदिवासी की अपेक्षा जनजाति या 'ट्राइब' कहलाना पसंद करते थे। अंग्रेज़ी सरकार ने अपवर्जित और आंशिक रूप से अपवर्जित क्षेत्रों का निर्माण कर आदिवासियों और गैर-आदिवासियों की दूरी को बढ़ाया। कम-से-कम ऊपरी तौर पर इस प्रयत्न का उद्देश्य था कि आदिवासियों को शोषण और विलीनीकरण की प्रक्रिया से बचाया जाय। यह कह सकना कठिन है कि आदिवासी किसी सीमा तक शोषण से बचे, किंतु उभरती राष्ट्रीय जीवनधारा में आदिवासियों के समाकलन की प्रक्रिया कुछ मंद अवश्य हुई। अल्प परिमार्जन के साथ स्वतंत्र भारत की सरकार ने इस नीति को चालू रखा। कुछ जनजातियाँ 'अनुसूचित जनजातियाँ' कही जाने लगीं और कुछ क्षेत्र

अनुसूचित क्षेत्र' बना दिये गए। नयी नीति में विकास और कल्याण की गति बढ़ायी गई और आदिवासियों के समाकलन के धीमे और सतर्क प्रयत्न किये गए।

आदिवासी-समस्या पर राष्ट्रीय सोच नेहरू-एलविन सिद्धांत से प्रभावित हुआ। नयी नीति आदिवासियों के प्रति संवेदनशील थी। उसके अंतर्गत यह प्रयत्न किया गया कि जहाँ तक हो सके, आदिवासी परंपराओं को छेड़ा न जाये और आदिवासी क्षेत्रों को अति-शासन के दोष से मुक्त रखा जाये। यह भी प्रयत्न था कि आदिवासियों पर अनावश्यक सुधार थोपे न जाएँ। प्रतिपूरक विभेदीकरण की नयी नीति विकसित की गयी, जिसके अंतर्गत आदिवासियों को विधायी संस्थाओं, सार्वजनिक सेवाओं और शैक्षिक संस्थाओं में आरक्षण दिया गया। राष्ट्रीय बजट में आदिवासी-विकास के लिए विशेष प्रावधान किया गया। यह नीति सत् उद्देश्य से प्रेरित थी, किंतु उसका क्रियान्वयन जिस तरह से किया गया, उससे उसके परिणाम संतोषजनक सिद्ध नहीं हुए। कुछ आदिवासी समूहों और क्षेत्रों में जातीय भावना से प्रेरित आंदोलनों ने हिंसात्मक रुख अपनाया। इंदिरा गांधी, जो अपने बचपन में मानव वैज्ञानिक बनकर आदिवासियों का अध्ययन करना चाहती थीं, नये विचारों और नीतियों की प्रेरणा-स्रोत बनीं। उत्तर-पूर्व के राज्यों का पुनर्गठन कर उन्होंने इस आंदोलन की तीव्रता को कम किया। आदिवासी विकास की एक नयी रणनीति बनायी गई। इस नीति को इंदिरा जी का पूरा समर्थन प्राप्त था। विचारों के धरातल पर योजना अच्छी थी, किंतु राज्यों की राजनीतिक अनिश्चितता, राज्यस्तर पर हस्तक्षेप और नौकरशाही के अदूरदर्शी रवैये ने नीति के सफल क्रियान्वयन में बाधा डाली। नागालैंड, मिजोरम, मणिपुर और त्रिपुरा में स्थिति बिगड़ी और वह आज भी चिंताजनक है। आदिवासी भारत के शेष भागों की शांति भी भ्रामक है। नक्सलबाड़ी, श्रीकाकुलम और तेलंगाना में जो आंदोलन हुए, उन्हें आंदोलनकारियों का कार्य मात्र ही नहीं माना जाता। इन क्षेत्रों में तीव्र असंतोष व्याप्त था। यदि दूरंदेशी से काम नहीं लिया गया तो छोटा नागपुर और बस्तर में भी स्थिति बिगड़ सकती है। इस संबंध में चेतावनी का स्वर स्पष्ट है। हमें स्थिति पर गंभीर विचार कर सार्थक योजनाएँ बनानी हैं, जिनसे यह असंतोष कम हो सके। जनजातियों की संवेदनाओं को समझना और आर्थिक अन्याय से उन्हें बचाना आवश्यक है।

देश के आदिवासी-बहुल भागों में जब अस्थिरता और अशांति होती है, तो हमारी जनसंख्या का एक बड़ा भाग उत्तेजित हो जाता है। उसे आश्चर्य होता है कि आदिवासी अपनी प्राथमिक परंपराओं से क्यों चिपके रहना चाहते हैं? वे महान भारतीय परंपरा का अंग बन जाने का विरोध क्यों करते हैं? संविलयन, उनकी दृष्टि में, आदिवासी समस्याओं का एकमात्र समाधान है। यह अतिसरलीकृत समझ का एक उदाहरण है। यदि हिंदू जातियों ने अपनी जातीय प्रथाओं और रस्म-रिवाजों को बनाए रखा है, तो क्या यह उचित है कि हम आदिवासियों से यह अपेक्षा करें कि वे अपने वैशिष्ट्यसूचक चिह्नों को छोड़ दें? विशाल हिंदू-परंपरा स्वयं क्षेत्रीय और स्थानीय परंपरा के एक संघ जैसी है। जातीय-भावना-जनित आंदोलन केवल आदिवासी समूहों तक सीमित नहीं हैं, उन्हें अनेक धरातलों पर, अनेक रूपों में अभिव्यक्ति मिली है। बढ़ते हुए सांस्कृतिक अंतर से हमें चिंतित नहीं होना चाहिए। ज़रूरी यह है कि आर्थिक विषमताएँ कम की जाएँ। समस्या का आर्थिक पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना उसका सांस्कृतिक पक्ष।

राष्ट्रीय समाकलन का सरलतम उपाय है, अंतरावलंबन के ऐसे रूपों का विकास, जिसमें अलग-अलग समूहों का काम एक-दूसरे के बिना न चल सके। सैन्य-शक्ति से भारत का सांस्कृतिक एकीकरण नहीं किया जा सकता, यह औषधि उस व्याधि से भी खराब है जिसके लिए इसका प्रयोग सुझाया जा रहा है। इससे विभेदक शक्तियों को सहारा मिलेगा, सांस्कृतिक दूरियाँ बढ़ेंगी। आदिवासियों को अधीनस्थ और अन्य समूहों को प्रमुख मानना रुग्ण मानसिकता का परिचायक है। आदिवासी क्षेत्र देश के आंतरिक उपनिवेश नहीं हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय संविधान के अनुसार सभी नागरिक समान हैं, प्रजाति, धर्म, विश्वास और जाति से उनकी स्थिति में अंतर नहीं आता। किसी भी वर्ग या समूह को कोई विशेषाधिकार नहीं है। वैसे महान भारतीय परंपरा में भी विसंगतियाँ, असमताएँ और अन्याय अंतर्निहित हैं। जहाँ गाँवों में इतनी पीड़ा, इतना शोषण है, वहाँ कुछ समूहों में उच्च भाव का आधार क्या है? क्यों हम चाहते हैं कि आदिवासियों के जीवन की खुशियाँ खत्म हो जाएँ, उनसे उनके गीत और नृत्य छिन जाएँ?

आदिवासियों और ग़ैर-आदिवासियों के बीच 'हम'/'वे' का अंतर बढ़ रहा है। इसके मूल में है—हमारी दोषपूर्ण ऐतिहासिक समझ और बहुसंख्यकों की झूठी उच्च भावना। दोनों को नजदीक आना है। किंतु इस प्रक्रिया में आदिवासियों का आकृतिहीन बनना जरूरी नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों से न्यस्त हितोंवाले छोटे-से वर्ग को निर्मूल करना आवश्यक है, जिससे आदिवासियों का शोषण रुक सके। हमारे वन राष्ट्रीय संपदा हैं, पर हजारों वर्षों से आदिवासियों की संस्कृति, विशेष कर अर्थव्यवस्था, उन पर अवलंबित रही है। वनों की रक्षा के नाम पर हम उन्हें अपने पारंपरिक अधिकारों से वंचित नहीं कर सकते। आदिवासी क्षेत्रों में बहुमूल्य खनिज संपदा है। इन क्षेत्रों में बड़े-बड़े उद्योग लग रहे हैं। व्यापक सामाजिक हित में यह जरूरी है, किंतु आदिवासियों के पुनःस्थापन के सार्थक प्रयत्न भी उतने ही जरूरी हैं। अब तक ये प्रयत्न दुर्बल और अप्रभावी रहे हैं। आदिवासियों के लिए विकल्प की तलाश हमें सहानुभूति और दूरदर्शिता से करनी है। प्रयत्न यह करना है कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया उनके लिए अप्रिय और विघटनकारी न हो। उनकी कृषि-व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया जा सकता है। और आनेवाले दशकों में वे वन की उपज के परिष्कर्ता बन सकते हैं। उनके लिए शिक्षा की ऐसी प्रविधि अपनायी जा सकती है जो उन्हें अपनी संस्कृति से विमुख न करे। प्रतिपूरक विभेदीकरण की नीति को हमें आगामी कई दशकों तक चालू रखना होगा, पर धीरे-धीरे हमारे कार्यक्रमों का झुकाव उनकी ओर होना चाहिए जिनकी जरूरतें सबसे अधिक हैं।

आदिवासी-जीवन पर रोमांटिक ढंग से विचार करना व्यर्थ है, पर हमारे सोच में मानवीय संवेदना और सामाजिक स्रोत अवश्य होना चाहिए। सामाजिक प्रवृत्तियों के तीव्र प्रहार से उनका उत्पीड़न हुआ है और वे विपन्न बन गये हैं। समता के धरातल का सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार ही उन्हें भारतीय जीवन का सशक्त अंग बना सकता है। 'हम' और 'वे' की भावना को राष्ट्रीय जीवन में विखंडनकारी शक्ति के रूप में नहीं उभरना चाहिए।

साहित्य की मेरी पहचान

बड़े साहित्यिक आयोजनों में मुझे बेचैनी होती है। 'मानव की नियति', 'संस्कृति का संकट' और 'रचनाकार का उत्तरदायित्व' जैसे विराट् प्रश्नों पर महिमामंडित और पांडित्य-पीड़ित साहित्यकारों की गर्जना कभी-कभी बहुत उबा देने वाली होती है। संपर्क और संवाद का सच्चा सुख छोटी-छोटी बैठकों में मिलता है। यहाँ कवि, कथाकार या आलोचक पर चमत्कारी प्रभाव उत्पन्न करने का दबाव नहीं होता। मेरी परेशानी उस समय और भी बढ़ जाती है जब मुझे यह अध्यक्षीय आदेश मिलता है कि मैं सभा को संबोधित करते हुए अपने 'बहुमूल्य विचार' प्रस्तुत करूँ। ऐसी स्थिति में बरबस पचास और साठ के दशकों की एक बहु-विज्ञापित देवी का स्मरण कर, उनकी शैली में अपना वक्तव्य शुरू करना चाहता हूँ। आपमें से कुछ को एक विज्ञापन याद होगा जिसका शीर्षक होता था—'3 रुपये में एक बच्चा'। पंजाब में कोई जगह होती थी बुढ़ानाला, वहाँ होती थीं एक महिला, जिनका नाम था प्रेमप्यारी अग्रवाल। वे समस्त प्यारी बहनों को यह कहकर निरस्त्र कर देती थीं कि वे 'न डॉक्टर हैं, न नर्स।' संतान-सुख से वंचित इस नारी का दुःख एक साधु-महात्मा के बताये नुस्ख़े से दूर हुआ था और लागत-मूल्य मात्र पर वे इसे अपनी ही जैसी दुखियारी बहनों तक, शुद्ध सेवा-भाव से, पहुँचाने के लिए तैयार थीं। मुझे गलत न समझें। मैंने प्रेमप्यारी के दर्शन भी नहीं किये और न प्रकृति ने यह मौका दिया कि मेरी पत्नी को उनकी निःस्वार्थ सेवा का लाभ उठाना पड़े। मैं तो सिर्फ उनके मुहावरे का अनुकरण कर आप सब भाई-बहनों से यह निवेदन करना चाहता हूँ कि—न तो मैं साहित्य की किसी रचनात्मक विधा से जुड़ा हूँ, और न ही मैं मर्मज्ञ आलोचक ही हूँ। 'साहित्य के मानदंड' या 'साहित्य की परख'—जैसे ठोस विषयों पर बोलने का दुस्साहस मैं कभी न करता। आज का विषय—'साहित्य की मेरी पहचान'—आचार्यत्व की माँग नहीं करता। उसमें व्यक्तिगत संवेदन और प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति की गुंजाइश है, और इसीलिए हिम्मत बटोरकर मैं आपके सामने उपस्थित हूँ।

संसार की प्रायः प्रत्येक भाषा में व्यक्तिवाचक प्रथम पुरुष—मैं—उसके सबसे अधिक व्यवहृत शब्दों में एक होता है, और शायद ही कोई दूसरा शब्द हो जिसका इतना अधिक दुरुपयोग होता है। मनुष्य का यह सबसे बड़ा भ्रम होता है कि वह अपने-आपको—'मैं' को—जितना अधिक जानता है, उतना कोई दूसरा नहीं। 'कुरु कुरु स्वाहा' के पृष्ठों में इस 'मैं' के जो तीन रूप प्रस्तुत किये गए हैं, उससे कहीं अधिक उसकी कथा-वस्तु और शिल्प में दबे पड़े हैं। साधारणीकरण की व्याख्या उससे कहीं अधिक जटिल है, जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने पांडित्य के समस्त अधिकार से प्रस्तुत किया है। नगेन्द्रजी रस-सिद्धांत के जाने-माने विद्वान् हैं और इस क्षेत्र में उनका अनुशीलन हिंदी साहित्य की उपलब्धि माना जाता है, किंतु रस-सम्प्रेषण की प्रक्रिया में पाठक के अंतर्मन की अनेक परतों की ग्रहणशीलता के बारे में उन्होंने बहुत कम

कहा है। लेखक के 'मैं' और पाठक के 'मैं' के बीच तादात्म्य स्थापित होता तो है, पर ऐसा शायद बहुत कम स्थितियों में हो पाता है कि लेखक का मंतव्य पाठक ठीक उसी अर्थ में ग्रहण करे, जो रचनाकार को अभीष्ट हो। सच तो यह है कि कोई भी लेखक शायद ही कभी ठीक वही कह पाता है जो वह कहना चाहता है। भाषा का माध्यम अभी भी सूक्ष्म और जटिल अनुभूतियों की संपूर्ण अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं है। दूसरे, लेखक अनजाने बहुत-कुछ वह भी कह जाता है जो शायद वह कहना नहीं चाहता और जिसके बारे में उसे स्वयं यह पता नहीं होता कि क्या कह गया है। पाठक अनेक कोणों से उसके कुछ ऐसे अंतर्निहित मंतव्यों तक पहुँचते हैं, मनोविश्लेषक और अधिक गहराई में जाकर उनके कई आयामों को समझ लेते हैं। अपने हजारों पाठकों के 'मैं' और उसके बाहरी और भीतरी आयामों को समझना किसी भी रचनाकार के लिए असंभव है। इस स्थिति में लेखक और पाठक के बीच जो विनिमय होता है, उसके अनेक पक्षों की व्याख्या संभव नहीं है। पाठक की भूमिका, उसकी प्रकृति, और उसकी बहुरंगी और अनपेक्षित प्रतिक्रियाओं की प्रायः उपेक्षा हुई है, जिसके कारण साहित्य के गंतव्य और मंतव्य—दोनों को समझने में बाधा पड़ती है।

मैं कुछ बहक गया। 'मैं' के संदर्भ में अभी जो कहा गया है न, वह न कोई मौलिक स्थापना है और न अधिकारपूर्ण वक्तव्य। उसे आप मेरी कैफ़ियत मान सकते हैं और पेशबंदी भी। साहित्य से मेरा प्राथमिक और अंतरंग सम्बन्ध पाठक के रूप में है। बाद में कुछ और भूमिकाएँ भी जुड़ गयी हैं, पर वे सब गौण हैं। मेरे विचार मूलतः एक पाठक के विचार हैं।

साहित्य किसी चोर-दरवाजे से मेरी जिन्दगी में आया और जमकर बैठ गया है। सुख-दुःख के इस साथी को मैंने कभी अपने से अलग करने की कोशिश नहीं की। आप इसे बेशर्मी मानेंगे—यदि मैं कहूँ कि मैं स्थिति और आवश्यकता के अनुसार अज्ञेय की रचनाओं से लेकर सुख-संचारक कंपनी के सूचीपत्र तक पढ़ सकता हूँ। सागर में जब था, अच्छी पठन-सामग्री के अभाव में अपने ड्राइवर से लेकर ओमप्रकाश शर्मा के उपन्यास और खूनी पंजा सीरीज़ की पुस्तकें तक पढ़ा करता था। आज भी जरूरत पड़ने पर अपने घर के कर्मचारी रामप्रसाद की 'मेनका' और 'सुषमा' तथा ऐसी ही अन्य पत्रिकाओं के पन्ने कभी-कभी उलट-पलट लेता हूँ। अच्छा साहित्य पढ़ता हूँ, पर उस समय नहीं जब चिंतन करना होता है, या गंभीर लेखन की तैयारी करनी होती है। अच्छे साहित्य में खराबी यह है कि पाठक उसमें डूब जाता है। उसे पढ़ते समय समानांतर किंतु स्वतंत्र विचार-प्रक्रिया संभव नहीं होती। इसीलिए अपने पलंग के दायें-बायें तिपाइयों पर दो भिन्न प्रकार की पुस्तकों के छोटे-छोटे ढेर रखता हूँ। पहला, मनोयोग से पढ़े जानेवाले अच्छे साहित्य का, और दूसरा, ऐसे हलके साहित्य का जिसे ग्राहम् ग्रीन 'एंटरटेनमेंट' कहते हैं और जिसका प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन मात्र होता है। ईमानदारी का तकाज़ा है कि मैं यह स्वीकार कर लूँ कि दोनों प्रकार की पुस्तकों का पलड़ा प्रायः बराबर होता है।

पुस्तकों और पत्रिकाओं का साथ छः-सात वर्ष की अवस्था से आरम्भ हुआ। माँ की मृत्यु के बाद, जब मैं प्रायः नौ वर्ष का था, खिलौनों की जगह मुझे किताबें मिलने लगीं। इन उपहारों का उद्देश्य था-नैतिक और मानसिक विकास और साथ-साथ मनोरंजन भी। दबाव से पढ़ाई गयी पुस्तकों से वितृष्णा हुई। 'भारत भारती' रटायी गयी थी, इसलिए बाद में कभी दद्दा

के काव्य को रुचि से न पढ़ सका। वर्जित साहित्य के प्रति विद्रोही रुझान जाग्रत हुआ और 'चंद्रकांता' और 'भूतनाथ' के काफ़ी हिस्से चोरी-छिपे पढ़ डाले। अदृश्य बना देनेवाली बूटी की तलाश में दो-चार घंटे बिताये होंगे, पर इससे अधिक नुकसान वर्जनाओं को तोड़ने के कारण नहीं हुआ। धीरे-धीरे जासूसी उपन्यासों का चस्का लगा। मेरे हाई स्कूल के दिनों में एक पाँच-आना सीरीज़ बड़ी लोकप्रिय थी। उनके डिटेक्टिव होते थे किसी में राबर्ट ब्लेक और किसी में सेकस्टन ब्लेक। एक का सहकारी था स्मिथ, दूसरे का टिंकर। दोनों के पास कुत्ते भी थे—एक के पास टाइगर, दूसरे के पास पेड्रो। कभी-कभी कथानकों में दो विशिष्ट चरित्र और भी आते थे जिन्हें मैं अभी तक नहीं भुला सका हूँ—एक परम सुंदरी आमेलिया कार्टर और दूसरे चीन के हृदय-सम्राट् कुमार अउलिंग। इन उपन्यासों का अपना नशा था और पढ़ते समय मैं उनके पात्रों की दुनिया का अंग बन जाता था। निषेधाज्ञाएँ इन पुस्तकों पर भी लागू थीं। कह नहीं सकता, क्यों? उनसे न रुचि विकृति हुई, न व्यक्तित्व में ही कोई उल्लेखनीय दोष आया। धीरे-धीरे अच्छे साहित्य की ओर रुझान बढ़ता गया। राबर्ट और सेकस्टन ब्लेक केवल यादें बनकर रह गये। मधु और प्याले का प्रत्यक्ष अनुभव होने के प्रायः दो दशक पहले बच्चनजी की मधुशाला पूरी याद हो गयी थी, बहुत कुछ आज भी है। यदाकदा आचमन-सुख की अपनी कमजोरी के लिए मैं बच्चनजी को दोष नहीं दूँगा। जहाँ तक मैं जानता हूँ, मधुघट का उपयोग उन्होंने स्वयं कभी नहीं किया। पंत, निराला, प्रसाद, महादेवी भी धीरे-धीरे इसी काल में मेरे भाव-जगत् में उतरे। साहित्यिक अभिरुचि को दिशा नहीं मिली थी, पर उसे दिशा की तलाश थी। वयःसंधि की अवस्था का भटकाव कभी-कभी बड़ा सार्थक होता है। उससे साहित्य की समझ और पकड़—दोनों विकसित होती हैं।

सन् 1940 में, जब मैं केवल 18 वर्ष का था, अपनी औकात समझे बिना मैंने अपने लेख 'विशाल भारत' और 'हंस' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में भेजना आरंभ कर दिया। आज आश्चर्य होता है कि ये लेख छपने भी लगे, बिना किन्हीं अस्वीकृतियों के। उन दिनों स्तरीय पत्रिकाओं में छपने का अर्थ होता था—लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो जाना। यह एक दुहरी यात्रा का आरंभ था। लिखता रहा। इस आरंभिक लेखक ने जीवन को ध्येय दिया और मैं मानवविज्ञान, समाज विज्ञान के अध्ययन की ओर उन्मुख हो गया। लेखक का पढ़ना भी जरूरी होता है। पढ़ना वैसे ही एक मजबूरी बन गया था। अब उसकी मात्रा बढ़ गयी। पठन-क्षेत्र का विस्तार हुआ, उसमें विविधता आयी, बहुत-कुछ आत्मसात् किया, बहुत-कुछ था जो छूट गया। साहित्य मेरे अंतर्मन में कितनी गहराई तक उतर गया है, इसका अहसास उस समय हुआ जब 1969 में एक के बाद एक कठिन ऑपरेशनों के बाद, ज़िंदगी और मौत के बीच अनिश्चय की घाटियों में भटकते हुए, मूर्च्छा से चेतना की ओर मैं हिंदी कविता-पंक्तियों के साथ लौटता था। साहित्य के साथ इस आत्मीय सम्बन्ध के विकास में न मुझे अपने अध्यापकों से विशेष सहायता मिली, न साहित्य शास्त्र के ग्रंथों से। मेरे योग्य अध्यापक यदि इसे अकृतज्ञता न मानें तो मैं यह कहूँगा कि हमारी विश्वविद्यालयीन साहित्य-शिक्षा आचार्यत्व पर केंद्रित होती है, साहित्य-रसिकता का विकास नहीं करती। यही बात पांडित्यपूर्ण ग्रंथों पर भी लागू है। तैरना पत्राचार पाठ्यक्रम से नहीं सीखा जा सकता, प्यार की गुत्थियाँ प्रेम-विश्वकोश से नहीं सुलझाई जा सकतीं, और साहित्य की परख विकसित करने में आचार्य एक सीमा तक ही सहायक हो सकते हैं। पाठक और साहित्य के बीच

एक बहुत ही निजी—व्यक्तिगत—एफेयर होता है। प्रत्येक ऐसा सम्बन्ध अपने-आपमें विशेष और अनूठा होता है। पाठक की जैविकीय, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उसे प्रभावित करती है, पर इनके अलावा भी उसके विकास में स्थितियों और अनुभवों का योग होता है। इस सम्बन्ध के कई पहलू विश्लेषण और व्याख्या के परे होते हैं।

मेरा एक सिद्धांत है कि जहाँ तक हो सके, काम के साथी और शाम के साथी अलग हों। यह उसूल किताबों पर लागू नहीं होता। मैंने ज़िंदगी के पिछले चालीस साल भारतीय समाज और संस्कृति को समझने में बिताये हैं। प्रत्यक्ष अध्ययन का हिमायती होते हुए भी मैं साहित्य के माध्यम से भी भारतीय समाज में होनेवाले परिवर्तनों को समझने की कोशिश करता रहा हूँ। प्रेमचंद, रेणु, श्रीलाल शुक्ल, भीष्म साहनी, राही मासूम रज़ा, कृष्णा सोबती आदि की कहानियाँ और उनके उपन्यास मेरे लिए साहित्यिक रचनाएँ भी हैं, समाज-वैज्ञानिक दस्तावेज़ भी। भारतीय ग्रामीण जीवन को उन्होंने रचनात्मक दृष्टि से और साहित्यकार की तीसरी आँख से देखा है, और उसके कुछ ऐसे पहलुओं के सूक्ष्म तत्त्वों की मार्मिक विवेचना की है जो हमारी शुष्क वैज्ञानिक दृष्टि और कष्टसाध्य सांख्यकीय विश्लेषण की पकड़ में नहीं आते। अमेरिका के कार्नेल विश्वविद्यालय में भारतीय परिवार पर एक कोर्स पढ़ाते समय मैंने कॉपी-राइट कानून का उल्लंघन करते हुए आधा दर्जन कहानियों के अनधिकृत अनुवाद कर उनका उपयोग किया था। राजेन्द्र यादव का 'सारा आकाश' कई हफ्तों तक हमारी चर्चाओं का केंद्र-बिंदु रहा। भारतीय स्त्री की समस्याओं को समझने में मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, दीप्ति खंडेलवाल, मालती जोशी आदि की रचनाएँ जिन पक्षों को उजागर करती हैं, उन्हें विश्लेषणात्मक ग्रंथ नहीं उजागर कर पाते। आज जब मैं गरीबी की संस्कृति के वैज्ञानिक विश्लेषण में लगा हूँ, 'मुर्दाघर' और 'अनारो' मेरा साथ दे रहे हैं। योगेश गुप्त का उपन्यास भी इस संस्कृति के मनोभावों का प्रभावी चित्रण करता है। दया पवार का 'अछूत' हिंदी अनुवाद में पढ़ने के बाद अभी-अभी मराठी में दलित साहित्य की प्रतिनिधि पुस्तकों का एक सेट पुणे से खरीदकर लाया हूँ। अल्पसंख्यकों पर बहुत कम लिखा गया है। यशपाल ने 'मेरी-तेरी उसकी बात' में ईसाई समाज के प्रश्नों को उठाया है। मुसलमानों पर 'आग का दरिया' के अलावा मौलिक रूप से हिंदी में राही ने काफी लिखा है और बहुत अच्छा लिखा है। साहित्यकारों को एतराज नहीं होना चाहिए कि उनके लेखन का उपयोग समाजशास्त्रीय अध्ययनों में हो रहा है। साहित्य का मुहावरा समाजविज्ञान के मुहावरे से भिन्न होता है, पर दोनों एक ही यथार्थ तक पहुँचने की कोशिश में रहते हैं। सामाजिक यथार्थ का चित्रण और परानुभूति से उसकी भावभूमि का आकलन, मेरी दृष्टि से, अच्छे साहित्य के एक पक्ष की पहचान है। यह संभव है कि समाज-वैज्ञानिक का मूल्यांकन साहित्यकारों के मूल्यांकन से भिन्न हो, पर मुझे इस बात का गर्व है कि 'राग दरबारी' और 'ज़िंदगीनामा' पर मेरी प्रतिक्रिया वही थी जो अंततः साहित्य अकादमी के निर्णायकों की थी।

अभी-अभी मैंने एक नया रोग पाला है। गाँव का सामान्य पाठक क्या पढ़ता है? और क्यों? यह जानने के लिए मैंने वहाँ के बाज़ारों में बिकनेवाली पुस्तकें इकट्ठी करना शुरू किया है। 'किस्सा तोता मैना' मैंने अभी पहली बार पढ़ी है। 'बैताल-पचीसी' शायद पहले भी पढ़ चुका था। 'हातिमताई', 'चहार दरवेश', 'कटे सिर की दो-दो बातें', 'सारंगा-सदावृक्ष' आदि बड़े

चाव से पढ़ रहा हूँ। इस अध्ययन में मेरे दो उद्देश्य हैं। पहले तो मैं यह देखना चाहता हूँ कि इन पुस्तकों से नवसाक्षरों के लिए लोकरुचि का साहित्य तैयार करने में क्या सहायता मिल सकती है। दूसरे, मैं यह भी जानना चाहता हूँ कि इस साहित्य का लोकजीवन—दृष्टि, मूल्यों और अभिवृत्तियों के निर्माण में क्या योगदान रहा है। प्रबुद्ध साहित्य का अपना महत्त्व है, पर जनरुचि के साहित्य की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। नये साक्षरों की मानसिक भूख हमारे साहित्य की एक बड़ी संभावना है।

समापन के तौर पर मैं मूल प्रश्न का संक्षिप्त-सा उत्तर देने का प्रयत्न करूँगा, वह भी व्यक्तिगत मुहावरे में।

साहित्य की मेरी पहचान क्या है? अच्छा साहित्य वह है जो अपने चुंबकीय आकर्षण से पाठक को अपनी ओर खींचे और पाठक जिसमें डूब जाये, पर जो साहित्य केवल मनोरंजन करता है, उसे शूद्र मान लेना ग़लत होगा। पाठक-केंद्रित साहित्य का मूल्यांकन यह संकेत देता है कि शास्त्रीय मानदंडों पर आधारित वर्गीकरण और स्तरण यथार्थ की अनुगूँज नहीं होते। जो केवल आल्हा-ऊदल की गाथा गाते और सुनते हैं, उनसे हठपूर्वक 'कामायनी' का महाकाव्य के रूप में स्वीकार कराना ग़लत होगा। बहुचर्चित और प्रायः देवस्थान पर प्रतिष्ठित मुक्तिबोध, निर्भय और काका हाथरसी के प्रेमियों के लिए सिर्फ़ अर्थहीन शब्द-योजना के प्रणेता भी हो सकते हैं।

रुचि स्वयं ही परिष्कृत होती जाती है, पर उसके परिष्कार के लिए योजनाबद्ध प्रयत्न भी आवश्यक है। दूरगामी सांस्कृतिक नीति इस क्षेत्र में चमत्कारी परिवर्तन ला सकती है। आवश्यकता है—सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पर्यावरण में तब्दीली की और लेखकों के कम-से-कम एक वर्ग के इस दिशा में प्रतिबद्ध ढंग से काम करने की।

अच्छा साहित्य अपनी जगह स्वयं बना लेता है। उसे स्थायित्व दिलाने में दस्तावेज़ी वक्तव्य, दलगत समर्थन का शोर-शराबा, और नये-नये वाद-प्रतिवाद यदि सहायक होते भी हैं तो केवल अंशतः और थोड़े समय के लिए। साहित्य के अनेक देवादिदेव जीवनकाल में ही अपने इंद्रासन खो बैठते हैं। लंबी भूमिकाओं का शब्दाडंबर पाठकों को उबा देता है और उन्हें चर्चित रचनाओं तक पहुँचने ही नहीं देता। बड़े-बड़े आलोचक बार-बार नाम उछालकर भी साधारण लेखकों को स्थापित नहीं कर सकते।

अंततः साहित्य की सच्ची पहचान है—उसकी मानवीय और सामाजिक संवेदना। मनोरंजन, सामाजिक आलोचना और सांस्कृतिक मूल्यांकन के अतिरिक्त, वह नये क्षितिजों और सीमांतों की खोज को भी प्रेरित करता है। प्रत्यक्ष परिवर्तन में साहित्य की भूमिका सीमित ही होती है, किंतु नयी अभिवृत्तियों और नये मूल्यों के जनक के रूप में उसका महत्त्व असंदिग्ध है।

मुझे दुःख है कि प्रेमप्यारीजी की तरह हिमालय के महात्मा की बूटी देकर मैं आपकी परेशानी दूर नहीं कर सकता। शायद ऐसी कोई बूटी है ही नहीं। हर साहित्य-प्रेमी को यह तलाश खुद करनी पड़ती है। अंततः साहित्य की पहचान एक व्यक्तिगत अनुभव है, बेहद अपना, बहुत ही निजी।

['ओम् प्रकाश सम्मान' के अवसर पर वक्तव्य, कमानी सभागार, नयी दिल्ली]

भारतीय संस्कृति : परिवर्तन की चुनौतियाँ

समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आँधियाँ कई दिशाओं से आ रही हैं—एक ओर, आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है, दूसरी ओर, परंपरा के आग्रह हैं। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन-शैली और नये मूल्य ला रही है, जिन्हें अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क के अपना रहे हैं। इस अंधानुकरण ने एक नयी चिंता को जन्म दिया है—अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की। प्रगति और परंपरा के समन्वय के जो प्रयत्न हुए हैं, उनके अधिकांश परिणाम हास्यास्पद रहे हैं। न हम भारतीय रह गये हैं, न हम सच्चे अर्थों में आधुनिक हुए हैं। छद्म भारतीयता पर हमने छद्म आधुनिकता का लबादा ओढ़ लिया है और अनेक भ्रमों को पालते हुए एक गंतव्यहीन यात्रा पर निकल पड़े हैं। स्थिति और भी उलझन भरी उस समय होती है, जब हमें यह अनुभव होता है कि परंपरा के पास आज के समाज की सभी समस्याओं के हल नहीं और न आधुनिकता के कार्यक्रम में ऐसी शक्ति है कि वह परंपरा की अवहेलना कर समाज को आगे बढ़ा सके। हम अनिर्णय के दलदल में फँस गये हैं और सार्थक विकल्पों की खोज के मार्ग को अवरोधित पाते हैं। हमारे सांस्कृतिक लक्ष्य और साधन, दोनों एक के बाद दूसरे चक्रवात में फँसकर झटके खा रहे हैं। यही है आज के संक्रमण की पीड़ा।

संक्रमण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। उसका हमेशा दुःखदायी होना आवश्यक नहीं है। पारिस्थितिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता बन जाते हैं। मंद गति से होनेवाला अनुकूलन समाज की निरंतरता को प्रभावित नहीं करता; सच तो यह है कि उसके बिना सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक मूल्य, दोनों के विघटित होने का ख़तरा होता है। परिवर्तन को प्रेरित करनेवाले अनेक कारक हो सकते हैं—नयी आवश्यकताएँ, सुरक्षा की पर्याप्त और विश्वसनीय व्यवस्था, अत्यधिक श्रम और एकरसता कम करनेवाली सुविधाएँ, नये प्रतिष्ठादायक उपादान आदि। ऐसे परिवर्तन संस्कृति के नम्य पक्षों में अपेक्षाकृत सरल होते हैं। आधार, विश्वास तथा मान्यताएँ तुलनात्मक रूप से अनम्य होती हैं। उनमें परिवर्तन होता तो है, पर वह समय लेता है। इन पक्षों से अनावश्यक छेड़-छाड़ तीव्र प्रतिक्रिया को जन्म दे सकती है, और उसके परिणामों का पूर्वानुमान कठिन होता है। अन्य संस्कृतियों के तत्त्व और नवाचार उनकी गुणवत्ता के आधार पर अपनाये जाते हैं, कभी-कभी उनके 'नयेपन' और प्रतिष्ठा के लिए भी। यहाँ भी ज़रूरी है कि परिवर्तन किसी समाज पर थोपा न जाये, वह उसके केंद्रीय मूल्यों से टक्कर न ले और समाज को अपनी गति से अन्य सांस्कृतिक तत्त्वों को आत्मसात् करने का अवसर हो। सच तो यह है कि किसी भी संस्कृति में अपने मौलिक तत्त्व थोड़े ही होते हैं, अधिकांश तो बाहर से आते और अपनाये जाते हैं। इस प्रक्रिया में संस्कृति उन्हें अपने साँचे

में ढाल लेती है और इस तरह उनकी उपयोगिता भी बढ़ा लेती है। भारत ने शेष विश्व को क्या दिया? बगदाद के अरब कवि अल-सभादी के अनुसार, तीन चीज़ें—अंक और गणना-पद्धति (दशमलव बिंदु के साथ), शतरंज का खेल और कथाएँ। वोल्तेयर की सूची में इनके अतिरिक्त दो तत्त्व और हैं—चौसर (और पाँसे) का खेल और रेखागणित के आरंभिक सूत्र। बात यह नहीं है कि भारत ने और भी कुछ दिया या नहीं। अन्य सूचियों में योग, खगोलशास्त्र, उदात्त दार्शनिक चिंतन, चरक और शुश्रुत का आयुर्विज्ञान आदि शामिल हैं। तीन या पाँच की संक्षिप्त सूची का महत्त्व यह है कि उसके तत्त्वों का जन्म तो भारत में हुआ, पर उनका प्रसार विश्व-भर में हुआ और वह भी इस तरह कि वे अपनानेवाली संस्कृति के रंग में रँग गये, उसके अनुरूप ढल गये। भारतीय अंकों को तो अरबी अंक ही मान लिया गया था। शतरंज का स्रोत एक है, परंतु उसके रूप और नियम अनेक हैं। जिन देशों ने उसे अपनाया, उन्होंने खेल को नये मोड़ दिये और इस तरह उसे अनेक रूप दिये। भारतीय मूल की कथाओं का आश्चर्यजनक विस्तार हुआ। उनके केंद्रीय अभिप्राय वही रहे, पर कहीं उनका अरबीकरण-फारसीकरण हुआ, और कहीं चीनीकरण। रेखागणित का प्रयोग भी भिन्न प्रयोजनों से हुआ, उसके माध्यम से वास्तु- विद्या के अनेक रूप और उनकी शैलियाँ विकसित की गयीं। चौसर का खेल अब आभिजात्य का चिह्न भले ही न हो, पर सैकड़ों लोकसांस्कृतिक रूपों में वह अभी भी जीवित है। संसार की हर संस्कृति ने बाह्य तत्त्व ग्रहण किये हैं, भारत ने भी। मुख्य प्रश्न इन तत्त्वों के उद्‌गम का नहीं है, प्रश्न है उनके समवाय का, जिससे संस्कृति को उसकी विशिष्टता मिलती है। भारतीय संस्कृति में अनेक अ-भारतीय मूल के तत्त्व हैं पर देशजीकरण की प्रक्रिया द्वारा वे अब भारतीय बन गये हैं।

संस्कृति और परंपरा दोनों मानसिक संकल्पनाएँ हैं। इनका प्रतिरूप या तो समाज—उसके इतिहासकार, साहित्यकार, दार्शनिक और सांस्कृतिक व्याख्याकार स्वयं गढ़ते हैं, या दूसरों के गढ़े प्रतिरूप को ग्रहण कर लेते हैं, या उसमें एक से अधिक प्रतिस्पर्धी प्रतिरूप एक साथ अस्तित्व में रहते हैं। इस तरह के किसी प्रतिरूप में संस्कृति के सभी तत्त्वों का समावेश संभव नहीं होता, उन्हें एक निश्चित योजना के अनुसार सँजोया जाता है। कौन-से तत्त्व चुने जाते हैं और कौन-से छोड़े जाते हैं, वह इस पर निर्भर होता है कि हम बाहरी दुनिया को अपना कैसा चेहरा दिखाना चाहते हैं। युद्ध और शांति, दोनों हमारी परंपरा के अंग हैं। अपने-आपको शांति के अग्रदूत के रूप में प्रक्षेपित करते समय हम साहित्य के वीरगाथा काल का स्मरण नहीं करते, यद्यपि हमें अपने प्राचीन विनाशकारी शस्त्रों की क्षमता पर गर्व है, और विजय की स्मृतियाँ हमें गद्‌गद कर देती हैं।

विदेशियों ने हमारी संस्कृति को आध्यात्मिक कहा और हमने कृतज्ञ भाव से इस निरूपण को स्वीकार कर लिया। सत्य यह है कि हमारे पौराणिक आख्यान प्रणय-प्रसंगों से भरे हैं। अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के क्षेत्रों में हमारी उपलब्धियाँ चमत्कृत कर देनेवाली हैं और संस्कृत (और उससे सबद्ध भाषाओं, जैसे, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश) में अध्यात्मनिरपेक्ष विषयों की अमूल्य निधि है, संभवतः संसार की अन्य क्लासिकी भाषाओं से अधिक। विशेषता यह है कि हमने इन तत्त्वों को एक नैतिक आधार देने का यत्न किया था, जिसका अब अवमूल्यन हो रहा है। आज जो स्थिति उभर रही है, उसमें सूक्ष्म, लघु और क्षेत्रीय अस्मिताएँ

स्वायत्तता की घोषणा कर रही हैं और अपने-आपको देश की विराट् परंपराओं से धीरे-धीरे असंपृक्त कर रही हैं। इस प्रवृत्ति के कतिपय परिणाम विघटनकारी हैं किंतु वह अकारण नहीं है, उसके अपने तर्क हैं। अपने सांस्कृतिक यथार्थ की समझ जरूरी है, इस क्षेत्र में दुराग्रह सांस्कृतिक अराजकता को जन्म दे रहे हैं।

संस्कृति को देखने-समझने के मुख्यतः दो दृष्टिकोण अपनाये गये हैं—वृक्ष-प्रतिरूप और नदी-प्रतिरूप। पहला दृष्टिकोण संस्कृति को वृक्ष-रूप में देखता है—समान जड़ें, एक तना और अनेक शाखाएँ। भारतीय मूल के धर्मों और उनसे जुड़ी संस्कृतियों—बौद्ध, जैन, सिख—में यह उपमा अंशतः सही है। परंतु प्रश्न यह है कि क्या हम चार्वाक, लोकायत, बौद्ध, जैन और सिख मतों आदि को केवल शाखाएँ मान सकते हैं? ये शक्तिशाली प्रति-संस्कृतियाँ थीं, जिन्होंने वैदिक हिंदू धर्म की धारा को एक नया मोड़ देने का प्रयत्न किया; उसके लक्ष्यों और साधनों की नयी व्याख्या की। भारतीय चिंतनधारा में उनके तत्त्व घुल-मिल गये और उनमें से कुछ आज के सांस्कृतिक प्रतिमानों में शीर्ष स्थानों पर हैं। संत कवियों और सुधारकों ने भी नये पंथ बनाये जो मूलतः ऐसी प्रति-संस्कृति के रूप में उभरे, जिसने हिंदू समाज के अमानवीय पक्षों का विरोध किया और सामाजिक न्याय का नारा बुलंद किया। वे पूरी तरह सफल भले ही न हुए हों, परंतु उनसे उपजी सामाजिक क्रांति की चिनगारियाँ निश्चित रूप से प्रभावशाली थीं। कबीर, वसवा, जोतिबा फुले और नारायण गुरु की शृंखला भुलाई नहीं जा सकती। दूसरा प्रतिरूप संस्कृति को एक बड़ी नदी के रूप में देखता है जिसमें अनेक पृथक् उद्‌गमों से आयी धाराएँ मिलकर अंततः एक विशाल धारा—नदी—का रूप ले लेती है। यह ठीक है कि पृथक स्रोतों की धाराएँ मिलती हैं, पर वे अपनी प्रकृति, गुण और धर्म पूरी तरह नहीं त्यागतीं। विशेष स्थितियों में धाराएँ मिलने के बाद अलग भी हो सकती हैं। हिंदू-संस्कृति में अनेक स्थानिक और क्षेत्रीय रंग तथा वैशिष्ट्य हैं। हिंदू और इस्लामी धाराएँ पास आयीं, उनमें आदान-प्रदान हुआ, विश्वास और सहयोग का आधार बना, पर एकाएक उनमें दरार फूटी जो दिन-प्रति-दिन गहरी और चौड़ी होती जा रही है। यह क्यों हुआ? सिखों में अलगाववाद क्यों आया? भारत में जाति-युद्ध का आरंभ क्यों हो रहा है? तीसरा प्रतिरूप 'कंथा' का हो सकता है, जिसका निर्माण अलग-अलग रंगों, आकारों और बुनावटों के कपड़ों को जोड़कर किया गया हो। यह शायद आज के सांस्कृतिक यथार्थ का अधिक विश्वसनीय प्रतिबिम्ब हो—स्थानीय और क्षेत्रीय संस्कृतियों का सभ्यता-सूत्रों से मिलाया गया रूप जिसमें विविधता भी है, एकता भी। इस प्रतिरूप को स्वीकृति नहीं मिल रही है। कारण है कई समूहों का सांस्कृतिक उच्चभाव और कट्टरतावादी हठवादिता। धर्म और परंपरा का राजनीतिकरण आग में घी का काम कर रहा है।

आज देश में अनेक विघटनकारी शक्तियाँ हमारी सांस्कृतिक नींव पर हमला कर रही हैं, पर स्थिति अभी भी नियंत्रण के बाहर नहीं है। देश की जनपदीय संस्कृतियों में अभी भी ऊर्जा और अदम्य जीवन-आकांक्षा शेष है। अप-संस्कृति और उसकी विकृतियाँ अधिकांशतः समृद्ध वर्ग तक सीमित हैं, पर उनका विष धीरे-धीरे लोक-संस्कृतियों की ओर भी फैल रहा है। आज नहीं तो कल, स्थिति गंभीर हो सकती है। हमारे सामने परिवर्तन की कौन-सी चुनौतियाँ हैं?

छद्म आधुनिकीकरण पहली चुनौती है। हमने आधुनिकता के आधार मूल्य—तार्किक

विवेक, परानुभूति, सामाजिक गतिशीलता और सक्रिय सहभागिता—नहीं अपनाये, हम उसके बाह्य उपभोगवादी लक्षणों में ही उलझकर रह गये हैं। इससे व्यक्ति-केंद्रिकता बढ़ी है, सामाजिक सरोकार का ह्रास हुआ है। व्यक्तिगत धरातल पर लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक प्रस्थिति और भूमिकाओं को डगमगा दिया है। धर्म-निरपेक्षता आज के संदर्भ में धर्म-विमुखता बन गयी है। धर्म के आधार-सिद्धांत विस्मृत होते जा रहे हैं, तांत्रिक और चमत्कारी बाबा फल-फूल रहे हैं, क्योंकि वे अच्छे दामों पर स्वार्थों की सेवा में रत हैं। हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गयी है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं। हम इस प्रवृत्ति के असहाय दर्शक मात्र बन गये हैं।

दूसरी चुनौती है—धर्म के दुरुपयोग की। जहाँ एक सशक्त नवजागरण का प्रतिबद्ध प्रयत्न होना चाहिए था, वहाँ हर धर्म को अल्पकालिक राजनीतिक लाभ का साधन बना रहे हैं। धर्म की उदात्त भावनाएँ और मंगलकारी सिद्धांत भुला दिये गए हैं, प्रश्रय दिया जा रहा है विवेकहीन धर्मांधता को। और तीसरी चुनौती है—अविवेकी और निकट दृष्टि की राजनीति की। जहाँ विश्व के सामने युद्ध, पर्यावरण, ऊर्जा, भूख, निवासहीनता और सार्वजनिक स्वास्थ्य के विराट् प्रश्न उत्तरों की खोज कर रहे हैं, हम कुर्सी और सत्ता के खेल में लगे हैं। है किसी को भविष्य की चिंता? समय रहते हमें स्थिति की भयंकरता का जायज़ा लेना है और अपना भविष्य स्वयं अपने हाथों में लेना है।

इक्कीसवीं सदी की चुनौतियाँ

मानवजाति का प्रबुद्ध और चिंतनशील वर्ग आशा और आशंका के मिश्रित भाव से इक्कीसवीं सदी की ओर देख रहा है। एक ओर यदि नयी सदी के तिलिस्म में भोला विश्वास है तो दूसरी ओर, मानवता पर गहराते संकट का चिंताजनक बोध भी है। क्या 1 जनवरी, 2000 का विश्व 31 दिसंबर, 1999 के विश्व से नाटकीय ढंग से भिन्न होगा—शांत, समस्याहीन और सामूहिक रूप से प्रगतिपथ पर अग्रसर? कुछ क्षणों का गंभीर चिंतन स्पष्ट कर देगा कि ऐसी धारणा इच्छाजनित विचारमात्र है। समस्याएँ और संकट, जहाँ थे और जैसे थे, वहीं और वैसे ही रहेंगे, नयी सदी की रहस्यमय शक्ति चमत्कारिक ढंग से उनका विलोप नहीं कर देगी। 'इक्कीसवीं सदी' का मुहावरा आज के संवाद में लाक्षणिक रूप में ही प्रयुक्त होता है—नयी सदी में नयी शुरुआत के अर्थ में। समय की भूमिका, इस संदर्भ में, उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी सार्थक मानवीय हस्तक्षेप की। इतिहास की प्रक्रिया को नया मोड़ देने के लिए आज के संकट की समझ और आनेवाले संकटों का पूर्वानुमान आवश्यक है। यह समझ भविष्य के लिए दूरगामी योजनाएँ बनाने और उनके क्रियान्वयन के लिए प्रशिक्षित योग्यता तैयार करने की आधारभूमि प्रस्तुत करेगी।

आज मानवजाति तीन प्रकार के संकटों का सामना कर रही है। पहला, उसका भौतिक अस्तित्व ही संदिग्ध हो गया है। लुप्त होते जीवों की रक्षा के अभियान चलानेवाला मानव स्वयं संकटग्रस्त जीवन बन गया है। दूसरा, उसकी संस्कृति का आंतरिक और बाह्य संकट है। संस्कृति की जीवनदायिनी ऊर्जा अनेक कारणों से अप्रभावी हो रही है और सांस्कृतिक सहअस्तित्व विनाशक संघर्ष का रूप लेता जा रहा है। तीसरा, नये संदर्भ में व्यक्तित्व का विघटन और विभाजित व्यक्तित्व का उदय एक गहन समस्या के रूप में उभर रहा है। स्थिति ऐसी हो रही है कि व्यक्ति को न अपने गंतव्य का बोध होता है और न वह अपने व्यवहार-प्रकारों का व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन ही कर पा रहा है। इन तीनों प्रकार के संकटों के उलझन-भरे अंतर्संबंधों से परिदृश्य अत्यंत भयावह बन जाता है।

पहले एक दृष्टि भौतिक अस्तित्व के संकट पर। शीतयुद्ध के दौर में चिंता थी कि कहीं मानव अपने आयुधों से अपनी संपूर्ण जाति को ही विनष्ट न कर दे। सैन्य-विशेषज्ञों का अनुमान था कि मानव समुदायों ने इतनी मारक-शक्ति संचित कर ली है, जिससे वे समूची मानव जाति का सोलह से अठारह बार नाश कर सकते हैं। यह संकट तो फिलहाल टल गया है, परंतु विश्वभर में निम्न घनता के अनेक युद्ध अब भी चल रहे हैं जिनके अंत की कोई संभावना दिखाई नहीं पड़ती। नाभिकीय और जैविकीय अस्त्रों का एक बड़ा ज़खीरा अब भी शेष है और चोरी-छिपे उसमें अभिवृद्धि भी की जा रही है। विवेक का बाँध कभी भी टूट सकता है, विशेषकर ऐसी स्थिति में, जब शासन-तंत्र पर कट्टरतावाद, आतंकवाद और

माफियावाद का प्रभाव प्रच्छन्न रूप से बढ़ रहा है। शांति और सहअस्तित्व की मानसिकता का विकास ज़रूरी तो माना जा रहा है, परंतु इस दिशा में किये गए प्रयत्नों की कोई उल्लेखनीय और स्थायी उपलब्धियां नहीं हैं। युनाइटेड नेशंस और युनेस्को का भी राजनीतिकरण हुआ है और उन राज्यों ने, जो इन संस्थाओं को अधिक आर्थिक अनुदान देते हैं, इन्हें अपने राष्ट्रीय हित-साधन का माध्यम बनाने का प्रयास किया है। संसार के गरीब देश आज भी अपने राष्ट्रीय बजट के एक बड़े भाग का व्यय अस्त्र-शस्त्र और अन्य युद्ध-सामग्रियों पर करते हैं जिनके निर्माता और विक्रेता वे ही राष्ट्र हैं, जो विश्व-व्यवस्था और विश्व-शांति के रक्षक बनने का दावा करते हैं। उनका औद्योगिक और सुरक्षा-तंत्र अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। विध्वंसकारी युद्ध से मानवजाति के एक बड़े भाग के उन्मूलन की भयावह संभावना अस्तित्व के संकटों की सूची में शीर्ष स्थान पर है।

अस्तित्व का संकट अन्य दिशाओं से भी उठा है। जनसंख्या के विस्फोट ने यदि एक ओर मानव-समूहों को प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन की ओर प्रवृत्त किया है, तो दूसरी और गंभीर पारिस्थितिकीय असंतुलन को भी जन्म दिया है। संसार के अनेक भागों में भयानक खाद्य-असुरक्षा है। इथियोपिया, सोमालिया, दक्षिण सूडान और कुछ अन्य अफ्रीकी देशों में भुखमरी का तांडव मानवीय अस्मिता पर धब्बा है। इक्कीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण एशिया के सघन जनसंख्यावाले देशों में भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होने की चेतावनी दी जा रही है। भूमि की उर्वराशक्ति अबाध गति से बढ़ती जनसंख्या का भार वहन करने में असमर्थ होगी। अनेक संसाधनों—खनिज, तेल, कोयला, लोहा तथा अन्य धातुएँ आदि—का भंडार बड़ी तेजी से समाप्त हो रहा है। वे आज की सभ्यता के आधार हैं, परंतु न इनका पुनर्नवीकरण किया जा सकता है, न इनके विकल्प उपलब्ध हैं। ऊर्जा का संकट एक गंभीर चुनौती होगा। प्राकृतिक संसाधनों का अदूरदर्शी और विवेकहीन उपयोग भविष्य की संभावनाओं पर गंभीर प्रश्न-चिह्न लगाएगा। पारिस्थितिक असंतुलन उत्पन्न करेगा और पर्यावरण को प्रदूषित करेगा। पृथ्वी का वायुमंडल गरमा रहा है और ओजोन की परतें फटने से उसकी जीवन-वहन करने की क्षमता संदिग्ध होती जा रही है। भविष्यवेत्ताओं के आकलन के अनुसार मानवजाति निरंतर विनाश के पथ पर आगे बढ़ रही है। अस्तित्व के संकट का एक नया आयाम है, अपरिचित जीवाणु (बैक्टीरिया), विषाणु, (वाइरस) और फफूँदी का उद्भव। इनमें से कुछ मानव के मित्र सिद्ध हो सकते हैं, परंतु अनेक का प्रभाव अत्यंत संहारक है। एक दशक से अधिक की अवधि में एड्स का विश्वसनीय उपचार विकसित नहीं किया जा सका है। यह संभव है कि एड्स से भी अधिक भयानक बीमारियों से साक्षात्कार मानवजाति को करना पड़े।

आज के अनिश्चय की स्थिति को बढ़ाने में सांस्कृतिक कारकों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। सांस्कृतिक-सामाजिक विकास और वैज्ञानिक प्रौद्योगिकीय विकास में सुसंगति का न होना अनेक जटिल समस्याओं को जन्म दे रहा है। परंपरा और आधुनिकता की प्रतिस्पर्धी भूमिकाएँ कई उलझनें पैदा कर रही है। उनका अघोषित युद्ध लक्ष्यभ्रम उत्पन्न करता है, जिससे सामाजिक तनाव और संघर्ष बढ़ते हैं। परंपरा और सांस्कृतिक मूल्यों की अवज्ञा विकास-कार्यक्रमों को महँगी पड़ती है; उनकी तीव्र प्रतिक्रिया इन कार्यक्रमों को डगमगा देती है। जातीय भावना का उत्कर्ष सांस्कृतिक अस्मिता की पुनर्स्वीकृति की माँग है। धार्मिक

कट्टरवाद प्रगति और विकास की नीतियों की अपर्याप्तता पर तीखी टिप्पणी है। यह सच है कि उग्र जातीय भावना और धार्मिक उन्माद आज की जटिल समस्याओं का कोई संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं करते, परंतु यह भी उतना ही सच है कि विकास-कार्यक्रम परंपरा की अवहेलना नहीं कर सकते। विकास की धीमी गति राष्ट्रीय धरातल पर असंतोष को बढ़ाती है। धीरज का बाँध टूटने पर विध्वंसकारी विस्फोट होते हैं। संवेदनशील सांस्कृतिक प्रश्नों के विवेकहीन और अदूरदर्शी समाधान भी विनाशक प्रतिक्रिया को जन्म देते हैं। न विकास की उपेक्षा की जा सकती है, न परंपरा की, पर दोनों में सामंजस्य भी स्थापित नहीं किया जा रहा। अंतर्राष्ट्रीयकरण का बढ़ता दबाव सांस्कृतिक प्रश्नों को नये आक्रामक मोड़ दे रहा है।

तीसरा संकट व्यक्तित्व के विघटन का है। आज के समाज की व्यक्ति-केंद्रिकता, धर्मनिरपेक्षता (या धर्मविमुखता) और आत्मनिर्णय की स्वतंत्रता ने सामाजिक अनुशासन और नियंत्रण के तंत्र को जर्जर कर दिया है। व्यक्ति अपनी स्वाधीनता से त्रस्त है। स्वयं चयन के अधिकार और प्रयोगात्मक नवाचारों की आज़ादी ऐसे अनुज्ञात्मक समाज को जन्म दे रहे हैं, जिसमें लक्ष्यों और साधनों की व्याख्या धुँधली हो गयी है। हिप्पी संस्कृति, मादक पदार्थों का बढ़ता प्रसार, बंधनमुक्त यौन-व्यवहार, समलैंगिकता आदि समाज को कहाँ ले जा रहे हैं? नयी नैतिकता दृढ़ सामाजिक आधार नहीं पा रही है। विभाजित मानसिकता एक विचित्र-से भोगवाद को समर्थन दे रही है। संचार-माध्यम भी इस दृष्टि को प्रश्रय दे रहे हैं। व्यापक धरातल पर समाज की सृजनात्मक ऊर्जा का अपव्यय हो रहा है। ये लक्षण सामाजिक व्याधिकी के हैं, जो धीरे-धीरे समाज को विशृंखलित कर रही है।

इक्कीसवीं सदी की सबसे बड़ी चुनौती और आवश्यकता है—उत्तर-जीविता की कुशल और कारगर रणनीति। युद्ध तथा बढ़ती प्रच्छन्न हिंसा, खाद्य-सुरक्षा, जनसंख्या विस्फोट, प्राकृतिक संसाधनों का अबाध दोहन, पारिस्थितिकीय असंतुलन, पर्यावरण का प्रदूषण, ऊर्जा-स्त्रोतों का ह्रास आदि से उत्पन्न अस्तित्व के संकट के निराकरण के लिए राष्ट्रीय प्रयत्न मात्र पर्याप्त नहीं होंगे। ये अंतर्राष्ट्रीय समस्याएँ हैं और संगठित अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्नों के बिना इनका हल संभव नहीं है। सांस्कृतिक पुनर्गठन की समस्या और भी गंभीर है। मानव-समूहों का बढ़ता आकार नये दबाव उत्पन्न कर रहा है। इस स्थिति का सामना करने के लिए संस्कृति के वर्तमान रूप की शक्ति पर्याप्त नहीं है। तीव्र गति की परिवर्तन-प्रक्रिया के प्रबंधन की उपयुक्त प्रविधि भी अभी विकसित नहीं हुई। इससे समाज में विसंगति और विरोधाभास उभर रहे हैं। व्यक्ति पर उनका प्रभाव चिंताजनक है; उसकी खंडित मानसिकता वर्तमान के लिए तो समस्याएँ उत्पन्न कर ही रही है, उससे मानव-समाज के भविष्य पर बड़ा प्रश्न-चिह्न लग रहा है। जड़ों से कटा, दिशाहीन, आत्मशक्तिहीन और अध्यात्मशून्य व्यक्ति समाज का संकट ही हो सकता है।

मानव में ऐसे सुषुप्त अभिलक्षण हैं कि वह आनेवाले संकटों को पहचान सके, उनके कारणों का अध्ययन कर सके और उनसे बचने के सार्थक उपाय कर सके। वह उपयुक्त विकल्प भी खोज सकता है और उन्हें प्रवर्तित करने की प्रविधि भी विकसित कर सकता है। आवश्यकता है इन अभिलक्षणों को दिशा, गति और तीक्ष्णता देने की। इक्कीसवीं सदी के लिए यही शिक्षा की सार्थक भूमिका हो सकती है।

खण्ड—तीन

(प्रो. दुबे से वार्ताएँ)

सहिष्णुता और हमारा लोकतंत्र

□ *वार्ताकार : सुशील राजेश*

प्रश्न—भारतीय संस्कृति का सनातन मूल्य है सहिष्णुता। लेकिन राजनीति, समाज, यानि हर क्षेत्र में सहिष्णुता का लगातार क्षरण जारी है। आप इसकी मूल वजह क्या मानते हैं? बाबरी मस्जिद का ध्वंस, उसके बाद के सांप्रदायिक दंगे, बिखराव, जातीय उग्रवाद के सिलसिले के बारे में आप क्या सोचते हैं?

उत्तर—ऐसा कहा जाता रहा है कि भारतीय संस्कृति उदार, सहिष्णु और सर्वग्राही रही है। इन भावों को मूल्यों के स्तर पर भी प्रतिष्ठित किया गया। लेकिन इतिहास के आलोक में विभिन्न कालखंडों की समीक्षा करने पर इन उदात्त भावों के समानांतर अनुदार, असहिष्णु तत्त्वों की एक निरंतरता मिलेगी। सहिष्णुता के क्षरण का सवाल तब भी मौजूद था। खुद आर्यों ने तब के लोगों के प्रति 'दास', 'अदास', 'दस्यु' सरीखे अपमानजनक शब्दों का इस्तेमाल किया। आज जहाँ जगन्नाथ मंदिर है, वहाँ कभी आदिवासियों का पूजा-स्थल होता था। यही नहीं, बौद्ध विहार तोड़े गये, जैन मंदिर ध्वस्त हुए और इस तरह असहिष्णुता की निरंतरता बनी रही।

प्रश्न—हमारा राजनीतिक चिंतन गांधी जी के इर्द-गिर्द केंद्रित रहा है और गांधी जी की पूरी लड़ाई सहिष्णुता के भाव पर आश्रित थी। इस पर आपकी टिप्पणी? सहिष्णुता के लोप के साथ-साथ हमारी सांस्कृतिक और रचनात्मक ऊर्जा और उसका पोषण करनेवाली ताकतें लगभग नगण्य हो गयी हैं। यदि ऐसा ही रहा तो क्या इस शून्य को भरा जा सकेगा?

उत्तर—लेकिन बाबरी मस्जिद-ध्वंस के बाद का माहौल हमारे समय के इतिहास का ऐसा दौर है, जब उग्रवाद और असहिष्णुता जीवन को निगल रहे हैं। मुझे याद आता है कि जब मोरारजी देसाई पूर्वोत्तर प्रदेशों के दौरे पर गये, तो उन्होंने सार्वजनिक तौर पर कहा था, "तुम लोग गोमांस खाना बंद कर दो, शराब छोड़ दो, वरना हम बंद करा देंगे।" इस पर घोर प्रतिक्रिया हुई। ऐसे बयान सहिष्णुता खंडित करते हैं। हिंदुत्व का अर्थ इस्लाम-विरोध या एक विचारधारा का थोपना नहीं है। लेकिन दिक्कत यह है कि अपने कर्मकांडों को तो हम धर्म मान बैठे हैं और अन्य को हेय समझते हैं। जब वैचारिक और सामुदायिक टकराव की यह स्थिति आती है तो हीन भाववाले या अल्पसंख्यक तीखी अभिव्यक्ति करते हैं।

प्रश्न—सहिष्णुता को क़ायम रखने और उसकी मूल्यगत बहाली के लिए कोई रास्ता सोचते हैं आप?

उत्तर—विवेकानंद का कहना था—"आदर्श भारत में शूद्रों का राज होगा, क्योंकि जनसंख्या और श्रमदान के आधार पर वे इसके हक़दार हैं।" इस संदर्भ में अगड़ी-पिछड़ी जातियों के बीच आज जो सहिष्णुता खत्म हो रही है, उसकी मूल वजह इस दर्शन या सिद्धांत की गलत व्याख्या है। अजीब विडंबना है कि लोकतंत्र के पैरोकार लालू या मुलायमसिंह को

विदूषक मानते हैं, क्योंकि उनका जनाधार दलित और पिछड़ी जातियाँ हैं, जबकि हक़ीक़तन विदूषक तो कांग्रेस या भाजपा में भी हो सकते हैं। दरअसल सांस्थानिक रूप में प्रजातंत्र कैसे चलेगा, हम अभी तक नहीं जान पाये। सिर्फ़ विरोधियों की जीत पर चिल्ल-पों करना जानते हैं। नतीजतन संसद या विधानसभा की असंसदीयता और अश्लीलता एक रुटीन बन गयी है। गांधी का अहिंसापरक सत्याग्रह का दर्शन आज सत्ता के आग्रह में परिणत हो गया है। लिहाज़ा चारों ओर हिंसा, आक्रामकता और विद्रूपता दीख पड़ती है। इन प्रवृतियों पर अंकुश पाने के बाद ही हमारे सनातन मूल्यों की बहाली तय है। इसके लिए चरित्र-निर्माण, पारस्परिकता, नवजागरण और आत्म-विश्लेषण की भावनाएँ अनिवार्य हैं। **(जनसत्ता; 22 जनवरी, 1995)**

यह कैसा राष्ट्रीय विकास है?

☐ *वार्ताकार : विष्णु नागर*

प्रो. श्यामचरण दुबे देश के विख्यात समाजशास्त्रियों में हैं। उनकी पुस्तक 'इंडियन विलेज़' का स्थान समाजशास्त्र की एक क्लासिक कृति के रूप में है। भारत में होनेवाले समाजशास्त्रीय अध्ययन को जिन लोगों ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक उठाया है, उनमें प्रो. दुबे का योगदान है। सत्तर पार कर चुके दुबेजी ने थकना नहीं जाना है। अब भी वे रात-रात-भर जागकर अध्ययन-मनन में लगे रहते हैं।

प्रो. दुबे की विशेषता यह है कि जासूसी उपन्यासों से लेकर 'राग दरबारी' तक, हर तरह की हिंदी में लिखी गयी पुस्तकों में उनकी रुचि है। ये किताबें एक ओर उन्हें लोकमानस को समझने में मदद देती हैं, दूसरी ओर समाज की हलचलों को समझने में उनकी सहायता करती हैं। वह प्रेमचंद, फणीश्वरनाथ रेणु, श्रीलाल शुक्ल, भीष्म साहनी, राही मासूम रज़ा, कृष्णा सोबती की कहानियों-उपन्यासों को साहित्यिक रचना के साथ ही महत्त्वपूर्ण समाजवैज्ञानिक दस्तावेज़ भी मानते हैं। इन रचनाओं को वे शुष्क वैज्ञानिक दृष्टि और कष्टसाध्य सांख्यिकीय विश्लेषण से अधिक प्रामाणिक, अधिक सूक्ष्म, अधिक मार्मिक समाजवैज्ञानिक रचनाएँ मानते हैं। वे खासकर हिन्दी के गद्य-साहित्य से अच्छी तरह परिचित हैं। उदय प्रकाश और वीरेन्द्र जैन तक की रचनाएँ उनकी नज़रों से गुजरी हैं। यह आश्चर्य नहीं कि वे भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के निर्णायक मंडल के सदस्य और बिड़ला प्रतिष्ठान के साहित्यिक पुरस्कार 'व्यास-सम्मान' के निर्णायक मंडल के अध्यक्ष हैं। इससे साहित्य में भी उनकी गति का अनुमान लगाया जा सकता है। दूसरी ओर, समाजशास्त्र की अंतर्राष्ट्रीय दुनिया में उनकी पैठ कितनी गहरी है, इसका अनुमान सिर्फ़ इसी से नहीं लगता कि वे विदेशों में पढ़ा चुके हैं, बल्कि मैडोना पर छपी अत्यंत चर्चित पुस्तक, जिसकी भारतीय भद्रलोक को अब भी तलाश है—उनके पास अमेरिका से समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए भेजी गई है।

प्रश्न—शायद आप उन बिरले समाजशास्त्रियों में हैं, जो समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए साहित्य को प्रमाण मानते हैं। लेकिन इस ओर आपका झुकाव कैसे हुआ?

उत्तर—पहले तो स्पष्ट करूँ कि समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य को प्रमाण मानने वाला मैं बिरला समाजशास्त्री नहीं हूँ। यह काम श्री पूरनचंद्र जोशी ने किया है, योगेश अटल ने किया है, त्रिलोकीनाथ मदान ने किया है।

दरअसल मैं साहित्य के माध्यम से ही समाजशास्त्र की ओर आया। घर में खिलौनों की बजाय पुस्तकें मेरे साथ रहीं। साहित्य का अध्ययन करता रहा। फिर मात्र 18 वर्ष की उम्र में मेरी रचनाएँ तब की सबसे अधिक प्रतिष्ठित पत्रिकाओं 'हंस' तथा 'विशाल भारत' में छपने लगीं। इससे लेखक होने की ख़ुशफहमी भी पैदा हो गयी। साहित्य से लगाव अब भी बना हुआ है। मैंने समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य को बहुत सहायक पाया है। मुझे कुछ समय

अमेरिका के कार्नेल विश्वविद्यालय में पढ़ाने का अवसर मिला। वहाँ मुझे भारतीय परिवार पर एक कोर्स पढ़ाना था। मैंने सोचा कि अगर मैं आँकड़े देकर अपनी बात कहूँगा तो इन छात्रों के सामने भारतीय समाज की जीती-जागती तस्वीर नहीं आ पायेगी। राजेंद्र यादव भले ही अपने उपन्यास 'सारा आकाश' को अपनी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में न मानते हों, मगर मैंने उसे अपने अध्यापन के लिए उपयोगी पाया। इस उपन्यास के साथ उनकी कहानी 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' को मैंने विस्तार से पढ़ाया। मन्नू भंडारी की रचनाएँ भी पढ़ाईं। उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' का भी मैंने अपने अध्यापन में उपयोग किया है। मैंने पाया कि यह तरीक़ा बहुत कारगर रहा है। छात्रों की कोर्स में रुचि बढ़ी है। जब इन रचनाओं को पढ़ाने के बाद मैं विशुद्ध समाजशास्त्रीय सैद्धांतिक प्रश्नों पर लौटा, आँकड़ों पर आया, तब भी उनकी रुचि बनी रही।

वास्तव में सर्जनात्मक लेखक समाज को तीसरी आँख से देखता है। संभव है कि समाज को देखते समय लेखक के अपने पूर्वाग्रह-दुराग्रह भी रहते हों। इसके बावजूद रचना में जीवन का सत्य अभिव्यक्त होता है।

प्रश्न—लेकिन जिस लेखन को आप सामाजिक सत्य के प्रमाण के रूप में देखते हैं, क्या उसकी इस तरह से भी जाँच करते हैं कि स्वयं उसमें जीवन के कितने प्रमाण हैं। यानी प्रमाण स्वयं कितना प्रामाणिक है, इसकी जाँच भी क्या आप करते हैं?

उत्तर—निश्चय ही। जिस तरह हम समाजवैज्ञानिक अध्ययन के लिए सभी तथ्यों को प्रमाण नहीं मानते, उसी तरह सारे साहित्य को भी हम प्रमाण नहीं मानते। मैंने तो लोकसाहित्य को माध्यम बनाकर सबसे पहले समाजवैज्ञानिक अध्ययन किये। लोकसाहित्य अधिकतर हम तक मौखिक रूप में पहुँचा है। यह मौखिकता भी स्वयं अपने-आप में एक प्रमाण है क्योंकि इसमें अतीत और वर्तमान, दोनों की झलक एक साथ होती है।

जब हम आधुनिक साहित्य की ओर नज़र डालते हैं तो उसमें भी ऐसे प्रमाण बिखरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'चंद्रकाता' और 'चंद्रकांता संतति' को लें। वे उस समय की आम चेतना के बहुत अच्छे संदर्शक हैं। इसी तरह भारतीय गाँव का अध्ययन मैंने भी किया है। इस शीर्षक से मेरी पुस्तक के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। मगर 'राग दरबारी' को उपन्यास मानने के अलावा मैं भारतीय गाँव की मानसिकता का बहुत अच्छा समाजशास्त्रीय अध्ययन भी मानता हूँ। इसमें श्रीलाल शुक्ल ने अपनी 'तीसरी आँख' से ग्रामीण समाज का अध्ययन किया है। कृष्णा सोबती के उपन्यास 'ज़िन्दगीनामा' में शायद पाठकीय रुचि का निर्वाह भले बहुत अच्छी तरह न होता हो, मगर ज़िन्दगी को उन्होंने गहराई से देखा और समझा है। नये लेखकों में उदय प्रकाश की कहानियाँ मुझे बहुत आकृष्ट करती हैं। वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'डूब' संभवतः साहित्य की दृष्टि से बहुत सम्मानित रचना न भी रही हो, उसमें बुंदेलखंडी का प्रयोग सामान्य पाठक के लिए बाधा भी पैदा करता हो, लेकिन उसमें लोकमानस की समझ बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त हुई है। विनोदकुमार शुक्ल का उपन्यास 'नौक़र की कमीज़' भी मुझे इस दृष्टि से उल्लेखनीय लगता है। इधर कविताओं से मेरा बहुत सम्पर्क नहीं रहा। इस बीच भारत भवन में मैंने काफ़ी कविताएँ सुनी हैं। इसमें से आधी कविताएँ ही मेरी समझ में आयी हैं। शायद मेरा भावबोध पुराना पड़ गया हो या शायद उन कविताओं में ही कुछ न रहा हो।

प्रश्न—आपने अपने एक पुराने लेख में संकेत किया था कि आपने उन पुस्तकों का अध्ययन आरंभ किया है जो गाँव का सामान्य पाठक पढ़ता है। आप इनके द्वारा जानना चाहते थे कि साहित्य का लोकजीवन दृष्टि, मूल्यों और अभिवृत्तियों के निर्माण में क्या योगदान है। अध्ययन से आप किसी परिणाम पर पहुँचे?

उत्तर—दरअसल यह अध्ययन मैंने अपने एक विद्यार्थी से करवाया था। यह बात 1969-70 की है। यह अध्ययन मध्यप्रदेश के सागर जिले के चार गाँवों तथा रायपुर से कुछ दूर राजिम में शुरू किया गया था। बुंदेलखंड तथा मालवा में भी इस तरह के अध्ययन की योजना थी, मगर सहयोग के अभाव में यह संभव नहीं हो पाया।

हमने पाया कि गाँव के पाठकों की रुचि वैद्यनाथ और डाबर के सूची-पत्रों में भी होती है जिनमें राशिफल और अन्य व्यावहारिक जानकारियाँ होती हैं। पुरानी पाठ्य-पुस्तकें भी वे सँभालकर रखते हैं। दिलचस्प बात यह थी कि इन पाठकों की दिलचस्पी गुलशन नंदा और मेरठ के तमाम इसी तरह के उपन्यासों में अधिक नहीं थी। वे शिवानी के उपन्यास ज़रूर पढ़ते थे। वे मालती जोशी की चीज़ें पढ़ते थे—जिनका भले ही साहित्यिक सम्मान बहुत न हो—मगर गाँव का पाठक उन्हें पसंद करता था। निर्मल वर्मा वहाँ शायद इसलिए लोकप्रिय नहीं थे कि ग्रामीण पाठक की ग्रहणशीलता का धरातल दूसरा है। कृष्णा सोबती भी उनके बीच लोकप्रिय नहीं थीं। शायद उनकी भाषा पाठकों के लिए समस्या थी। देहाती पुस्तक भंडार की पुस्तकों को भी उपयोगी मानकर वहाँ पढ़ा जाता था। सेक्स की किताबों के बारे में लोग ज़्यादा ज़िक्र नहीं करते थे और दिलचस्प बात यह थी कि तब 'दिनमान' को सम्मान के साथ पढ़ा जाता था क्योंकि उसमें जो छपता था, उसका आम जीवन से सम्बन्ध था।

मुझे रोलाँ बार्थ के बजाय सार्त्र का रुख, खासकर ग्रामीण पाठकों के संदर्भ में उचित लगता है कि वही साहित्य काम का है, जिसमें जीवन की समस्याएँ हों, जिसमें आवश्यक जानकारियाँ हों। लेकिन दुःख की बात यह है कि हिन्दी में नवसाक्षरों की रुचि को ध्यान में रखकर लिखा गया साहित्य लगभग नगण्य है। बड़े टाइप में चित्रों के साथ किताबें छापने को नवसाक्षरों की ज़रूरतों को ख़याल में रखना नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न—आपने कहीं लिखा है कि आज के साहित्य में आज का गाँव नहीं है। क्या कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारी पूरी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक दृष्टि में ही गाँव नहीं रह गया है और साहित्य में सिर्फ़ उसी का प्रतिफलन हो रहा है?

उत्तर—मैं कहूँगा कि आज के साहित्य में गाँव अनुपस्थित तो नहीं है लेकिन उसमें गाँव की झलकियाँ-भर हैं। इसका एक कारण तो शायद यह है कि गाँव और दलित पृष्ठभूमि से आनेवाले लेखक हिंदी में बहुत कम हैं। हिंदी में कस्बे के लेखक ज़्यादा मिलेंगे और कस्बे गाँव हैं भी, और नहीं भी हैं। बहुत से लेखक हैं, जिन्होंने परमानुभूति से गाँव को देखा है और अच्छा वर्णन भी किया है लेकिन उनमें रेणु वाली आत्मीयता नहीं है। मेरी समझ में साहित्य में गाँव की अनुपस्थिति का कारण यह है कि गाँव से लेखक नहीं आ रहे हैं।

प्रश्न—दृश्य मीडिया का हमला ख़ासकर हमारी शहरी, खाती-पीती जनता पर हो चुका है। सरकार तक इसके आगे निरुपाय महसूस कर रही है। लेकिन क्या निरुपायता से भी कहीं मुक्ति मिलती है?

उत्तर—यह तो हमें मान ही लेना चाहिए कि टी. वी. हमारे जीवन में है और रहेगा। उपग्रह के माध्यम से टी. वी. इतना फैल चुका है कि उसका प्रसारण रोकना संभव नहीं है। टी. वी. रहेगा तो अपसंस्कृति को बढ़ावा देनेवाले कार्यक्रम भी आयेंगे। इटली में टी. वी. के एक चैनल पर सिर्फ़ नग्नता दिखायी जाती है। जापान में रात दस बजे के बाद नग्न-अर्द्धनग्न कार्यक्रम ही आते हैं। इन चीज़ों के प्रति दर्शक का एक हद तक कुतूहल रहता है। मगर जो बच्चे इस टी. वी. संस्कृति में पलकर बड़े होंगे और हो रहे हैं, उन्हें जवान होने पर शायद कुछ बताने के लिए बचेगा ही नहीं। साहित्यकार को टी. वी. से कड़ी स्पर्धा का सामना तो करना ही पड़ेगा। अमेरिका में केबल टी. वी. पर कुछ अच्छी कविताएँ-कहानियाँ भी सुनने को मिल जाती हैं, मगर 95 प्रतिशत नंगेपन का तमाशा है, तो पाँच प्रतिशत साहित्य और गंभीर कार्यक्रम हैं। साहित्यकार इसी पाँच प्रतिशत में अपनी भूमिका की तलाश के लिए बाध्य हैं।

भारत जैसे देश के लिए यह कठिन चुनौती है। मुझे समझ में नहीं आता कि इस हालत में हमारी जो नयी सांस्कृतिक नीति बनने जा रही है, वह कहाँ तक इस हमले को रोक पायेगी!

प्रश्न—आदिवासी समाज के साथ शेष समाज के सम्बन्धों का रूप क्या हो—यह एक जटिल सवाल है। चूँकि आप भी आदिवासियों के सवालों से बावास्ता रहे हैं, आपकी इस बारे में दृष्टि क्या है?

उत्तर—मैं आदिवासियों को संग्रहालय की वस्तु बनाने के पक्ष में नहीं हूँ। लेकिन क्या हमें उनके जीवन-मूल्यों और संस्थाओं के साथ खिलवाड़ करने का हक़ है? यूरोप-अमेरिका के लोग वैज्ञानिक-तर्कों से हमें गो-मांस खाने की उपयोगिता समझाएँ तो क्या हम इन वैज्ञानिक तर्कों को स्वीकार करते हुए भी गो-मांस खाना पसंद करेंगे? तो हम आदिवासियों से उनके संस्कार का संसार बदलने की माँग कैसे कर सकते हैं? क्या हम विकास के नाम पर उन इलाकों को, उन फ्लैटों, उन घरों को छोड़ना पसंद करेंगे जिनमें हम रह रहे हैं? तब किस तर्क से ऐसी ही माँग हम आदिवासियों से करते हैं, उन्हें उजाड़ते हैं और जब वे इसका विरोध करते हैं तो हम उन्हें किस तर्क से विकास-विरोधी कहते हैं?

वास्तव में हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में आदिवासियों का उतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जितना हमारा। आदिवासी और गैर-आदिवासी, दोनों समाजों ने एक-दूसरे से ग्रहण किया है। ये रक्त-शुद्धता के दावे खोखले हैं। हमारी नसों में भी आदिवासी रक्त बह रहा है।

सवाल यह है कि हमें किसने आदिवासियों के उत्थान का ठेका दे दिया है? पहले हम खुद तो यह देखें कि हमारा अपना कितना उत्थान हुआ है! इस चरित्रवान कहे जानेवाले देश में 1995 तक एड्स भयानक रूप ले लेगा। यह किस तरह के चरित्र का उदाहरण है? गैर-आदिवासी समाज सामाजिक रूप से इतना विकसित नहीं है कि आदिवासियों को उपदेश देने की स्थिति में हो। हम अपनी आत्मछवि के गुलाम होकर ऐसी बातें कहते हैं। हमने भारतीय संस्कृति की अपनी सुविधानुसार परिभाषाएँ गढ़ ली हैं। जिस समाज में बहुएँ जलती हों, स्त्रियाँ अपमानित-प्रताड़ित होती हों, वह किस तरह का विकसित समाज है? हम आदिवासियों को तो अंधविश्वासी कहते हैं, लेकिन साईं बाबाओं और रजनीशों के जरिए क्या हम अपने जीवन में कम अंधविश्वास लाते हैं? इन बाबाओं के पास पश्चिम का

प्रमाण-पत्र है तो यह अंधविश्वास भी आध्यात्मिकता हो जाती है और आदिवासियों का अंधविश्वास, अंधविश्वास रह जाता है।

मैं कहूँगा कि आदिवासी को अपने प्रति किसी तरह का हीन भाव रखने की ज़रूरत नहीं है। हीन भाव तो हममें होना चाहिए कि हमारी नीतियों, हमारे सोच के कारण उन्हें अपनी ज़मीनों से उखड़ना पड़ रहा है, अपने बच्चों को बेचना पड़ा है। मैं पूछना चाहूँगा कि यह कैसा राष्ट्रीय विकास है जिसमें व्यक्ति और समुदाय मर रहे हैं?

प्रसंग—नवनिर्माण का संकट...

उत्तर—पिछले दो दशक में सामाजिक अशांति के परिमाण में वृद्धि हुई है और उसके आयामों में जटिलता आयी है। आज स्थिति गंभीर हो गयी है। कई क्षेत्रों में जातीय भावना—एथनिसिटी—का विस्फोट हुआ है, क्षेत्रीयता ने आक्रामक मोड़ लिया है और धार्मिक संघर्ष तीव्र हुआ है। विकास के नये मुद्दे उठाए गये हैं, जैसे गाँव बनाम शहर। वर्ग-युद्ध के नाम पर जाति-युद्ध की संभावना भविष्य का एक भयावह चित्र प्रस्तुत करती है। यह सब इसलिए हुआ कि तात्कालिक लाभ की राजनीति के बढ़ते वर्चस्व के कारण हमने विराट् सामाजिक उद्देश्यों को ही भुला दिया। विकास की विफलताओं ने आग में घी डालने का काम किया। नेतृत्व ने जनशक्ति और उसकी ऊर्जा को सही दिशा ही नहीं दी। परिणाम है—आज की लक्ष्यहीन और अराजक सक्रियता।

प्रसंग—मंदिर-मस्जिद विवाद...

उत्तर—आस्था और विश्वास के प्रश्न बहुत ही संवेदनशील होते हैं। उन्हें राजनीतिक खिलवाड़ का मुद्दा बनाना घातक हो सकता है। मंदिर और मस्जिद को लेकर हम अंधी गलियों में भटक गये हैं। भावना के आवेग में हम अपना विवेक खो रहे हैं। राम यदि घट-घटवासी हैं तो उनके एक मंदिर के लिए इतना आग्रह क्यों? उनका सच्चा मंदिर तो श्रद्धालुओं का हृदय है जहाँ तुलसीदास और अनेक कवियों ने उन्हें प्रतिष्ठित कर दिया है। फिर राम तो 'मर्यादा पुरुषोत्तम' थे। उनका नाम लेकर हम मर्यादाओं को क्यों तोड़ रहे हैं? भारत के मुसलमान भी राम को उस दृष्टि से क्यों नहीं देखते जिससे अल्लामा इक़बाल ने उन्हें देखा था? इस प्रश्न पर हठधर्मिता विनाशकारी ही हो सकती है। देश और काल की अनिवार्यताओं के अनुकूल हमें परंपरा पर पुनर्विचार करना चाहिए। उदारता, सर्वग्राहिता और पंथ-निरपेक्षता भी भारतीय परंपरा के अंग हैं।

प्रसंग—मण्डल विवाद...

उत्तर—आरक्षण के प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय का निर्णय न किसी की जीत है, न किसी की हार। पता नहीं, मण्डल-विरोधी क्यों हाय-तौबा मचा रहे हैं और विश्वनाथ प्रताप सिंह क्यों खुशी से झूम रहे हैं। सामाजिक न्याय की दिशा में इस आरक्षण का महत्त्व केवल सांकेतिक है। निर्णय में कई अच्छी बातें हैं—आयोगों द्वारा वर्गीकरण के आधार पर पुनर्विचार, पिछड़ों में भी जो पिछड़े हैं, उन्हें आरक्षण देने का सुझाव, वैज्ञानिक-तकनीकी सेवाओं, उच्च शिक्षा और प्रतिरक्षा को आरक्षण मुक्त रखना और पदोन्नति में आरक्षण का प्रावधान न होना। पर इस आरक्षण से कोई सामाजिक क्रांति नहीं होगी। उसके लिए तो मानसिकताओं का बदलना ज़रूरी है। इसके लिए हमें सावधान रहना होगा क्योंकि समाकलित समाज ही पुनर्जागरण का

अस्त्र बन सकता है। सामाजिक न्याय की लड़ाई में हमें और भी मंज़िलें तय करनी हैं।

सम-सामयिक परिदृश्य निश्चित रूप से चिंताजनक है। हमारे सामाजिक चरित्र में अनेक दोष आये हैं और अनुशासन का ह्रास हुआ है। राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं ने अपनी विश्वसनीयता खो दी है। सामाजिक सरोकार राजनीतिक छल-कपट का मुहावरा बन गया है। समाज भोगवादी बनता जा रहा है। देशज-चिन्तन का अवमूल्यन हुआ है, कर्मठता में कमी आयी है। हम पश्चिम की नकल बनते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती, पर हम नये बुद्ध या गांधी की प्रतीक्षा भी तो नहीं कर सकते। नवजागरण की शुरुआत तो हमें ही करनी है। अस्तित्व का संकट नवनिर्माण की प्रेरणा बन सकता है।

(नवभारत टाइम्स; 29 नवंबर, 1992)

'मैं प्रश्न खड़े करने में विश्वास करता हूँ'

☐ ***वार्ताकार : प्रयाग शुक्ल***

सुविख्यात समाजविज्ञानी, विचारक और साहित्य-अध्येता प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे से हमारी यह बातचीत उनके निवास पूर्वाशा, मयूर विहार, दिल्ली में हुई। यहाँ वह पाँचवीं मंज़िल के अपने फ्लैट में, पिछले पाँच वर्षों से रह रहे हैं। वैसे दिल्ली उनके लिए नयी नहीं है। यहाँ वह पहले भी रह चुके हैं। दिल्ली के साहित्य-संस्कृति जगत् को तो उनके यहाँ रहने का लाभ मिल ही रहा है, देश-विदेश के वैचारिक जगत् में भी उनकी सक्रिय भागीदारी बनी हुई है।

72 वर्षीय श्री दुबे अब भी काफ़ी यात्राएँ करते हैं। वह कहते हैं; 'यात्राएँ करना मुझे अच्छा भी लगता है।' ज्ञानपीठ के मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित निबंध-संग्रहों की उनकी पुस्तक 'परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति' की कुछ चीज़ें भी, दिल्ली के अलावा भोपाल, जबलपुर में आयोजित व्याख्यानमालाओं के लिए ही लिखी गयी थीं। आगामी 28 अक्टूबर को शिमला में हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित दार्शनिक 'विमल मतिलाल व्याख्यानमाला' की तैयारी में इन दिनों श्री दुबे लगे हुए हैं। इन व्याख्यानों में भी वह परम्परा, संस्कृति और विकास के प्रश्नों को नये सिरे से उठाना चाहते हैं। वाणी प्रकाशन, दिल्ली से शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली उनकी नयी पुस्तक आधुनिकता और विकास के प्रश्नों को लेकर ही है। यह उनके निबंधों का संग्रह नहीं है बल्कि समूची पुस्तक आधुनिकता और विकास के प्रश्नों की एक क्रमबद्ध विवेचना है। हाँ, नयी विश्व-व्यवस्था और विश्व की नयी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, वह इसके अंत में एक और अध्याय जोड़ना चाह रहे हैं।

दरअसल प्रो. दुबे के समाजवैज्ञानिक अध्ययनों की विशेषता ही यह रही है कि वह परम्पराओं, संस्कृतियों और समाज के प्रणालीबद्ध रूपों के अध्ययन के साथ ही उनमें आये नये परिवर्तनों को भी बराबर जाँचते-परखते रहे हैं और अपने अध्ययनों को वर्तमान से बराबर जोड़ते रहे हैं। वर्तमान से उन्हें जोड़ने का अर्थ यह भी रहा है कि उनके अध्ययन नवीनतम जानकारियों से भी लैस रहे हैं। इसीलिए पाठक को कुछ ऐसा अनुभव होता है कि परम्परा, संस्कृति और इतिहास के प्रश्नों को वह आज की रोशनी में भी देख पा रहा है। प्रो. दुबे का मानना है कि 'समसामयिक संवाद में परम्परा की केन्द्रीयता असंदिग्ध है और आधुनिकता तथा उत्तर आधुनिकता के दौर में भी परम्परा (या परम्पराओं) की परख निरंतर करते रहना चाहिए।' वह कहते हैं : 'सांस्कृतिक अस्मिताओं के जो आन्दोलन नयी तरह से और जगह-जगह उभर रहे हैं, उनकी पड़ताल भी हम उनकी परम्पराओं को जाँचे बिना कैसे कर सकेंगे। अस्मिताओं की नयी खोज या स्थापना, कट्टरवादी आग्रहों को वहीं जन्म देती है, जहाँ परम्परा (या परम्पराओं) की अनेदखी की जाती है। परम्पराओं के सम्यक् मूल्यांकन के बाद जो सामाजिक-राजनीतिक

निर्णय लिये जाते हैं, वे ज़्यादा मानवीय होते हैं और नयी पीढ़ियों के ज़्यादा काम भी आते हैं।'

विकास के प्रश्नों को भी वे परम्परा से काटकर नहीं देखते। उनका कहना है : 'कई आधुनिक प्राविधियों और उपकरणों का इस्तेमाल अब विभिन्न समाज कर रहे हैं—हम भी कर रहे हैं—और इन्हें छोड़कर अब शायद चला भी नहीं जा सकता। पर इनका इस्तेमाल करते हुए अगर हमने 'परम्परा' और 'प्राविधि' को दो अलग-अलग खांचों में रखना और देखना शुरू कर दिया तो वह अच्छा नहीं होगा। इनका अंतरावलंबन भी ज़रूरी है। अगर हम आधुनिकतावादी आग्रहों की अति में परम्परा की अनदेखी करेंगे तो फिर यह न भूलें कि परम्परा में प्रताड़ना की शक्ति भी होती है। वह पलटकर हमें किसी-न-किसी रूप में प्रताड़ित अवश्य करेगी। इसी तरह अगर हम किसी परम्परा के प्रति केवल अंधश्रद्धा रखेंगे, तो वह भी अच्छी चीज़ नहीं होगी क्योंकि कोई भी परम्परा अपने-आपमें जड़ नहीं होती, न ही एक ही जगह स्थिर रहती है।'

विकास के प्रश्नों के संदर्भ में वह परम्परा और संस्कृति की नयी परख पर जोर देते हैं। वह कहते हैं : 'हर देश की स्थिति अलग है। उनकी तो और भी अलग है, जो अभी-अभी देश बने हैं। सबकी अपनी समस्याएँ हैं—अलग-अलग तरह की। इसीलिए विकास का कोई एक ही मॉडल स्वीकार्य नहीं हो सकता। नयी विश्व-व्यवस्था में अगर इस बात की अनदेखी की गयी तो इसके परिणाम भयंकर हो सकते हैं। हर संस्कृति के पास कुछ-न-कुछ देने के लिये है।'

यूनेस्को की ओर से 'संस्कृतियों के भविष्य' को लेकर जो विचार-मंथन हो रहा है, उसे वह शुभ संकेत मानते हैं। लैटिन अमेरिका और अफ्रीका की संस्कृतियों को लेकर परिसंवाद/सम्मेलन हो चुके हैं। एशिया पर भी विचार होना है। इसमें प्रो. दुबे को भी भागीदारी करनी है। निकट भविष्य में यह सम्मेलन संभवतः पेरिस में होगा।

प्रो. दुबे देशज स्थितियों और विचार-पद्धतियों पर भी जोर देते हैं। वह कहते हैं : 'आज हमारे कई बुद्धिजीवी फूको, लांका, देरिदा को तो बार-बार उद्धृत करते हैं, पर अपने यहाँ की विचार-पद्धतियों, विचार सरणियों और सांस्कृतिक-बौद्धिक तेजस्विता से पूरी तरह परिचित नहीं होना चाहते।' प्रो. दुबे भक्तिकाल के संत-साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन को आज भी बहुत प्रासंगिक मानते हैं। उसमें सामाजिक दृष्टि की भी जो बहुलता रही है, वह उन्हें आकर्षित करती है : 'सामाजिक न्याय के प्रश्नों को, स्त्रियों की स्थिति को, संत-साहित्य में जिस तरह उठाया गया है, उसका नया अध्ययन ज़रूरी है। मराठी, कन्नड़ आदि के संत-साहित्य को भी अगर उत्तर भारत के संत-साहित्य से जोड़ कर देखें तो एक व्यापक फलक बनता है। इसने शास्त्रीय परम्परा और लोकपरम्परा के बीच जो सेतु बनाया वह भी बड़े काम की चीज़ है।'

प्रो. दुबे धर्मनिरपेक्षता को धर्मविमुखता बना देने के पक्ष में नहीं हैं–'धर्म का जो उदार, मानवीय, आध्यात्मिक चरित्र रहा है, उसने करोड़ों की आत्मिक भूख शांत की है। क्या इसकी अनदेखी हमें करनी चाहिए?'

वे जातिवादी उभार से भी चिंतित हैं : 'लोहिया ने तो वर्गविहीन, जातिविहीन समाज की कल्पना की थी, पर आज कुछ राजनेता, जो अपने को समाजवादी या लोहिया का अनुयायी बताते हैं, एक नया जातिवाद बना रहे हैं। नौकरियाँ तो हैं नहीं, पर नौकरियों के नाम पर राजनीति हो रही है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है।'

आदिवासियों और आदिवासी समाजों के अध्ययन में प्रो. दुबे की शुरू से दिलचस्पी रही है और इस क्षेत्र में उनका कामकाज सम्मान की नज़रों से देखा जाता है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों से लेकर बस्तर के आदिवासियों तक को समाज की मुख्यधारा में लाने की जो तथाकथित कोशिशें हो रही हैं, उन्हें वे कुछ दुविधा और संदेह की नज़रों से देखते हैं : 'आदिवासी-परम्पराओं और संस्कृतियों पर कोई रोलर नहीं चलाया जा सकता। संस्कृतियों और जीवन-पद्धतियों को ठीक से समझे बिना आरोपित विकास की जो कोशिशें होंगी, वे भारी तबाही मचायेंगी। विकास की प्रक्रियाएँ पारदर्शी होनी चाहिए—जिन्हें सब देख-समझ सकें और सब उनके पक्ष-विपक्ष में कुछ कह सकें। शासन-तंत्र और व्यवस्थाएँ अगर विकास की प्रक्रियाओं को अपारदर्शी रखकर केवल मनमानी करेंगे, तो इससे लोग तो उजड़ेंगे ही, मानव हित की कई चीज़ें भी उजड़ेंगी।'

'आप अपने समाज शास्त्रीय अध्ययन में साहित्यिक साक्ष्यों का भी इस्तेमाल करते हैं?'

इसके जवाब में प्रो. दुबे कहते हैं—'मैं इसे ज़रूरी भी मानता हूँ। यह उपयोगी भी है। जब मैं कार्नेल विश्वविद्यालय में काम कर रहा था तो वहाँ मैंने राजेन्द्र यादव के 'सारा आकाश' को और हवाई में श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' को भी समाज-अध्ययन और सामुदायिक विकास अध्ययन-केन्द्र में रखा। मैंने पाया कि यह बहुतों को रुचिकर लग रहा है। साहित्यिक कृतियों के उदाहरण किसी भी तरह के अध्ययन में बड़े काम के हैं। जहाँ तक मेरा सवाल है, किताबों का साथ बराबर रहा है। मैं उन्हें सच्चा साथी मानता भी हूँ। हिन्दी के कथा-साहित्य में मेरी दिलचस्पी ज़्यादा रही है। कविताएँ भी पढ़ता रहा हूँ। पर इधर की कविताओं के साथ मैं अपना संवाद अक्सर बना नहीं पाता। हम जिस भाषा के हैं, उस भाषा के साहित्य में हमारी दिलचस्पी होनी ही चाहिए। इधर के प्रकाशित उपन्यासों में कृष्णा सोबती का 'दिलो दानिश' मुझे बहुत अच्छा लगा है। सुरेन्द्र वर्मा के 'मुझे चाँद चाहिए' और मनोहर श्याम जोशी के 'हरिया हरक्यूलिस की हैरानी' को मैंने बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा है। भाषा बड़ी चीज़ है। उसमें ही तो हम कोई अभिव्यक्ति कर पाते हैं। इसीलिए अंग्रेज़ी का भी व्यवहार करते हुए, मैंने बराबर हिन्दी में भी लिखा है।

'टी.वी. को तो शायद अब हम अपने घरों से नहीं निकाल सकते—पर किताबों के लिए बराबर जगह बना सकते हैं। वह बनानी भी चाहिए। ज़रूरत इस बात की है कि हम सवाल उठाते रहें। सवालों की अपनी उपयोगिता है। यह कभी समाप्त नहीं होती। चीज़ों के आसान हल कभी नहीं होते। पर हम सवाल उठाते रहें, तो उनके हल खोजने में मदद ज़रूर मिलती है।'

(नवभारत टाइम्स; 22 सितंबर, 1994)

'कुछ को सँजोना और कुछ को खारिज करना होगा'

☐ *वार्ताकार : विमल झा*

प्रश्न—हिन्दीभाषी क्षेत्र में सांस्कृतिक शून्य की स्थिति दिखायी पड़ रही है। जहाँ गैर-हिन्दीभाषी प्रदेशों में संस्कृति का एक सुगठित स्वरूप दिखता है, वहीं हिन्दीभाषी क्षेत्र में इसका अभाव महसूस होता है ?

उत्तर—हिन्दीभाषी क्षेत्र में सांस्कृतिक शून्य की स्थिति मैं नहीं मानता। यहाँ भी लोगों की संस्कृति के प्रति आस्थाएँ हैं। जहाँ तक लोकसंस्कृति का सवाल है, तो उसमें आज भी ऊर्जा एवं विविधता मौजूद है। कुछ नवाचार भी हिन्दू-संस्कृति में हैं। जन-जन की जो संस्कृति है, उसका लोकस्वरूप कहीं भी कमज़ोर नहीं दिखता। बिहार में भोजपुरी, मैथिली भाषा व उससे जुड़े लोकशैली का पर्याप्त प्रचलन है। मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ के लोगों में अपनी संस्कृति से काफ़ी मोह है। वे छत्तीसगढ़ी भाषा का प्रयोग करते हैं। वहाँ सांस्कृतिक गतिविधियाँ प्रचुर मात्रा में दिखायी पड़ती हैं। पंडवानी शैली के कई गायकों ने तो इसे राष्ट्रीय धरातल भी दिया है।

उत्तर प्रदेश में यह स्थिति तो नहीं है, लेकिन यहाँ भी कबीर की रचनाएँ या वे रचनाएँ, जिनसे कबीर का नाम जुड़ा है, काफ़ी लोकप्रिय हैं। आम घरों में रामचरितमानस का पाठ भी होता है।

लोकसंस्कृति के स्तर पर परम्पराएँ जीवित हैं, लेकिन प्रबुद्ध वर्ग के स्तर पर स्थिति वास्तव में चिंताजनक है। संपूर्ण हिन्दीभाषी प्रदेश के बारे में कुछ कहना तो कठिन है लेकिन राजधानी और आसपास के हिन्दी क्षेत्र में छद्म आधुनिकता के प्रति मोह ज़्यादा ही हो गया है। बंगाल में भी क्लब की संस्कृति प्रचलन में है, लेकिन वहाँ का प्रबुद्ध वर्ग अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति जागरूक है। केरल, कर्नाटक और अन्य दक्षिण भारतीय प्रदेशों में उच्च तबके के लोग भी अपने सांस्कृतिक तत्त्वों को बनाये रखने में रुचि लेते हैं, लेकिन हिन्दीभाषी क्षेत्र के प्रबुद्ध वर्ग में छद्म पश्चिमीकरण एवं छद्म आधुनिकता इतनी ज़्यादा है कि अपनी संस्कृति को बनाये रखने में उनकी रुचि न के बराबर है।

प्रश्न—सांस्कृतिक शून्य की स्थिति आप नहीं मानते, लेकिन प्रबुद्ध वर्ग की अपनी संस्कृति से दूरी को आप स्वीकार करते हैं। अन्य क्षेत्रों में हिन्दीभाषी प्रदेश का योगदान उल्लेखनीय रहा है, लेकिन संस्कृति के स्तर पर जो ठहराव या अंधानुकरण की स्थिति है, उसके क्या कारण हैं ?

उत्तर—देखिये, कुछ लोग हिन्दी प्रदेशों को 'कॉउ बेल्ट' कहते हैं, लेकिन इस बात को मैं नहीं मानता। सृजनात्मकता की बात हो या साहित्य और शिक्षा का क्षेत्र, इसमें हिन्दीभाषी प्रदेश की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है और अभी भी है। इन क्षेत्रों में जिन लोगों ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर

काम किया है, वे या तो हिन्दी प्रदेश के हैं या हिन्दीभाषी प्रदेश में अन्य प्रदेशों से आकर काम करनेवाले लोग हैं। संस्कृति के अन्य आधार-तत्त्वों की बात करें, जैसे—कला, नृत्य-संगीत, नाट्य-शैली या मंचन आदि की तो स्थिति ज़रूर कमज़ोर है।

अब कारणों की पड़ताल की जाये, तो मुझे तो यह लगता है कि यहाँ के लोगों का शायद अपनी सांस्कृतिक अस्मिता में विश्वास नहीं रहा। अपने को जन से जोड़ने की बजाय विशिष्ट होने की प्रवृत्ति इनमें कुछ ज़्यादा है। यह प्रवृत्ति रहन-सहन में भी झलकती है। दक्षिण के उच्चवर्गीय घरों में भी चटाई बिछाने का प्रचलन है, जबकि हिन्दी प्रदेशों में विलासिता की प्रवृत्ति ज़्यादा दिखती है। मेरा तो मानना है कि अपनी संस्कृति की जड़ें जितनी गहरी होनी चाहिए थीं, उतनी हैं नहीं। दूसरी संस्कृतियों से कुछ लेना अनुचित तो नहीं है, लेकिन उनका वर्चस्व स्वीकृत करना ग़लत है।

हिन्दी-भाषी क्षेत्र में 'यूथ कल्चर' जो एम. टी. वी., वी. टी. वी. और स्टार टी. वी. आदि से प्रेरित और प्रोत्साहित हो रहा है, वह भी कहीं अपनी संस्कृति से कटे होने का ही परिचायक है।

प्रश्न—अन्य क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त करने के बावजूद सांस्कृतिक स्तर पर इतना पिछड़ापन कुछ आश्चर्यजनक नहीं लगता ?

उत्तर—क्यों नहीं लगता, लेकिन इसका प्रमुख कारण अनुकरण की प्रवृत्ति ही है। मराठी के विचारवान पत्रकार प्रफुल्ल बिदवई ने महाराष्ट्र के बारे में लिखा था, कि एक समय के बाद संभव है कि मराठी में चिंतन न हो सके या विचार न किया जा सके। लेकिन हिन्दीभाषी उनसे भी आगे बढ़ गये हैं और वे बाहर के विचार, चिंतन और संस्कृति को ज़रूरत से ज़्यादा ही स्वीकार करते हैं। ज़रूरत इस बात की है कि देशज चिंतन को आधार मानकर वैचारिक चिंतन का विकास किया जाये। हाँ, देशज और पाश्चात्य चिंतन में समन्वय की आवश्यकता से मैं इनकार नहीं करता, लेकिन स्थिति 'बोल्ड ऑउट' की है। अपनी चीज़ों को एकदम से छोड़कर बाहर की चीज़ों को अपनाने की कोशिश की जाती है।

प्रश्न—इस स्थिति में आप हिन्दीभाषी क्षेत्र में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की ज़रूरत महसूस करते हैं ?

उत्तर—देखिये, हिन्दीभाषी क्षेत्र या प्रदेश को लेकर कई तरह के विचार चर्चा में रहे हैं। डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी जाति की बात कहते हैं। उनके तर्क का आधार तो है, लेकिन जब वे एक हिन्दी प्रदेश बनाने की बात करते हैं, तो वह व्यावहारिक नहीं लगता। क्योंकि जिसे हिन्दी प्रदेश माना जाता है, उसमें भी सांस्कृतिक विविधता है। इस विविधता को समझना ज़रूरी है। इस विविधता में हस्तक्षेप न हो और एकरूपता की बात न की जाये तो वह ज़्यादा अच्छा है। हिन्दी भाषा को प्रमुखता देने की बात तो जँचती है, लेकिन अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ, जैसे—भोजपुरी, मैथिली, अवधी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी आदि भाषाओं के विकास को भी स्वीकार करना होगा।

बहुत बड़ा प्रदेश बनाने के और भी खतरे हैं। हिन्दी जाति को अगर मिला दिया गया, तो उसमें वर्चस्ववादी प्रवृत्तियाँ बढ़ सकती हैं। हमारे लोकरंग की विविधता को भी ख़तरा पहुँच सकता है। हमें दो काम करने हैं—एक तो विविधता बरकरार रहे, यह ध्यान देना है। दूसरे, जिन स्थानों पर एक मानक भाषा का प्रयोग होने लगा है, वहाँ वह हो, लेकिन उसमें

स्थानीय मुहावरों और लोकरंग का समावेश भी ज़रूरी है। रामविलासजी तो कम्युनिस्ट रहे हैं। लेनिन ने भी सांस्कृतिक स्वायत्तता पर ध्यान दिया था। हिन्दी जाति की एकता से क्षेत्रीय स्वायत्तता के ख़तरे पर रामविलासजी को भी सोचना होगा। जहाँ तक सांस्कृतिक पुनर्जागरण की बात है, तो यह कोई अल्प अवधि की प्रक्रिया तो है नहीं।

प्रश्न—हिन्दीभाषी क्षेत्र में सांस्कृतिक संकट के मूल में क्या कुछ आर्थिक कारक भी हैं? मसलन इस क्षेत्र का आर्थिक पिछड़ापन भी क्या इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है?

उत्तर—कहीं अप्रत्यक्ष रूप से होता हो, लेकिन संसाधनों में कमी को इस सांस्कृतिक संकट के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। केवल उच्च-आर्थिक स्तर के लोग अनुकरण की पद्धति अपनाते, तो यह कहा जाता, लेकिन यहाँ तो आर्थिक रूप से कमज़ोर व्यक्ति में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

हिन्दीभाषी क्षेत्र में सांस्कृतिक संकट के लिए मुग़ल शासन का प्रभाव भी ज़िम्मेदार है। मुग़ल शासन को इसी प्रदेश ने ज़्यादा क़रीब से झेला। इसी समाज ने उसकी कुछ मान्यताओं को मज़बूरी में अपनाया। अन्य प्रदेशों पर भी मुग़ल शासन का प्रभाव था, लेकिन उत्तर भारत या हिन्दी प्रदेशों में तो यह दैनिक संपर्क की समस्या रही। यहाँ वर्चस्व को स्वीकार करना मजबूरी थी तो ऐसा किया गया और अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए अपनी संस्कृति के तत्त्व को भी बचाये रखने की कोशिश की गयी। यहीं घालमेल हुआ, और इसी का परिणाम है कि अन्य प्रदेशों में विवाह आदि के अवसरों पर दूल्हा पारंपरिक वेशभूषा में दिखता है, जबकि हिन्दी प्रदेशों में दूल्हा सूट पहन लेगा, तलवार भी बाँध लेगा और घोड़ी पर भी चढ़ जायेगा।

प्रश्न—सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रयासों का स्वरूप क्या होना चाहिए?

उत्तर—देखिए, किसी बिगड़ी हुई स्थिति में सुधार हो, यह जादू की छड़ी घुमाकर तो संभव है नहीं। एक आंदोलन तो चलाना ही पड़ेगा। सबसे पहले हमें अपनी पहचान बचानी है। इसके लिए व्यक्तिगत और सामूहिक, दोनों स्तरों पर प्रयास ज़रूरी है। व्यक्तिगत स्तर पर परंपरा से जुड़कर जीने की पहल करनी होगी और परंपरा के कुछ तत्त्वों को सँजोना और कुछ को ख़ारिज करना होगा। सामूहिक दबाव इस तरह विकसित करने होंगे कि जो दिखावा और अंधानुकरण आज गर्व का विषय है, उस पर हम लज्जित होने लगें। ऐसा सामाजिक पर्यावरण हमें बनाना होगा। सिद्धांत और व्यवहार में जो अंतर है उसे दूर करने के गंभीर प्रयास भी करने होंगे।

(राष्ट्रीय सहारा; 18 फरवरी, 1995)

'संसार को अलविदा कहते समय'...

☐ *वार्ताकार : राजेन्द्र रंजन तिवारी*

प्रश्न—क्या कुछ छूटा रह गया, जो आपने अभी तक नहीं किया?

उत्तर—कुछ महत्त्वपूर्ण छूटा रह गया हो, इसका एहसास मुझे नहीं है। जीवन से जो कुछ भी मैंने माँगा, जीवन ने मुझे दिया। मेरे सामने कोई महत्त्वपूर्ण एजेंट न रहा, और न है। लिखना हिन्दी से आरम्भ किया था, परन्तु मानव-विज्ञान और समाजशास्त्र की अनिवार्यता थी कि अंग्रेज़ी में लिखा जाए। विदेशों से भी मेरी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, मेरे लेखन का भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद हुआ, लेकिन एक बात मुझे कचोटती रही कि जितना हिन्दी में मुझे लिखना चाहिए था, उतना नहीं लिख पाया। पिछले पाँच वर्षों से हिन्दी में ही लिख रहा हूँ। आजकल परम्परा पर दिए गये अपने भाषणों का संग्रह तैयार करने में लगा हूँ, जिसमें से सात भाषण तैयार हो चुके हैं, तीन बाक़ी हैं। इसके अलावा साहित्य के सामाजिक संदर्भों पर हिन्दी में एक पुस्तक लिखना चाहता हूँ। हिन्दी-निबन्ध भी समय-समय पर लिखता रहा हूँ। उनका पुस्तकाकार-संग्रह बनाने पर ध्यान दे रहा हूँ, शायद वह भी छूटा न रह जाये।

प्रश्न—जीवन के बारे में आप किस तरह सोचते हैं?

उत्तर—मेरा ख़याल है कि भारतीय बौद्धिक वर्ग जीता कम है, जीवन का विश्लेषण अधिक करता है। मैं अपने जीवन के बारे में कुछ अधिक नहीं सोचता। सामाजिक सरोकार अवश्य हैं। समाज में बढ़ता शोषण और उत्पीड़न मुझे चिंतित करता है। बीमारियाँ भयंकर हैं, उनका इलाज उनसे भी भयंकर है। दलितों और आदिवासियों के साथ धोखा हुआ। इन वर्गों के लिए आरक्षण की लागत और लाभ का विश्लेषण नहीं हुआ और हम पिछड़े वर्गों को भी आरक्षण देने के लिए मैदान में कूद पड़े। इसका क्रियान्वयन किस प्रकार होगा, इस पर हमने विचार नहीं किया। जिस जाति-युद्ध की शुरुआत हुई है, उसकी अंतिम परिणति क्या होगी? भविष्य का एक भयावह स्वरूप मेरे सामने उभरता है, जो मुझे और भी चिंतित करता है। छद्म आधुनिकीकरण हमें लक्ष्य-भ्रष्ट कर रहा है। साथ ही हिन्दुत्व का नारा जिस रूप में उठाया जा रहा है, वह न तो हिन्दू सांस्कृतिक मूल्यों की चिन्ता करता है, और न ही उसमें हिन्दू समाज की संरचना की समझ है। धर्म को सेमेटिक रूप देने के प्रयत्न शायद एक नये गृह-युद्ध का आरम्भ करें। स्थिति आज गम्भीर है, कल भयंकर हो सकती है। इन्हीं चिंताओं के बीच जीता हूँ और आज के भारतीय जीवन को देखता हूँ।

प्रश्न—आपके एकान्त में कौन होता है?

उत्तर—एकान्त के लिए अभ्यस्त हो चुका हूँ। मसूरी, शिमला, जम्मू और भोपाल में पारिवारिक जीवन तो बस दीपावली और गर्मी की छुट्टियों में ही नसीब हो पाता था। बड़े

मकान के अँधेरे बंद कमरे जीवन का अंग बन गये थे। कई बार धर्मवीर भारती की एक पंक्ति याद आती है—

"आज मैं भी नहीं अकेला हूँ,
शाम है, दर्द है, उदासी है।"

दर्द और उदासी की दवा थीं पुस्तकें। सामाजिक विज्ञान की पुस्तकें तो पढ़ता ही रहा हूँ, साहित्य भी मेरा शौक़ रहा है और नयी-नयी पुस्तकें पढ़ने को मिलती रही हैं। साहित्य के साथ इस 'अफेयर' ने एकान्त को दुःखदायी होने से बचा लिया।

प्रश्न—एकान्त के खालीपन को आप किस तरह जीते हैं?

उत्तर—मेरे एकान्त में खालीपन नहीं है। मेरी जीवन-शैली दूसरों से थोड़ी हटकर है। विश्लेषण और विचार की प्रक्रिया कुछ ऐसी है कि वह काम के समय और फुरसत के समय में अन्तर ही करने नहीं देती।

प्रश्न—आपका प्रिय स्वप्न क्या है और दुःस्वप्न क्या है?

उत्तर—इंद्रधनुषी सपने देखने की उम्र तो चली गयी। एक आशा ज़रूर है कि नयी पीढ़ी प्रतिबद्ध भाव से अपना काम करे। दुःस्वप्नों के बारे में क्या कहूँ? समकालीन भारत ही अब एक विराट् दुःस्वप्न बन चुका है।

प्रश्न—दूसरों के व्यक्तित्व में आप क्या पसंद करते हैं?

उत्तर—इस प्रश्न पर मेरी राय कोई विशेष अर्थ नहीं रखती। मैं चाहता हूँ कि व्यक्तित्व में अनुशासन हो और समर्पित भाव से अपनी भूमिकाएँ करने की क्षमता हो, साथ ही उन्हें उत्साह से जीवन-यापन की कला भी आती हो।

प्रश्न—किन बातों पर हँसी आती है और किन बातों पर रोना?

उत्तर—रोने के कारणों को तो गिना ही चुका हूँ। अहं प्रेरित वाचालता पर ज़रूर मुझे हँसी आती है। हम दूसरों को ठगते-ठगते स्वयं को कितना ठग लेते हैं। निरन्तर एक पोज़ बनाकर जीना कितना मुश्किल होता होगा; पर हमारे कुछ बौद्धिक जिस कृत्रिम-भंगिमा में जीते हैं, वह उन्हें हास्यास्पद बना देती है।

प्रश्न—प्रेम पर आपको क्या कहना है?

उत्तर—प्रेम शब्द का प्रयोग इतने अलग-अलग अर्थों में हुआ है कि उसके बारे में कहना कठिन है। अंग्रेज़ी का उदाहरण लें—'मेक लव' का अर्थ हो गया है—'सम्भोग'। सद्भावना और परस्पर सहयोग सम्बन्धों का आधार होते हैं, मेरे विचार से यही प्रेम की न्यूनतम व्याख्या है।

प्रश्न—कैसी स्थितियाँ नापसंद करते हैं?

उत्तर—छल, कपट और दुराव की स्थितियाँ मुझे विचलित करती हैं, परन्तु हमारी मजबूरी है कि हम इनसे भी समझौता करें।

प्रश्न—कैसा समाज चाहते हैं?

उत्तर—समाकलित और अनुशासित समाज, जिसमें व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के जीवन में और समुदाय दूसरे समुदाय के जीवन में ग़ैर-ज़रूरी हस्तक्षेप न करें।

प्रश्न—किन बातों से सबसे अधिक डरते हैं?

उत्तर—बेकार के विवादों से मैं बचना चाहता हूँ। इन्हीं से मुझे सबसे ज़्यादा डर लगता है।

प्रश्न—कैसी मृत्यु चाहते हैं?

उत्तर—चाहने और पाने में बहुत अन्तर है। लम्बी बीमारी में घिसट-घिसटकर मौत के पास पहुँचने से यदि बच सकूँ तो अच्छा होगा। संसार को अलविदा कहते समय मन में यदि यह संतोष हो कि मैंने अपने हितों के लिए छल-कपट का प्रयोग नहीं किया, तो वह आदर्श स्थिति रहेगी।

(मई, 1995; स्वतंत्र भारत से साभार)

परिशिष्ट : 1

लेखक परिचय

आनंद कुमार : राजनीतिक समाजशास्त्र में शिकागो विश्वविद्यालय से पी-एच. डी; हिंदी के सक्रिय समर्थक; समाजवादी धारा से जुड़े हुए। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के सह-प्राध्यापक। लेख तथा पुस्तकें प्रकाशित।

कृष्णनाथ : काशी विद्यापीठ में अर्थशास्त्र के पूर्व प्रोफ़ेसर, बौद्ध धर्म के विशेषज्ञ, संप्रति कृष्णमूर्ति निधि से जुड़े हुए, लोहियाजी के साथ कार्य, अंग्रेजी हटाओ आंदोलन में सक्रिय रहे। पृथ्वी परिक्रमा एवं अन्य यात्रा वृत्तांत प्रकाशित।

कैलाशनाथ शर्मा : वरिष्ठ समाजशास्त्री, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टैक्नालॉजी, कानपुर में पूर्व प्रोफ़ेसर। त्रिनिदाद में अतिथि प्राध्यापक, साधन स्रोत समूहों की परिकल्पना के प्रवर्तक, संस्कृत ग्रंथों के अध्येता।

गणेश मंत्री : प्रख्यात पत्रकार, समाजवादी चिंतक एवं 'धर्मयुग' के पूर्व-संपादक।

गिरीश्वर मिश्र : इलाहाबाद, गोरखपुर व भोपाल में अध्यापन के बाद दिल्ली विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष; वंचन तथा गरीबी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, संस्कृति और मनोविज्ञान के पारस्परिक संबंधों के विश्लेषण में विशेष रुचि, अनेक पुस्तकें तथा निबंध राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रकाशित।

दयाकृष्ण : वरिष्ठ दर्शनशास्त्री, राजस्थान विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के पूर्व अध्यक्ष; संप्रति, भारतीय दर्शन शास्त्रीय अनुसंधान परिषद् के राष्ट्रीय फेलो। देशज चिंतन तथा भारतीय बौद्धिक परंपराओं के अध्ययन में सक्रिय नेतृत्व।

नामवर सिंह : वामपंथी आंदोलन से संलग्न, अतीत में 'जनयुग' के संपादक कार्य से संलग्न, भारत विख्यात मार्क्सवादी आलोचक एवं विमर्शकार, साहित्य अकादमी, शलाका एवं अन्य कई सम्मानों से विभूषित; संप्रति, प्रोफ़ेसर एमेरिट्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली।

निर्मला जैन : प्रख्यात आलोचक, पूर्व-अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

नंद चतुर्वेदी : भारतीय विद्याभवन रूरल इंस्टीट्यूट, उदयपुर में हिंदी के प्रोफ़ेसर। हिंदी, अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं का उत्तम ज्ञान, कवि तथा लेखक, 'बिंदु' के संपादक।

नंदूराम : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफ़ेसर। अनेक प्रकाशित कृतियाँ; अंबेडकर के कार्यों तथा विचारों का अध्ययन प्रकाशित।

प्रभाष जोशी : विविध राष्ट्रीय सम्मानों से सम्मानित, 'जनसत्ता' के यशस्वी पूर्व-मुख्य-संपादक और संप्रति, जनसत्ता के संपादकीय सलाहकार।

पूरनचंद्र जोशी : वरिष्ठ समाजशास्त्री, आर्थिक विकास संस्थान में पूर्व-प्रोफ़ेसर एवं पूर्व-निदेशक। भारतीय समाजशास्त्र परिषद् के पूर्व-अध्यक्ष, भूमि सुधार एवं मार्क्स, गांधी व नेहरू पर विशेष शोध, संचार और संप्रेषण की नीति निर्धारण समिति के पूर्व अध्यक्ष। अनेक पुस्तकें प्रकाशित। समाजशास्त्र पर हिंदी में प्रकाशन।

प्रेमशंकर : पूर्व-प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर; साहित्य एवं समाजशास्त्र विषय पर गहन अध्ययन, भक्तिकाल के समाजशास्त्र के लिए सम्मानित, विदेशों में अतिथि अध्ययन एवं कई पुस्तकों के लेखक।

फ्रेंसीन कृष्णा : राजस्थान विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी की सह-प्राध्यापिका; संप्रति, अवकाश प्राप्त।

ब्रजराज चौहान : वरिष्ठ समाजशास्त्री, मेरठ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के पूर्व प्रोफ़ेसर। भारतीय समाजशास्त्र परिषद् के अध्यक्ष; समाजशास्त्र के अनेक पहलुओं के विशेषज्ञ।

ब्रह्मदेव शर्मा : गणित में पी-एच. डी.; भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व-सदस्य, बस्तर में कलेक्टर की हैसियत से किये काम के लिए मशहूर, आदिवासी विकास के कमिश्नर, नेहू में उपकुलपति; संप्रति कुछ वर्षों से आदिवासियों के साथ संघर्षरत, 'नर्मदा बचाओ' के अग्रणी कार्यकर्ता।

बिशन टंडन : भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व-सदस्य, पूर्व में भारतीय ज्ञानपीठ और संप्रति के. के. बिड़ला फाउंडेशन के निदेशक, दुबे जी के अनन्य मित्र।

बैद्यनाथ सरस्वती : विश्वभारती तथा नेहू में मानव विज्ञान के पूर्व-प्रोफ़ेसर; संप्रति, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कलाकेंद्र से संलग्न; भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर अनुसंधान कार्य तथा लेखन।

मृणाल पाण्डे : हिंदी की प्रख्यात कथा लेखिका, पत्रकार एवं मीडिया-व्यक्तित्व, 'स्टार प्लस' की समाचार वाचिका।

मुहम्मद तालिब : ज़ामिया मिल्लिया इस्लामिया में समाजशास्त्र विभाग में सह-प्राध्यापक, धर्म का समाजशास्त्र विशेषकर इस्लाम एवं वर्ग निर्धारण, शिक्षा, समभागी अनुसंधान में विशेष रुचि तथा अनुसंधान। ऊँचे स्तर का प्रकाशन।

मैनेजर पाण्डेय : प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक, कई आलोचना पुस्तकों के लेखक; संप्रति, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग में प्रोफ़ेसर तथा भारतीय भाषा केंद्र के अध्यक्ष।

योगेश अटल : अनेक विश्वविद्यालयों में अध्यापन, भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद् के पूर्व-निदेशक। 1974 से यूनेस्को में कार्यरत, संप्रति, यूनेस्को पेरिस में सामाजिक विज्ञानों

और मानवीय शास्त्रों के खंड के निदेशक। कवि एवं जीवनीकार स्तरीय पुस्तकें प्रकाशित।

रमानाथ मिश्र : सागर विश्वविद्यालय में पूर्व सह-प्राध्यापक, शिमला के उच्च अध्ययन संस्थान में फेलो रहे, संप्रति ग्वालियर विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व व प्रागैतिहास विभाग में प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, कला के इतिहास के विशेषज्ञ, अनेक लेख तथा पुस्तकें प्रकाशित।

राजकिशोर : प्रख्यात पत्रकार, लेखक, 'आज के प्रश्न' पुस्तक शृंखला के संपादक।

लीला दुबे : सागर विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान का अध्यापन, इंस्टीट्यूट ऑफ रूरल मैनेजमेंट, आणंद एवं मैसूर विश्वविद्यालय में पूर्व-प्रोफ़ेसर, भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद् में पूर्व-निदेशिका, पूर्व-सीनियर फेलो एवं पूर्व-राष्ट्रीय फेलो, नेहरू स्मारक पुस्तकालय में पूर्व-सीनियर फेलो, अंतर्राष्ट्रीय मानव विज्ञान परिषद् में स्त्रियों के आयोग की पूर्व-अध्यक्षा; आदिवासी, ग्रामीण तथा लक्षद्वीप के समुदायों पर अनुसंधान, नातेदारी, परिवार एवं स्त्री-पुरुष संबंधों पर लेखन।

सच्चिदानंद : रांची विश्वविद्यालय के मानव-विज्ञान विभाग के संस्थापक, रांची के आदिवासी अनुसंधान संस्थान के पूर्व-निदेशक, अनुग्रह नारायण सिन्हा संस्थान के पूर्व-प्रोफ़ेसर व पूर्व-निदेशक, रांची विश्वविद्यालय के पूर्व-कुलपति। भूमि सुधार, आदिवासी विशिष्ट वर्ग एवं बिहार के आदिवासी समूहों पर अनुसंधान, अनेक पुस्तकें प्रकाशित।

सावित्री दूबे : लेखिका, हिंदी साहित्य में गहरी रुचि। 'नून-तेल-लकड़ी' नामक कविता संग्रह प्रकाशित।

सुधीश पचौरी : मार्क्सवादी समीक्षक, मीडिया विशेषज्ञ एवं स्तंभकार; संप्रति, हिंदी विभाग, ज़ाकिर हुसैन पोस्ट-ग्रेजूएट कॉलेज (सां), नई दिल्ली में हिंदी विभाग में रीडर।

सुमति मुटाटकर : प्रख्यात गायिका एवं संगीतशास्त्री, आकाशवाणी में हिंदुस्तानी संगीत की पूर्व-उपनिदेशिका, संगीत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदुस्तानी संगीत की पूर्व-प्रोफ़ेसर तथा पूर्व-संकायाध्यक्षा। संगीत नाटक अकादमी की फेलो एवं अनेक सम्मानों से सम्मानित।

सुरेशचंद्र शुक्ल : वामपंथी राजनीति से संलग्न, शिक्षा के इतिहास व समाजशास्त्र का अध्ययन, अध्यापन। ज़ामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली और केंद्रीय शिक्षा संस्थान (दिल्ली विश्वविद्यालय) में पूर्व-प्रोफ़ेसर।

सौमेंद्र मोहन पटनायक : उड़ीसा की 'परजा' जनजाति के विस्थापन पर पी-एच. डी.; दिल्ली विश्वविद्यालय में सामाजिक मानव-विज्ञान के प्राध्यापक।

शोभिता जैन : इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की प्रोफ़ेसर एवं विभागाध्यक्षा, जैन धर्म, आसाम के चाय बागानों में और चिपको आंदोलन में स्त्रियों की भूमिका पर अनुसंधान तथा लेखन, हिंदी में 'भारत में परिवार, विवाह और नातेदारी' प्रकाशित।

परिशिष्ट : 2

प्रोफ़ेसर श्यामाचरण दुबे की संदर्भित पुस्तकें

1. **The Kamar,** Lucknow : Universal Publishers, 1951
2. **Indian Village,** London : Routledge and Kegan Paul, 1955; Ithaca : Cornell University Press; New York : Harper and Row; New Delhi; Allied Publishers
3. **India's Changing Villages,** London : Routledge and kegan Paul, 1958; Ithace; Cornell University Press; New Delhi : Allied Publishers
4. **On Crisis and Commitment in Social Sciences,** ed. Yogesh Atal, New Delhi : Abhinav Publications, 1983
5. **Modernization and Development : The Search for Alternative Paradigms,** London : Zed Books and United Nations University, 1988; New Delhi : Vistear
6. **Tradition and Development,** New Delhi : Vikas Publishing House, 1990
7. **Indian Society,** New Delhi : National Book Trust, 1990, 1992, 1994, 1996
8. *मानव और संस्कृति, नयी दिल्ली :* राजकमल प्रकाशन, 1960, 1982, 1993
9. *परंपरा इतिहास-बोध और संस्कृति,* नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1991, 1992, 1993
10. *शिक्षा समाज और भविष्य,* नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1994
11. *संक्रमण की पीड़ा,* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994
12. *भारतीय ग्राम* (उद्धरित संस्करण, अनुवादक : योगेश अटल), नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1996
13. *विकास का समाजशास्त्र,* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1996
14. *समय और संस्कृति,* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1996

- संक्षिप्त परिचय मूर्तिदेवी पुरस्कार समारोह के अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित पुस्तिका पर आधारित है।

पुनश्च :

- इलाहाबाद में (पृष्ठ-183-185) समाजशास्त्र परिषद् के सभापति पद से भाषण हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सैंतालीसवें अधिवेशन (1994) के अंतर्गत दिया गया था।
- 'सांस्कृतिक बहुलतावाद' आलेख (पृष्ठ-186-193) मूलतः अंग्रेजी से अनूदित किया गया है।

प्रो. श्यामाचरण दुबे का अंतिम चित्र
मुंबई विश्वविद्यालय, 29 दिसम्बर, 1995

शुद्धि पत्र

कृपया निम्न पृष्ठों के निम्न शब्दों को इस रूप में पढ़ें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
8	अंतिम	श्यामचरण	श्यामाचरण
29	ग्यारह	पूजामपेक्षने	पूजामपेक्षते
29	चौदह	प्रियवादचि	प्रियवादी च
30	इक्कीस	प्रशोत्तरी	प्रश्नोत्तरी
109	पहली	बुद्धिजावी	बुद्धिजीवी
112	शीर्षक	समान-धर्मा	समानधर्मा
253	पच्चीस	ज़ामिया	जामिया
254	पच्चीस	ज़ामिया	जामिया